चार वैष्णव आचार्य

(तत्त्व-सिद्धान्त और शिक्षा समन्वित जीवन-चरित्र)

एवं

गौड़ीय-दर्शन

श्रीश्रीगुरु–गौराङ्गौ जयतः

चार वैष्णव आचार्य

(तत्त्व–सिद्धान्त और शिक्षा समन्वित जीवन–चरित्र)

एवं

गौड़ीय–दर्शन

श्रीगौड़ीय वेदान्त समिति एवं तदन्तर्गत भारतव्यापी श्रीगौड़ीय मठोंके
प्रतिष्ठाता, श्रीकृष्णचैतन्याम्नाय दशमाधस्तनवर
श्रीगौड़ीयाचार्य केशरी नित्यलीलाप्रविष्ट
ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशत श्री

श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजके
अनुगृहीत

त्रिदण्डिस्वामी
श्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण गोस्वामी महाराज
द्वारा अनुवादित एवं सम्पादित

गौड़ीय वेदान्त बुक ट्रस्ट

प्रकाशक — श्रीभक्तिवेदान्त तीर्थ महाराज

प्रथम संस्करण — ३,००० प्रतियाँ
श्रीश्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजकी
तिरोभाव तिथि
श्रीचैतन्याब्द ५२३
४ अक्टूबर, २००९ ई॰

प्राप्तिस्थान

श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ
मथुरा (उ॰प्र॰)
०५६५-२५०२३३४

श्रीरूप-सनातन गौड़ीय मठ
दानगली, वृन्दावन (उ॰प्र॰)
०५६५-२४४३२७०

श्रीरमणबिहारी गौड़ीय मठ
बी-३, जनकपुरी, नई दिल्ली
०११-२५५३३५६८

श्रीगिरिधारी गौड़ीय मठ
राधाकुण्ड रोड, गोवर्धन (उ॰प्र॰)
०५६५-२८१५६६८

जयश्री दामोदर गौड़ीय मठ
चक्रतीर्थ रोड, जगन्नाथपुरी,
उड़ीसा
०६७५२-२२७३१७

खण्डेलवाल एण्ड सन्स
अठखम्भा बाजार,
वृन्दावन (उ॰प्र॰)
०५६५-२४४३१०१

श्रीश्रीकेशवजी गौड़ीय मठ
कोलेरडाङ्गा लेन
नवद्वीप, नदीया (प॰ बं॰)
०९३३३२२२७७५

समर्पण

चार वैष्णव आचार्योंके मत, विशेषतः श्रीमन् महाप्रभुके द्वारा प्रकाशित अचिन्त्यभेदाभेद-सिद्धान्तके आधारपर श्रीशङ्कर-मतको वेदान्त-दर्शनके सम्पूर्ण विरुद्ध स्थापित करके शुद्धभक्तिमार्गको निष्कण्टक कर अपने गुरुदेव—श्रील प्रभुपादके आनन्दवर्द्धनमें सतत प्रयत्नशील, दार्शनिक-तत्त्ववेत्ता अस्मदीय श्रीगुरुपादपद्म नित्यलीला प्रविष्ट ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजकी प्रेरणासे यह ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है।

श्रीगुरुपादपद्मकी अपनी ही वस्तु उन्हींके श्रीकरकमलोंमें समर्पित है।

विषय-सूची

साङ्केतिक चिह्नोंकी सूची

अ॰—अध्याय
अनु॰—अनुच्छेद
आ॰—आदिलीला
ईश॰—ईशोपनिषद
कठ॰ उ॰—कठोपनिषद
के॰ उ॰—केनोपनिषद
गीता—भगवद्गीता
गी॰ ता॰ नि॰—गीता-तात्पर्य-निर्णयः
गी॰ भा॰—गीता-भाष्यम्
चै॰ च॰—चैतन्यचरितामृत
चै॰ भा॰—चैतन्यभागवत
छ॰ उ॰—छान्दोग्य उपनिषद
तै॰ ब्र॰—तैत्तिरीय ब्रह्मानन्दवल्ली
बृ॰ उ॰—बृहदारण्यक उपनिषद
ब्र॰ सू॰—ब्रह्मसूत्र
भा॰ ता॰ नि॰—भागवत-तात्पर्य-निर्णयः
म॰—मध्यलीला, मध्यखण्ड
म॰ ता॰ नि॰—महाभारत-तात्पर्य-निर्णयः
मा॰ उ॰—माण्डूक उपनिषद
मुण्ड॰ उ॰—मुण्डक उपनिषद
श्रीमद्भा॰—श्रीमद्भागवत
श्वे॰ उ॰—श्वेताश्वतर उपनिषद

प्रस्तावना

परमाराध्यतम श्रीगुरुपादपद्म नित्यलीला प्रविष्ट ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजजीकी अहैतुकी कृपा और प्रेरणासे आज 'चार वैष्णव आचार्य (तत्त्व-सिद्धान्त और शिक्षा समन्वित जीवन-चरित्र) एवं गौड़ीय-दर्शन' नामक ग्रन्थको राष्ट्रभाषा हिन्दीमें प्रकाशित करके हम अपनेको धन्यातिधन्य अनुभव कर रहे हैं। यद्यपि सात्वत-वैष्णव-सम्प्रदायोंके आचार्योंके जीवन-चरित्र और उनके सिद्धान्त आदिसे कुछ लोग अवश्य ही अवगत हैं, तथापि ठीक-ठीक रूपमें बहुत कम लोग ही इस विषयसे सुपरिचित हैं। वर्त्तमानमें राष्ट्रभाषामें ऐसा कोई भी संस्करण उपलब्ध नहीं है, जिसमें चारों वैष्णव आचार्योंके सिद्धान्तोंके साथ-साथ श्रीमन् महाप्रभुके द्वारा प्रकाशित सर्ववाद-समन्वयकारी अचिन्त्यभेदाभेद-सिद्धान्तका विचार एवं गौड़ीय-वैष्णव-दर्शनकी सम्पद एकत्रित रूपमें उपलब्ध हो। अतः आशा है कि यह ग्रन्थ वैष्णव-दर्शनके क्षेत्रमें दिग्दर्शन कराकर बहुत-से अभावोंको पूर्ण करेगा।

श्रील गुरुपादपद्मकी एकान्तिक गुरुनिष्ठा, सुदृढ़ सत्सम्प्रदाय आनुगत्य, समस्त भक्तिसिद्धान्तोंमें विशेष पारदर्शितारूपी अप्राकृत गुणोंसे अनुप्रेरित होकर ही 'चार वैष्णव आचार्य एवं गौड़ीय-दर्शन' नामक यह ग्रन्थ सत्सम्प्रदायकी सेवाके उद्देश्यसे वैष्णव गुरुवर्गकी वाणीका संरक्षण करते हुए गुरुपादपद्मके पदानुसरण करनेका एक नगण्य प्रयासमात्र है। वैष्णव आचार्योंके भक्तिमय जीवन-चरित्र एवं सत्-सिद्धान्तोंसे सम्बन्धित कथाओंके वितरण और अनुशीलनके द्वारा ही जगत्-वासियोंको मायावादकी निरर्थकताका परिचय दिया जा सकता है।

श्रील गुरुपादपद्मने स्वलिखित 'मायावादकी जीवनी' नामक ग्रन्थकी भूमिकामें लिखा है—"मुझे हरिकथा श्रवणकी प्रथम भूमिकामें ही मायावादके विरुद्ध बहुत-सी कथाएँ सुननेका सुयोग मिला। श्रील प्रभुपाद[१] बहुत बार कहते थे कि 'जब तक पृथ्वीपर शङ्कर-दर्शन प्रचलित रहेगा, तब तक शुद्धाभक्तिके मार्गमें बाधाएँ उत्पन्न होती रहेंगी।' अतएव शङ्करके अद्वैतवाद या मायावादको जड़ सहित उखाड़ फैंकना होगा। इसे श्रील प्रभुपादने अपने पत्र, प्रबन्ध-निबन्ध, 'अनुभाष्य', 'विवृत्ति' आदि लेखनीमें भी प्रस्फुटित करके प्रकाशित किया है। श्रील प्रभुपादकी यह शिक्षा मेरे हृदयमें विशेष दृढ़ता सहित बद्धमूल हुई है। इसलिए मैंने मायावादके विरुद्ध अनेक भाषण तथा वक्तृताएँ प्रदान की है।"

मायावादरूपी कुचिन्ताकी धारामें पड़कर जीव अपने शाश्वत कल्याणसे वञ्चित हुआ है। भोगवाद और मायावादसे कवलित जीवोंकी अवस्था दिन-प्रतिदिन जिस प्रकारसे निम्नगामी हुई है, परदुःख-दुःखी स्वभावसे युक्त वैष्णव आचार्य जीवोंकी दुर्दशाका पहलेसे ही दर्शनकर व्यक्तिगत कष्ट-विपत्ति, यहाँ तक कि अपने प्राणों तककी चिन्ता न कर जीवोंकी वैसी दशाका गतिरोध करनेके लिए सतत प्रयत्नशील रहे हैं। वैष्णव आचार्योंके अप्राकृत जीवन-चरित्र एवं अवदान-वैशिष्ट्यसे अपरिचित रहकर जीव कभी भी उनके प्रति कृतज्ञता अनुभव नहीं कर सकता। ऐसी कृतज्ञताके अभावमें न तो उनकी कृपाको हृदयङ्गम किया जा सकता है और न ही कदापि उनके अप्राकृत सङ्गको प्राप्त किया जा सकता है।

यद्यपि अनर्थयुक्त जीव भगवान् एवं भगवद्भक्त—वैष्णवोंकी अप्राकृत महिमाको स्पर्श करनेमें भी समर्थ नहीं है, तथापि साधक जीवोंको परम-सौभाग्य प्रदान करनेके लिए ही भगवत्-प्रेरित कोई

[१] नित्यलीला प्रविष्ट जगद्गुरु परमहंस ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी 'प्रभुपाद' श्रीब्रह्म-माध्व-गौड़ीय-सम्प्रदायमें श्रीचैतन्यमहाप्रभुके बाद नवम अधस्तन आचार्य तथा विश्व-व्यापी गौड़ीय मठोंके प्रतिष्ठाता थे।

परदुःखदुःखी महाजन पूर्व-पूर्व आचार्योंके अप्राकृत जीवन-चरित्रोंका पुनः-पुनः गान करते हैं, जिसे सुनकर सौभाग्यशाली जीव उन वैष्णवोंके श्रीचरणकमलोंके प्रति आकर्षित होता है। इस प्रकार वैष्णव आचार्योंके द्वारा आचरित एवं प्रचारित विषयोंको हृदयङ्गम करके उनकी शिक्षानुसार जीवन-यापन करते हुए जीव उनकी अहैतुकी कृपासे अप्राकृत राज्यकी अनुभूति प्राप्त करता है तथा अपने सुदुर्लभ मनुष्य जीवनको सफल बनाता है।

श्रील भक्तिविनोद ठाकुरने अपनी 'सज्जन-तोषणी' नामक पत्रिकामें चार सात्वत-वैष्णव-सम्प्रदायोंके सम्बन्धमें प्रबन्धके आकारमें कुछ प्रकाश किया था। तत्पश्चात् 'प्रभुपाद' श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी ठाकुरने भी अपने बँगला भाषाके साप्ताहिक पत्र 'गौड़ीय' में वर्ष १९२१ की द्वितीय संख्यासे वर्ष १९२८ की तैंतीसवीं संख्या तक प्रबन्धके आकारमें इस ग्रन्थकी विषय-वस्तुको प्रकाशित किया था। तत्पश्चात् आकर मठराज श्रीचैतन्य मठ, मायापुर और उसके अधीनस्थ गौड़ीय मठोंके वर्त्तमान आचार्य प्रपूज्यचरण श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान यति महाराजने अपने शिष्योंके द्वारा उन बँगला भाषाके धारावाहिक प्रबन्धोंको ग्रन्थके रूपमें सङ्कलित करवाकर वर्ष २००६ में उसे 'चार आचार्योंकी जीवनी' के नामसे प्रकाशित किया है।

पिछले वर्ष २००८ ई॰ में मैं श्रीधाम नवद्वीप-परिक्रमाके समय श्रीचैतन्यलीलाके व्यास श्रील वृन्दावनदास ठाकुरकी आविर्भाव-स्थली मामगाछी स्थित गौड़ीय मठमें गया था। वहीं सर्वप्रथम इस बँगला भाषामें प्रकाशित ग्रन्थको देख करके मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। मैंने श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान यति महाराजसे उक्त ग्रन्थको राष्ट्रभाषा हिन्दीमें अनुवादकर प्रकाशित करनेकी अनुमति माँगी, जिसे उन्होंने सहर्ष स्वीकार कर लिया। इसके लिए हमलोग उनके आभारी हैं।

उक्त ग्रन्थके अनुवादके साथ-साथ इस प्रस्तुत ग्रन्थमें श्रील भक्तिविनोद ठाकुर एवं श्रील प्रभुपादके प्रबन्ध और वक्तृताओंके

आधारपर उनके आश्रितजनोंके द्वारा लिखे गये प्रबन्धोंको केन्द्र करके अचिन्त्यभेदाभेद-सिद्धान्त तथा कुछेक तत्त्व-विषयोंपर विभिन्न आचार्योंके मत या सिद्धान्तोंका भी संक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत किया गया है। अन्तमें परमाराध्य परमगुरुदेव नित्यलीला प्रविष्ट ॐ विष्णुपाद परमहंस अष्टोत्तरशतश्री श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी 'प्रभुपाद' द्वारा 'गौड़ीय-दर्शन' के सम्बन्धमें प्रदत्त सिद्धान्त-समन्वित अपूर्व वक्तृताका अनुवाद दिया गया है। प्रस्तुत 'गौड़ीय-दर्शन' की विषय वस्तु सर्वप्रथम बँगला भाषामें ही साप्ताहिक 'गौड़ीय' के वर्ष—१, ८, ११ और १२ की कुछेक संख्याओंमें धारावाहिक रूपमें प्रकाशित हुई थी। अपनी इस वक्तृतामें श्रील प्रभुपादने श्रीचैतन्य महाप्रभु एवं उनके अनुगत गौड़ीय-वैष्णव आचार्योंकी विचार-धाराको गागरमें सागरकी भाँति भरकर संरक्षित किया है।

यद्यपि वक्तृताके प्रारम्भमें श्रील प्रभुपादके द्वारा 'स्फोट' के विषयमें किया गया मन्थन थोड़ा कठिन जान पड़ता है, किन्तु जैसे-जैसे उनकी वक्तृता आगे बढ़ती है, ऐसा प्रतीत होता है कि मानो कोई अपनी अगाध भजन-अनुभवरूपी सम्पत्तिको निसंकोच वितरण कर रहा हो।

मुझे दृढ़ विश्वास है कि 'गौड़ीय-दर्शन' को पढ़कर सभी निरपेक्ष साधकभक्त श्रीब्रह्म-मध्व-गौड़ीय-सम्प्रदायके वैभवसे परिचित होकर उससे आकर्षित हुए बिना नहीं रह पायेंगे तथा गौड़ीय-भक्तजन भी अपने सम्प्रदायके सम्पदसे अवगत होकर गौरवान्वित अनुभव करेंगे।

मैंने स्वयं इस ग्रन्थको dictaphone के माध्यमसे हिन्दी भाषामें अनुवाद किया है। श्रीमान् अच्युतानन्द ब्रह्मचारी और श्रीमान् सुरेन्द्र-गौराङ्ग ब्रह्मचारीने उसे transcribe करके टाइप किया है; श्रीमान् भक्तिवेदान्त माधव महाराज, श्रीमान् विजयकृष्ण ब्रह्मचारी तथा श्रीमान् गोकुलचन्द्र दासाधिकारीने प्रूफ-संशोधन, बेटी शान्ति दासीने ले-आउट, श्रीमान् विकास ठाकुर दासाधिकारीने मुखपृष्ठका

डिजाइन तथा श्रीमान् संजय दास ब्रह्मचारीने प्रकाशन सम्बन्धीय सेवाओंमें योगदान किया है। इन सबकी सेवा-प्रचेष्टा अत्यन्त सराहनीय है। गौड़ीय-नाथ श्रीगौरसुन्दर इनपर प्रचुर कृपा करें—यही उनके श्रीचरणकमलोंमें प्रार्थना है।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि इस ग्रन्थके द्वारा श्रील गुरुदेव, श्रील प्रभुपाद एवं समस्त गौड़ीय गुरुवर्गका प्रीतिविधान होगा। मैं आशा करता हूँ कि हिन्दी भाषाके अतिरिक्त भारतकी अन्यान्य भाषाओं तथा अँग्रेजी, स्पॉनिश, रशियन, चाइनीज आदि विश्वकी प्रधान-प्रधान समस्त भाषाओंमें इस ग्रन्थके संस्करण प्रकाशित और प्रचारित होंगे।

भ्रम-प्रमादवशतः इस ग्रन्थमें कोई भूल-त्रुटि रहना अस्वाभाविक नहीं है। श्रद्धालु पाठकगण ग्रन्थका सार ग्रहणकर बाधित करेंगे।

श्रील जीव गोस्वामीजीकी
शुभ आविर्भाव तिथि
१ सितम्बर, २००९ ई०
५२३ श्रीचैतन्याब्द

श्रीहरि-गुरु-वैष्णव कृपालेश प्रार्थी
दीन-हीन
त्रिदण्डिभिक्षु
श्रीभक्तिवेदान्त नारायण

वैष्णव आचार्योंके अवदानका वैशिष्ट्य

बहुत-से लोगोंकी ऐसी धारणा है कि भक्तिमार्ग कोमल पुष्पोंके बिस्तरसे ढका हुआ है तथा उनका यह भी मानना है कि अन्ध-विश्वास, उच्छृंखलता, स्वेच्छाचारिता, विचारोंसे रहित होना, भावप्रवणता (भावुकता) और मनका उच्छ्वास—ये सभी भक्तिके अन्तर्गत आते हैं। किन्तु शास्त्र और आचार्योंके वचनोंसे यह जाना जाता है कि भक्तिका मार्ग जीवोंके लिए परम प्रयोजन प्राप्त करनेका एकमात्र राजकीय मार्ग होनेपर भी वह काँटोंके द्वारा अवरुद्ध है। विशेषकर कलिकाल अथवा तर्क-विवादके युगमें यह भक्तिमार्ग करोड़ो-करोड़ो काँटोंके द्वारा रुद्ध है।

भक्तिमार्गके पथिक निर्विघ्न और निर्भय होकर श्रीकृष्ण चरणरूपी कल्पतरुके निकट पहुँचकर प्रेमामृत-फलका आस्वादन कर सकें, इसके लिए अहैतुकी कृपाके समुद्र, भगवत्-प्रेरित आचार्यगण भक्तिमार्गमें प्रवेश करनेके इच्छुक व्यक्तियोंको इस भक्तिमार्गमें उपस्थित करोड़ो-करोड़ो विघ्नोंके विषयमें बतलाकर उन्हें पहलेसे ही सतर्क कर दिया करते हैं। आचार्योंकी इस प्रकारकी स्वभाव-सुलभ अहैतुकी वृत्ति जीवोंके प्रति अमन्दोदय-दया[१] का उदाहरण है।

काँटोंको उखाड़ते समय हाथ क्षत-विक्षत (घायल) हो सकते हैं तथा काँटोंके वनमें रहनेवाले सर्प आदि क्रूर-स्वभावके हिंसक जन्तु काट भी सकते हैं। किन्तु इसे जाननेपर भी जिस प्रकारसे काँटोंको उखाड़नेवाले व्यक्ति तनिक भी निरुत्साहित नहीं होते, अपितु जिससे काँटे और हिंसक जन्तु वनमें पथिकोंका किसी

---

[१] जिस दयासे किसी भी प्रकारकी कुण्ठा अर्थात् अवान्तर या तुच्छ फलकी प्राप्ति न होकर जीवके हृदयमें केवलमात्र निःश्रेयस अर्थात् शुद्धभक्ति ही उदित होती है, उसे अमन्दोदय-दया कहते हैं।

प्रकारका अमङ्गल न कर सके, उस कार्यको करनेमें ही उनकी विशेष प्रचेष्टा और उत्तरोत्तर उत्साह देखा जाता है, उसी प्रकारसे वैष्णव आचार्योंके चरित्रमें भी भक्तिमार्गके करोड़ो-करोड़ो काँटोंको उखाड़नेके लिए उत्तरोत्तर अधिकतर उत्साह ही दृष्टिगोचर होता है।

जो लोग—स्वार्थपर, अपने ही सुखके अभिलाषी, जाड्यग्रस्त (आलसी) अथवा अधार्मिक लोगोंसे भयभीत रहते हैं, वे बहिर्मुख लोगोंकी विरोधपूर्ण चीत्कारसे अपने (सत्) कार्यको छोड़ देते हैं अथवा वे यह सोचते हैं कि जब मुझे स्वार्थ, प्रतिष्ठा और स्वसुख ही चाहिये तब दूसरोंका उपकार करने जाकर नाना प्रकारके झगड़े मोल लेनेकी क्या आवश्यकता है? बहिर्मुख लोगोंकी गाली-गालोज सुननेकी ही क्या आवश्यकता है? और एक श्रेणीके मनुष्य यह समझते हैं कि निर्जन-भजनानन्दी हो जानेपर इस प्रकारके समस्त झगड़े-झँझट नहीं हैं तथा इससे लोगोंका अच्छा-बुरा कुछ भी सुनना नहीं पड़ता या उनके झमेलेमें नहीं पड़ना पड़ता। किन्तु परदुःख-दुःखी वैष्णव आचार्यगण इस प्रकारके स्वार्थपर, अपने सुखके अभिलाषी या जाड्यग्रस्त (आलस्यपरायण) नहीं हैं तथा वे लोगोंसे भयभीत होनेवाले भी नहीं हैं। वे कहते हैं—यदि हजारों-हजारों लोग यहाँ तक कि अनन्त-कोटि ब्रह्माण्ड़ोंके समस्त बहिर्मुख जीव एकत्र होकर एक स्वरसे कठोर भाषा या गाली-गलोज आदि भी मुझपर वर्षित करें, मैं उन सबको भी सहनकर वास्तव-सत्यकी बातको उनके समान ही उच्चस्वरसे घोषणा करूँगा। यदि ऐसी सत्य कथा अनन्त-कोटि ब्रह्माण्डोंमें सिरसे पैर तक कृष्ण-बहिर्मुखतामें डूबे हुए करोड़ो-करोड़ो जीवोंमेंसे किसी एक जीवके भी कानमें प्रविष्ट होकर उसके हृदयकी भगवत्-विमुखतारूप कालिमाको दूर कर दे, तभी मैं समझूँगा कि मैं श्रीमन् महाप्रभुकी मनोऽभीष्ट सेवा कर पाया हूँ। मैं यह भी जानता हूँ कि अनन्त-कोटि ब्रह्माण्डोंमें जितने भी जीव हैं, वे सभी कृष्ण-बहिर्मुखताके कारण ही इन दुःखमय

ब्रह्माण्डोंमें आवागमन कर रहे हैं। अतएव सभी ब्रह्माण्डोंके करोड़ो-करोड़ो जीव—छोटे-से-छोटे प्राणीसे लेकर ब्रह्मा तक श्रीकृष्ण-बहिर्मुख अर्थात् परमसत्यसे विमुख हैं। अतएव जगत्के सभी लोग सत्य बातको नहीं सुनेंगे, तथापि यदि करोड़ो जीवोंमेंसे सत्य बातको सुननेवाला कोई एक जीव भी मिल जाये, तो यही यथेष्ट है। पुनः वही जीव सत्यमें अधिष्ठित होकर दूसरोंको भी परम सत्यकी बात सुना सकता है। ऐसा लगता है कि इसीलिए ठाकुर श्रील भक्तिविनोदने (सज्जनतोषणी ४र्थ खण्ड ३१ पृ॰ में) लिखा है, "रुचिके क्रमसे जो सब भक्त साधुओंके धर्मका आचरण करते-करते भजनानन्दमें मग्न होकर प्रचार कार्यका अनादर करते हैं, उनकी तुलनामें प्रचार करनेवाले जगत्का अधिक उपकार किया करते हैं।"

जगत्में जिन-जिन लोगोंने सत्यका प्रचार किया है, उन सभी लोगोंको ही बहिर्मुख, अपस्वार्थमें अन्धे, मात्सर्यपरायण समाजकी सत्य-विरोधी-चेष्टाओंका सामना करना पड़ा है। (१) जो लोग सत्यके प्रचारसे डरकर एकमात्र अपने अपस्वार्थको ही पूर्ण करनेकी चेष्टा करते हैं, वे लोग भेड़चाल या अन्ध-अनुगमनकी भाँति समाजमें प्रचलित अन्ध-विश्वासरूपी अनुकरण धर्मको निष्कण्टक समझकर उसीका पक्ष लेते हैं, अथवा (२) जो लोग ब्रह्माण्डके अन्तर्गत ब्रह्मासे तृण तक, नखसे केश तक सभीको कृष्ण-बहिर्मुखतामें डूबा हुआ देखकर उनका नित्य-कल्याण करनेके विषयमें निराश होकर उनके प्रति उदासीनतावशतः अपने-अपने भजनानन्दमें मग्न हो रहे हैं, अथवा (३) और एक श्रेणीका अत्यन्त विचारहीन जड़ताग्रस्त आनुकरणिक-सम्प्रदाय—ढोङ्गी सम्प्रदाय है—जो अपनी या दूसरोंकी वञ्चनाके लिए केवलमात्र प्रतिष्ठाकामी और आराम-प्रिय होकर वास्तविक भजनानन्दियोंका अनुकरणमात्र करते हैं। इन तीन श्रेणीके लोगोंमेंसे प्रथम और तृतीय श्रेणीके लोग सम्पूर्णता कपटी, स्वसुखकामी और अधार्मिक लोगोंसे डरनेवाला है अर्थात् पारमार्थिक-जनोंके वेशमें कृष्ण-बहिर्मुख

लौकिक समाजके ही अन्तर्गत होनेके कारण वे बहिर्मुख लोक-प्रियताको ही अपना परम प्रयोजन और कृतार्थताका विषय समझते हैं। अतएव उस प्रकारकी सस्ती लोक-प्रियता चाहनेवाले व्यक्तियोंको किसी प्रकारसे भी लोगोंका उत्पीड़न सहन नहीं करना पड़ता। वे 'अन्तःशाक्तो बहिः शैवः सभायां वैष्णवो मत अर्थात् अन्दरसे शाक्त, बाहरमें शैव तथा सभामें वैष्णवोंके मतका अवलम्बन करनेवाले होकर' सदा-सर्वदा लोक-प्रियता और कनक-कामिनीको प्राप्त करनेमें ही व्यस्त रहते हैं। अतएव मादक द्रव्योंका सेवन करनेवाले समाजमें जिस प्रकार धूम्र-पानकी प्रशंसा देखी-सुनी जाती है, उसी प्रकार बहिर्मुख लोक-समाजमें या बहिर्मुख समाचार पत्रोंमें उपरोक्त दोनों श्रेणियों अर्थात् स्वसुख-प्रयासी, अनुकरण-धर्मावलम्बी, नाम-मन्त्र-भागवत-व्यवसायकारी इत्यादि तथा भजनानन्दी परमहंस वैष्णवोंका अनुकरण करनेवाले निष्किञ्चन-ब्रुवोंकी[१] ही प्रशंसा देखी और सुनी जाती है। और द्वितीय श्रेणीके दो-एक वास्तविक भजनानन्दी निष्किञ्चन वैष्णवों (जैसे कुलियाके गङ्गा तटपर भजन करनेवाले श्रीवंशीदास बाबाजी महाराज) के समस्त जागतिक क्रियाओंसे विरत होनेके कारण मत्सर व्यक्ति उन्हें अपने भोग्य-भागके अंशसे विच्युत, समाजसे दूर, असमर्थ और उन्हें अपनी चतुरताको समझनेमें अक्षम मानकर मानो कृपापूर्वक ही उनकी किसी प्रकारकी निन्दादि नहीं करते हैं। परन्तु आचार्यगण प्रथमोक्त प्रथम और तृतीय श्रेणियोंके लोगोंकी भाँति बहिर्मुख लोक-प्रियताकी अपेक्षा नहीं करते अथवा शेषोक्त द्वितीय श्रेणीके भजनानन्दी वैष्णवोंकी भाँति केवल अपने भजनमें ही निमग्न नहीं रहते, बल्कि स्वभजन-विभजन-प्रयोजनावतारी अर्थात् अपने भजन-विषयका विस्तार और वितरण कर शिक्षा देनेके लिए अवतरित श्रीगौरसुन्दरका अनुगमनकर जगत्-वासियोंके नित्य-कल्याणके लिए उनके समक्ष आचार और उनके साथ व्यवहार करते हैं, इसीलिए वे बहिर्मुख लोगोंकी स्वभाव-सुलभ

---

[१] ब्रुव—तथा कथित/यथार्थ योग्यतासे रहित नाममात्रके निष्किञ्चन।

मत्सरतामय दृष्टिमें पतित हुआ करते हैं। अतएव, सत्यका प्रचार करनेवाले व्यक्तिमात्र पर ही विष्णु-विमुख लोक-समाज द्वारा किया गया अत्याचार साधारण लोगोंकी दृष्टिमें देखा जाता है और उसका दृष्टान्त सुना जाता है। 'साधारण लोगोंके दृष्टिकोणसे' कहनेका कारण यह है कि जिस प्रकार रावण स्वरूपशक्ति सीताका स्पर्श तक नहीं कर पाया था किन्तु साधारण लोगोंकी दृष्टिमें उसने जिस सीताका हरण किया वह वास्तवमें माया-सीता थी उसी प्रकार प्रपञ्चातीत विष्णु-वैष्णवोंमें जागतिक लोगोंकी मत्सरता (अत्याचार) का स्पर्श तक भी सम्भवपर नहीं है।

प्रह्लादने विष्णु-भक्त होनेपर भी जितने दिनों तक सत्यका प्रचार आरम्भ नहीं किया, उतने दिनों तक वे दैत्यराज हिरण्यकशिपु और दैत्य-समाजके नयनोंके तारे, कण्ठके हार और हृदयकी निधिके रूपमें आदर, यत्न, स्नेह, वात्सल्य और स्तुति-प्रशंसाके पात्र थे। किन्तु जिस दिनसे उन्होंने दैत्यराजके समीप मुख खोलकर सत्यकथाका प्रचार करना आरम्भ किया—वे विष्णुभक्तिकी ऐकान्तिकता, गृहव्रत-धर्म त्यागकर हरि-भजनकी प्रयोजनीयता, गृहव्रत कलिगुरु-सम्प्रदायकी अकर्मण्यता, परमहंसकलिकी सेवा और समवयस्क दैत्य-बालकोंके समीप गृहव्रत दैत्य-सङ्ग परित्यागकर हरि-भजनकी आवश्यकताका प्रचार करने लगे, उसी दिनसे प्रह्लादके शत्रुओंकी एक-एक करके वृद्धि होने लगी। बद्धजीवोंके लिए पिता-पुत्ररूप एक घनिष्ट मायिक सम्बन्ध होता है—जिस मायिक सम्बन्धके मोहमें पड़कर पिता अपने काले-कलूटे पुत्रको भी स्वर्णके समान सुन्दर देखता है, अन्धे पुत्रको भी कमलनयनके रूपमें देखता है, कलिाङ्गारको भी वंशका विभूषण समझता है, पुत्रके हजारों दोष भी पिताकी मोहयुक्त दृष्टिमें गुण प्रतीत होते हैं। परन्तु आज प्रह्लाद द्वारा किया गया सत्य-कथाका प्रचार कार्य दूसरोंकी तो बात दूर रहे, उस प्रकारके मोहग्रस्त पिताके निकट एक महान दोषके रूपमें परिगणित हुआ, जिसके फलस्वरूप हिरण्यकशिपु आत्मासे भी अधिक प्रिय पुत्रको मार

डालनेके लिए हजारों प्रकारकी चेष्टाएँ करने लगा। क्या जगत्में कोई ऐसा दृष्टान्त मिल सकता है, जहाँ पिता अपने स्वार्थके लिए अपने प्राणोंसे भी अधिक प्रिय ऐसे शिशु-पुत्रको—जिस पुत्रने अभी तक स्त्रीके प्रलोभनमें पड़कर पिताका किसी प्रकारसे अनादर करना तक नहीं सीखा है, अथवा जो बादशाह औरङ्गजेबकी भाँति राज्यके लोभसे पिताका शत्रु नहीं हुआ है—पाँच वर्षीय कमनीय बालकमात्र उसी पुत्रको मतवाले हाथीके पैरोंके नीचे कचिलकर मरवा डालनेके लिए फेंक सकता है, पर्वतसे नीचे फेंक सकता है, ज्वलन्त आगमें उसे जला डालनेकी चेष्टा कर सकता है, उसे विष दे सकता है! प्रह्लादका दोष है कि उन्होंने सत्यकथाका प्रचार किया। ऐसी परीस्थितिमें जब पिता ही पुत्रका शत्रु बन सकता है, तो फिर स्वार्थ-परायण बहिर्मुख लोग सत्यकथाका प्रचार करनेवालेके शत्रु बनेंगे, इसमें आश्चर्यकी क्या बात है? इस प्रकार यह देखा जाता है कि सत्ययुगमें अर्थात् जिस समयमें धर्मके चारों पैर विद्यमान थे, उस समय भी सत्यकथाका प्रचार करनेवाले पुत्रके प्रति शत्रुताका आचरण करनेमें पिता तक भी कुण्ठित नहीं हुआ! पिताका स्वभाव सुलभ वात्सल्यपूर्ण हृदय भी सत्यकथाके प्रचारक पुत्रके प्रति निष्ठुर हो गया! धन्य है अघटन-घटन-पटीयसी विष्णु-बहिर्मुखतारूपी शक्ति! जीव नखसे केश तक इतना अधिक विष्णु-विमुख है कि वह सत्यकथा—कृष्णके स्वरूप लक्षणकी बात किसी प्रकार भी नहीं सुनेगा। यह मानो उसकी कृष्ण-विमुखताका एक व्रत है—उसके स्वभावकी एक प्रतिज्ञा है।

जहाँ सत्ययुगमें भी इस प्रकारसे सत्यका अनादर और सत्यका प्रचार करनेवालोंके प्रति अत्याचारका आदर्श उदाहरण देखा जाता है, वहाँ कलि या विवाद-तर्कयुगमें फिर सत्यके प्रति विराग और सत्यका प्रचार करनेवाले आचार्योंके प्रति शतमुखी (सैकड़ों प्रकारकी) विरोधमयी चेष्टाएँ देखी जायेगी, इसमें आश्चर्यकी बात ही क्या है?

सात्वतधर्म अर्थात् भक्तिधर्मके प्रचारक आचार्योंमेंसे अन्यतम श्रीमद् रामानुजाचार्यके चरित्रमें हम यह देख पाते हैं कि श्रीरामानुजने जब बाल्यकालमें गुरु यादवप्रकाशके निकट 'कप्यासं पुण्डरीकाक्षम्' श्रुतिकी व्याख्या सुनकर उसका प्रतिवाद किया था और उसी विष्णु-विरोधी गुरुब्रुवका आनुगत्य स्वीकार न कर सत्यकथाका प्रचार किया था, उसी समयसे ही उनके ऊपर अत्याचार आरम्भ हुआ था। केवल अत्याचार ही नहीं, गुरु-अभिमानी यादवप्रकाशने शिष्यको मार डालनेके लिए विपुल षड़यन्त्र रचा। श्रीरङ्गममें भगवान् श्रीरङ्गनाथके पुजारीलोग श्रीविष्णुके भोग-द्रव्य इत्यादिकी चोरी करते थे, विष्णुसेवामें उदासीन रहकर विष्णुके अर्थके द्वारा ही अपने-अपने स्त्री-पुत्रकी सेवाको ही विष्णुसेवा बतलाकर साधारण लोगोंकी वञ्चना करते थे। श्रीरामानुजाचार्यने पुजारियों द्वारा की जानेवाली चोरी और उनकी भोग-लालसाका प्रतिवाद किया। जहाँ सत्यका प्रचार है, वहाँ स्वार्थवशतः अन्धे, सत्य-विरोधीगण सत्यप्रचारकोंके शत्रु हो उठेंगे, यह अनिवार्य है। इसीलिए श्रीरङ्गमके पुजारियोंने रामानुजाचार्यको मार डालनेके लिए पहले उन्हें विष-मिश्रित प्रसाद प्रदान किया। किन्तु किसी पुजारीकी सरल हृदयवाली स्त्री द्वारा आचार्य रामानुजको इङ्गितसे पुजारियोंके बुरे सङ्कल्पके विषयमें बतानेपर आचार्यने उस प्रसाद अन्नको एक कुत्तेको प्रदान किया; जिसे खाते ही वह कुत्ता उसी समय मर गया।

अन्य एक दिन उक्त पुजारियोंने श्रीरङ्गनाथके चरणामृतमें विष मिलाकर श्रीरामानुजको प्रदान किया। यह मायिक जगत् सब समय विष्णु-विरोधी लोगोंकी संख्याके अधिक होनेके कारण उन्हींके आधिपत्यके द्वारा ही परिवेष्टित और शासित है तथा अत्यन्त सुदुर्लभ और गोपनीय भक्ति-निधिकी रक्षा करनेके लिए ही असुर-मोहन विष्णुकी इच्छासे इसी प्रकार व्यवस्थापित है। श्रीरामानुजाचार्यके अभ्युदय कालमें एक विष्णु-विरोधी स्मार्त्त राजा चोलराज्यपर शासन करता था। आचार्य रामानुज जब इस स्मार्त्त

राजाके राज्यमें विष्णु-उपासना और सत्यकथाका प्रचार करने लगे, तब कर्मजड़-स्मार्त्त रुद्रोपासक चोलराजाकी मात्सर्यरूपी अग्नि उनके प्रति प्रबल वेगसे जल उठी। श्रीरामानुजाचार्यको बलपूर्वक स्मार्त्त शैव बनानेके लिए उक्त कर्मजड़-स्मार्त्त राजाने अपने सैनिकोंको भेजा, किन्तु कर्मजड़-स्मार्त्त लोग कभी भी अप्राकृत वैष्णवाचार्यके एक केशको भी स्पर्श करनेमें समर्थ नहीं हो सकते।

भले ही कोई कर्मजड़-स्मार्त्त बहिर्मुख समाजका नेता हो, और चाहे वह किसी राज्यका अधिपति—समस्त प्रकारके दण्ड देनेवाला विधाता ही क्यों न हो, वैष्णव अथवा वैष्णवाचार्य कभी भी कर्मजड़-स्मार्त्तोंके शासनके अधीन अथवा उनकी प्रजा नहीं है। कर्मजड़-स्मार्त्तोंके लाल-लाल नेत्रोंसे स्मार्त्तोंके तलवे चाटनेवाले वैष्णवब्रुव भयभीत हो सकते हैं, किन्तु वैष्णव कभी भी कर्मजड़-स्मार्त्तोंकी कोई परवाह नहीं करते—कर्मजड़-स्मार्त्तोंकी हुँकारको बन्द कर देनेवाले, कलिके सब प्रकारके दोषोंका वर्जन करनेवाले आचार्य वैष्णव कभी भी भयभीत नहीं होते। इसीलिए आचार्य श्रीरामानुज विष्णु-वैष्णव-विद्वेषी, स्मार्त्त चोलराजाकी धमकीसे भयभीत न होकर प्रबल वेगसे करोड़ों कण्ठोंसे सत्यकी कथाका प्रचार करनेसे पीछे नहीं हटे।

चोलराजा कृमिकण्ठने श्रीरामानुजाचार्यको बलपूर्वक पकड़कर अपने दरबारमें लानेके लिए अपने सैनिकोंको भेजा। श्रीरामानुजके आदर्श शिष्य कुरेश चोलराजाका षड़यन्त्र जान गये और तब अपने गुरु श्रीरामानुजाचार्यका गैरिक वस्त्र और त्रिदण्ड धारणकर श्रीरामानुजाचार्यके वेषमें उन सैनिकोंके साथ राज-दरबारमें उपस्थित हुए। चोलराजाने कुरेशको ही रामानुजाचार्य समझकर उनकी आँखें निकलवा ली, किन्तु तब भी कुरेशने स्मार्त्तमतको स्वीकार नहीं किया। अतएव देखा जाता है कि जिस-जिस समयमें इस जगत्‌में सत्यकथाका प्रचार हुआ है, उसी समय विष्णु-विरोधी आसुरिक प्रवृत्तिके व्यक्तियोंने देव-प्रवृत्तिके सत्य-प्रचारकोंपर नाना प्रकारके

अत्याचार किये हैं। ऐसा अत्याचार भी वास्तविक सत्य क्या है—इसे समझनेका एक प्रधान और स्पष्ट लक्षण है। इसका कारण है कि सभी बहिर्मुख लोग जिस मत या सिद्धान्तका समर्थन करते हैं, वे सब मतवाद निश्चित रूपमें ही बहिर्मुख मत होते है। उसी प्रकार जिस सत्-सिद्धान्तके प्रचारके विरुद्धमें जगत्‌के समस्त बहिर्मुख लोग मिलकर उसका विरोध करनेकी चेष्टा करते हैं, वह सिद्धान्त भी बहिर्मुख-विरोधी होनेके कारण निश्चित रूपमें ही परम सत्य होता है।

यह तो केवल एक आचार्यकी बात थी। श्रीविष्णुस्वामी, श्रीमन्मध्वाचार्य, श्रीमन्निम्बादित्य आदि वैष्णव आचार्योंने जिस-जिस समयमें सत्यकथाका प्रचार किया था, उस-उस समयमें उनके प्रति भी किस प्रकार अत्याचार हुए थे, यह उनकी जीवनीका पाठ करनेपर ही जाना जा सकता है। उनकी दिव्य जीवनीका पाठ करनेसे एक ओर भक्त-द्वेषीजनोंके क्रोध और दूसरी ओर वैष्णव-आचार्योंकी असामान्य अहैतुकी लोक-हितकर आदर्शकी उपलब्धि करके जगत्‌का पालन करनेवाले श्रीविष्णुके प्रति प्राण अपने-आप ही भक्तिभावसे सराबोर हो उठते हैं। धन्य हैं सनातनधर्मके रक्षक पुरुषोत्तम सत्यनिधि भगवान् श्रीविष्णु! और अनन्त-गुणोंसे धन्य हैं उनके द्वारा प्रेरित जगत्‌का मङ्गल करनेवाले अहैतुकी-कृपाके समुद्र सात्वत आचार्यगण!

अब समस्त आचार्योंके शिरोमणि—समस्त आचार्योंके अवतार—श्रीगौरसुन्दर और उनके नित्य-सेवक आचार्योंकी कथाका किञ्चितमात्र वर्णन करके चारों आचार्योंकी जीवनीकी आलोचना करेंगे। सत्यकथाका प्रचार आरम्भ करनेपर किस प्रकार साधारण लोगोंके समक्ष बुरा बनना पड़ता है, उसका दृष्टान्त हम सर्वाचार्य-शिरोमणि श्रीगौरसुन्दरके चरित्रमें भी विशेष रूपसे देख सकते हैं। जब तक भगवान् विष्णु और वैष्णव-बहिर्मुख जन-समाजकी वञ्चना करते हैं, तभी तक बहिर्मुख-लोकसमाज उनकी प्रशंसा किया करता है। [उदाहरण स्वरूप] श्रीगौरसुन्दरने जब बहिर्मुख

लोगोंकी रक्षाके लिए साधारण बहिर्मुख-समाजके ब्राह्मण-पण्डितोंकी भाँति एक नीति-धर्मपालक गृहस्थका अभिनय किया, अध्ययन और अध्यापन लीला की, स्वामी-वियोग-विधुरा (विधवा) दीन जननीकी सेवा, जन्मभूमि और स्वजन बन्धु-बान्धवोंके प्रति प्रीति दिखलायी, पिताके उर्द्ध्वदेहिक कृत्यका सम्पादन अर्थात् गयामें पिताके श्राद्धादिके अनुष्ठानका अभिनय किया तथा देवताओं और ब्राह्मणोंके प्रति भक्ति प्रदर्शन करनेके अभिप्रायसे ब्राह्मणके चरणामृतको पान करनेकी लीलाका प्रदर्शन किया, तब तक कर्मजड़वादी लोग विमुख-विमोहनकारी विष्णुके कार्योंका तात्पर्य न समझ सकें, इसलिए वे श्रीचैतन्य महाप्रभुको भी अपने ही समान समझकर उनकी प्रशंसा करने लगे। किन्तु वह प्रशंसा बहुत अधिक दिनों तक स्थायी नहीं रह सकी। जिन्होंने एकदिन निमाईको अपने समान ही समझकर निमाईकी हजार मुखोंसे प्रशंसा की थी, आज जब निमाईने गयासे लौटनेपर आत्म प्रकाश किया—श्रीअद्वैत, श्रीवास आदि शुद्धभक्तोंकी मनोकामनाको पूर्ण किया, सत्यकथाका प्रचार करना आरम्भ किया, उसी दिनसे ही स्मार्त्त हिन्दुगण चारों ओरसे चीत्कार करने लगे। निमाईकी निन्दा आरम्भ हुई। निमाई पहले बहुत अच्छा था, किन्तु अब पहले जैसा नहीं रह गया, क्योंकि वह हिन्दुधर्मको नष्ट कर रहा है—मङ्गलचण्डी, विषहरि-पूजा और उसके उपलक्ष्यमें किये गये नृत्य-कीर्त्तन इत्यादि कृत्योंको धर्म-विरोधी, अनर्थकारी कार्य बतलाकर अब वह भगवत्-कीर्त्तनके माहात्म्यका प्रचार कर रहा है। गयामें श्राद्ध करनेकी अपेक्षा उससे अनन्त-गुण अधिक श्रेष्ठ वैष्णव-दर्शन और गुरु-चरणाश्रयकी महिमाका प्रचार कर रहा है। अवैष्णव ब्राह्मण कुत्तेका माँस खानेवाले व्यक्तिकी भाँति अस्पृश्य और असम्भाष्य है तथा श्वपच (चण्डाल) कलिमें अवतीर्ण वैष्णव भी परम पावन और परम पूज्य है—इन सब सत्यकथाओंका प्रचार कर रहा है। पञ्चोपासक कर्मजड़, विद्यार्थी-ब्राह्मणोंके द्वारा सत्यकथाके कीर्त्तनमें विघ्न डालनेपर उन्हें लाठीके द्वारा मारनेसे भी पीछे नहीं हटता—

"पूर्वे भाल छिल एइ निमाइ पण्डित।
गया हैते आसिया चालाय विपरीत॥

❁ ❁ ❁ ❁ ❁

सबे मिलि करे तबे प्रभुर निन्दन॥

सब देश भ्रष्ट र्कल एकला निमाई।
ब्राह्मण मारिते चाहे धर्मभय नाइ॥

पुनः यदि ऐछे करे, मारिब ताँहारे।
कोन् वा मानुष हय कि करिते पारे॥

(चै॰ च॰ आ॰ १७/२०६, २५४-२५६)

"पहले तो यह निमाई पण्डित अच्छा-भला ही था, किन्तु गयासे लौटनेके बाद तो यह पूरी तरहसे बदल गया है।

तब सभी विद्यार्थी एक साथ मिलकर महाप्रभुकी निन्दा करने लगे। अकेले निमाईने सभी स्थानोंको भ्रष्ट कर दिया है। यह ब्राह्मणोंको मारना चाहता है, इसे धर्मका कोई भी भय नहीं है। यदि वह फिर कभी ऐसा करेगा तो हम उसे मारेंगे। वह चाहे कोई भी क्यों न हो, हमारा क्या बिगाड़ लेगा?"

कर्मजड़-स्मार्त्तोंकी इस प्रकारकी दुर्बुद्धिको देखकर निमाईने उनके कल्याणकी कामनासे अपनेको साधारण लौकिक स्मार्त्त-समाजसे पृथक् समझानेके लिए कर्मजड़-स्मार्त्तोंके दुःसङ्गको छोड़कर संन्यास-ग्रहण-लीला दिखलानेका सङ्कल्प किया। अपने आचरणके द्वारा यह प्रचार किया कि वैष्णव कभी भी साधारण स्मार्त्त-समाजके अधीन नहीं है; स्मार्त्तों द्वारा वैष्णवोंको अपने समाजका ही एक अङ्ग समझना उनकी वञ्चित अवस्था और दुर्भाग्यमात्रको ही दर्शाता है। हे कर्मजड़-स्मार्त्तो! तुमलोग अपने हाड़-माँसगत स्वभावके कारण विष्णु-वैष्णवोंके प्रति साधारण-जातीय-विचाररूप भोगबुद्धि करके एक दिन गौरसुन्दरको अपनी तरह गृहस्थ मानकर वञ्चित हुए थे, आज तुमलोगोंको निष्कपट रूपमें प्रचुर कृपा करनेके लिए श्रीगौरसुन्दरने पत्नीका पालन-पोषण

आदि नीति-धर्मके लङ्घनका आदर्श दिखलाकर, पतिके वियोगमें विधुरा (विधवा) माताको सान्त्वना देनेके बदले उसकी बिना बुझी हुई शोक-अग्निको और भी दुगना प्रज्वलितकर, जन्मभूमि और स्वजनोंके प्रति प्रीति इत्यादिका परित्यागकर, सद्गुरुका चरणाश्रयकर श्रीकृष्णसेवाकी तुलनामें गयामें श्राद्ध, तीर्थ-पर्यटन आदिकी अकर्मण्यताका प्रचारकर, ब्राह्मणके चरणामृतके पानका तात्पर्य कर्म-मार्गीय चेष्टा नहीं है, बल्कि सेवक-वात्सल्य प्रदर्शनके द्वारा वैष्णवोंका श्रेष्ठत्व प्रतिपादन करना है—ऐसा बतलाकर, कलिमें संन्यास-निषिध विधिरूप कर्मजड़-स्मार्त्त उपयोगी कानूनका लङ्घन करते हुए लोगोंको शिक्षा देनेके लिए कर्मजड़-स्मार्त्त आदि दुःसङ्ग-त्यागरूप संन्यास-लीला ग्रहण की। संन्यास-ग्रहण-लीलाके कुछ दिन बाद ही श्रीगौरसुन्दरने अपने आचरण और कौशलसे नित्यानन्द प्रभु और अद्वैताचार्य—इन दोनों जगद्गुरु आचार्योंके आचार द्वारा विद्ध-स्मार्त्त-धर्मकी निरर्थकता और कृष्ण-प्रसादके उच्छिष्ट होनेके ज्ञानके भ्रमको (चै॰ च॰ म॰ ३/९९), वैष्णवोंमें जातिबुद्धि (चै॰ च॰ म॰ ३/९७) आदि कर्मजड़-स्मार्त्तोंके चिन्ता-स्रोतकी गतिको बदलनेके लिए श्रीअद्वैताचार्यके मुखसे "संन्यासी नाशिल मोर सब स्मृति-धर्म अर्थात् इस संन्यासीने मेरे स्मार्त्त-धर्मको सम्पूर्ण रूपसे नष्ट कर दिया है।" (चै॰ च॰ म॰ ३/१०१)—इत्यादि उक्तियोंको कहलवाकर श्रीगौरसुन्दरने अपनी संन्यास-ग्रहण-लीलाका तात्पर्य जो स्मार्त्त-धर्मकी अन्तिम अग्निशिखाको बुझाना है, उसे प्रचार कराया। श्रीगौरसुन्दरने शान्तिपुरमें श्रीअद्वैताचार्यको हरिदास ठाकुर और मुकुन्द सहित एकत्र बैठाकर महाप्रसाद भोजन करनेके लिए आदेश देकर (चै॰ च॰ म॰ ३/१०६) वैष्णव एवं महाप्रसादमें क्रमशः जाति-सामान्य-बुद्धिरूप कर्मजड़-स्मार्त्तोंके अपराधमय विचारकी निर्थकताका प्रचार किया। उस समय कर्मजड़-स्मार्त्तोंके घनिष्ट मित्र (सार्वभौम भट्टाचार्यकी भाँति) स्मार्त्त निर्विशेषवादी अभिनयकारी या (प्रकाशानन्दकी भाँति) मायावादी संन्यासीगण नाना प्रकारसे महाप्रभुके सत्यप्रचारके प्रति

कटाक्ष और उनकी निन्दा करने लगे। और भी श्रीमाधवेन्द्रपुरीपादके शिष्य होनेका अभिनय दिखलाकर रामचन्द्रपुरीने महाप्रभुके भोजनकी निन्दा आदि करनेमें भी लज्जाका बोध नही किया। सत्यप्रचारकारी आचार्योंको ऐसे बहुत प्रकारके बहिर्मुख लोगोंके कुविचार और कधिारणाओंसे समाजकी रक्षाकर उसका कल्याण करनेके लिए सत्यकथाका प्रचार करना होता है। अतएव आचार्य-हृदय कितना महान और जीवोंके दुःखमें कितना दुःखी है, यह अवर्णनीय है।

श्रीचैतन्य महाप्रभु द्वारा बौद्धवादके विरुद्धमें प्रचार आरम्भ करनेपर बौद्धोंने किस प्रकार महाप्रभुके ऊपर अत्याचार करनेका प्रयास किया था, (इसका श्रीचैतन्यचरितामृत, मध्यलीला, नवें परिच्छेदमें वर्णन किया गया है,) यह पाठकोंके लिए अविदित (अज्ञात) नहीं है। अतएव जिस-जिस समय वैष्णव-आचार्योंने सत्यकथाका प्रचार आरम्भ किया, उसी-उसी समय अपने अकल्याणका सङ्कल्प लेकर जगत्में भरे हुए बहिर्मुख व्यक्तियोंने सत्यके विरुद्ध युद्ध करनेकी चेष्टा दिखलायी है। आज यदि श्रीहरिदास ठाकुर या श्रीमन् नित्यानन्द प्रभु ऊँचे स्वरसे हरिकथा और हरिनाम न कर निर्जन-भजनकी लीला दिखलाते, तो उनमेंसे एक (हरिदास ठाकुर) को बाईस बाजारोंमें प्रहार और दूसरे (नित्यानन्द प्रभु) को कलसीके टुकड़ेसे प्रहार नहीं सहन करना पड़ता। उन्होंने सत्यकथाका प्रचार किया था, इसलिए आज भी कर्मजड़-स्मार्त्त समाज ठाकुर श्रीहरिदासको 'ब्राह्मणके घर पितृश्राद्ध-पात्र-भोजनकारी, वर्णाश्रमधर्मका असम्मान करनेवाला मुसलमान' आदि कहकर हरिदास ठाकुरके चरणोंमें भीषण अपराध किया करता है। आज भी कर्मजड़-स्मार्त्त लोग श्रीमन् नित्यानन्दको 'नीच जातिके लोगोंके हाथों द्वारा बनाया गये अन्नका भक्षण करनेवाला, स्मार्त्तोंके वर्णाश्रमधर्मका लङ्घन करनेवाला, अनाचारी' आदि कहकर उनकी निन्दा किया करते हैं। परम करुणामय वैष्णव श्रील वृन्दावनदास ठाकुरने इन कर्मियोंको विष्णु-निन्दारूप अपराधसे उद्धार करनेके लिए 'तबे लाथि मार तार शिरेर ऊपरे

अर्थात् तब उसके सिरपर लात मारो।'—ऐसा कहा है, इसीलिए कर्मजड़-स्मार्त्तोंमेंसे कोई-कोई व्यक्ति अपने कलङ्कको ही श्रीवृन्दावनदास ठाकुरके कन्धोंपर ही सौंपनेकी चेष्टा करता है अर्थात् स्वयं अपराधी और निन्दुकके कार्यको त्याग करनेकी अपेक्षा श्रीवृन्दावनदास ठाकुरको ही निन्दुक और अपराधी कहते हैं।

कालकी प्राचीनता दुर्जनको भी सज्जनकी पदवीपर चढ़ा देती है। किन्तु आज प्रायः पाँच सौ वर्ष पहले उदित जगद्-गुरु श्रीगौर-नित्यानन्द प्रभु, ठाकुर श्रील हरिदास, ठाकुर श्रीवृन्दावन आदि आचार्योंको भी जब वर्त्तमान कालमें अनेक व्यक्ति, उनमेंसे अधिकांश भीतरसे अथवा कोई स्पष्ट रूपमें बाहरसे अनेक प्रकारसे निन्दा करते हैं, इससे जाना जाता है कि यह जगत् कितना हरि-विमुख है और आचार्यगण कितने परदुःख-दुःखी—अमन्दोदय-दयाका वितरण करनेवाले महावदान्य महापुरुष हैं।
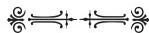
सात्वत–सम्प्रदाय

"सम्प्रदायविहीना ये मन्त्रास्ते विफला मताः।
अतः कलौ भविष्यन्ति चत्वारः सम्प्रदायिनः॥

श्रीब्रह्मरुद्रसनका वैष्णवाः क्षितिपावनाः।
चत्वारस्ते कलौ भाव्या ह्युत्कले पुरुषोत्तमात्॥

रामानुजं श्रीः स्वीचक्रे मध्वाचार्यः चतुर्मुखः।
श्रीविष्णुस्वामिनं रुद्रो निम्बादित्यं चतुःसनः॥"

लोक पितामह ब्रह्माके शिष्य देवर्षि नारदका शिष्यत्व स्वीकार करनेवाले वेदान्तसूत्रके रचयिता श्रीव्यासदेवने पद्मपुराणमें लिखा है कि सत्सम्प्रदायके अतिरिक्त अन्यत्र मन्त्र ग्रहण करनेसे वे कभी भी सिद्धिप्रद नहीं होते, इसलिए सनातनधर्मके मूल–पुरुषोत्तम श्रीविष्णुकी इच्छासे कलिकालमें चार–सम्प्रदायोंके प्रवर्त्तक मूल आचार्योंका आविर्भाव होगा। 'कलि' शब्दका अर्थ—'विवाद' अथवा 'तर्क' है। कलिकालमें तर्कपन्थाका ही बाहुल्य दृष्टिगोचर होता है और श्रौतपन्थाका अत्यधिक अनादर परिलक्षित होता है। बौद्धवाद, प्रकृति–लयवाद अथवा प्रच्छन्न–बौद्धवाद अथवा प्रच्छन्न प्रकृति–लयवादरूपी मायावाद द्वारा अवैध रूपसे स्वयंको 'श्रौतपन्था' होनेका दावी घोषित करनेपर भी सूक्ष्म रूपसे विचार करनेपर वे सब 'तर्कपन्था' के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। इस तर्कपन्थाके चंगुलसे जीवोंकी रक्षा करके उन्हें श्रौतपन्थामें प्रवर्त्तित करनेके लिए श्रीलक्ष्मीदेवी, श्रीब्रह्माजी, श्रीरुद्र और चतुःसन—इन चार साम्प्रदायिक आदि गुरुओंसे कलिकालमें पृथ्वीको पवित्र करनेवाले चार सात्वत आचार्य उत्कल देश (उड़ीसा) के श्रीपुरुषोत्तम क्षेत्र (श्रीजगन्नाथपुरी) में उदित[१] होंगे। इन चार सात्वत आचार्योंमें

[१] श्रीपुरुषोत्तम क्षेत्रमें श्रीचैतन्यमहाप्रभु द्वारा प्रचारित गौड़ीय–दर्शनमें ही चार सात्वत आचार्योंके मतका समन्वय उदित हुआ।

अन्यतम श्रीब्रह्माजीके अनुगत श्रीमन्मध्वाचार्यकी गुरु-परम्पराकी धारामें दीक्षित होनेपर भी भगवान् श्रीगौरसुन्दरने इन चारों सम्प्रदायोंकी सेवा-प्रणालीका अनुमोदनकर उनकी शुद्ध-भजन-प्रणालीका ही श्रीपुरुषोत्तम क्षेत्रमें अपने आश्रित-भक्तोंके निकट वर्णन किया है।

प्रमाणिक सम्प्रदायकी गुरु-परम्पराकी धाराके अतिरिक्त अन्य स्थानोंसे प्राप्त मन्त्रोंकी सिद्धिकी सम्भावना ही नहीं होती। किसी निर्दिष्ट अभिमानके अभावके कारण जीवका मन सदैव चञ्चल रहता है। चञ्चल मनवाले व्यक्ति एकमात्र व्यवसायात्मिका (एकान्तिक) मति प्राप्त करनेके बदले बहुत-सी शाखाओंका अवलम्बन करनेवाले अव्यवसायी होते हैं। चञ्चल चित्तवाले व्यक्ति अपने अपस्वार्थकी सिद्धिके लिए मनोकल्पित समस्त मतोंको एक समान मानते हुए चित् और जड़का समन्वय करनेकी चेष्टा करते हैं और कार्यतः मनोकल्पित सङ्कीर्ण सम्प्रदायके अन्तर्गत साम्प्रदायिक हो जाते हैं। सविशेष भगवान्को निराकार-निर्गुण माननेवालोंमें सभीके लिए उपयुक्त असाम्प्रदायिकताका माहात्म्य सुना जानेपर भी वह केवलमात्र साम्प्रदायिकताके हेयांशका ही परिचयमात्र है। सम्प्रदाय-विरोधी व्यक्ति सम्प्रदायके विरुद्ध किसी एक मतको लेकर स्वयंको असाम्प्रदायिक समझते हैं, परन्तु इसका फल यह होता है कि वे लोग अपने मतवादको लेकर एक नये सम्प्रदायकी ही सृष्टि कर लेते हैं। गम्भीर रूपसे विचार करनेपर उदारताके नामपर असाम्प्रदायिकता अर्थात् उच्छृंखलता या आनुगत्य-विहीनताके पक्षपाती व्यक्तियोंको स्थूल-बुद्धिसे सम्पन्न ही निर्धारित किया जा सकता है। सत्सम्प्रदायको स्वीकार करना जीवोंका एक स्वभाव सिद्ध धर्म है। जो लोग सत्सम्प्रदायको स्वीकार करनेमें अनिच्छुक हैं, हो-न-हो, वे स्वयंको 'परम मुक्त', नहीं तो 'परम बद्ध' स्वीकार करनेके लिए बाध्य होंगे। किन्तु परम मुक्तजन भी लोक-शिक्षाके लिए सत्सम्प्रदायके अनुगत होकर ही अपना परिचय प्रदान करते हैं। उदारताके नामेपर

सत्सम्प्रदायको स्वीकार करनेमें अनिच्छुक व्यक्तियोंका आदर्श वैसा ही है, जैसे अज्ञ बालक शिक्षा देनेवाले गुरुदेवके शासन अथवा पिता-माताके द्वारा दिखलाये हुए सत्-मार्गको आपात दृष्टिसे दुःखदायक समझकर उसे परित्यागकर तात्कालिक सुखदायिनी, किन्तु परिणाममें दुःखप्रद स्वतन्त्रता या उच्छृंखलताको स्वीकार करता है। सरल, बुद्धिमान और आत्माका कल्याण चाहनेवाले व्यक्ति सत्सम्प्रदायमें प्रवेश करके उसे सबके निकट स्वीकार करते हैं, किन्तु कपटी, अदूरदर्शी और वितर्क-प्रिय व्यक्ति स्वरूपतः सात्वत-सिद्धान्त-विरोधी एक सङ्कीर्ण सम्प्रदायकी सृष्टि करके भी लोगोंके समीप स्वयंको असम्प्रदायी कहकर अपना परिचय प्रदान किया करते हैं। किन्तु इसके द्वारा वे केवल आत्म-वञ्चनारूपी दुःखद फलको ही प्राप्त करते है।

इतिहासकी आलोचना करनेपर यह जाना जाता है कि भारतवर्ष एक धर्मक्षेत्र है, अतएव यहाँ कभी भी सत्सम्प्रदायके विरुद्ध मतका आश्रय लेकर कोई अपना आत्मकल्याण नहीं कर सका है। पाश्चात्य देशोंके विद्वानोंके साथ जिस समयसे भारतवर्षका सम्बन्ध स्थापित हुआ है, उसी समयसे कुछ-कुछ लोग सत्सम्प्रदायके विरोधी हो गये है। अपनी स्वतन्त्रताका अपव्यवहार करना अपने नित्य स्वरूपको भूले हुए जीवोंका स्वभाव है और इसी कारण वे आपाततः सुखदायक या प्रीतिकर वृत्तिका ही अवलम्बन करते हैं। पाश्चात्य देशोंकी विद्वत्-मण्डली द्वारा जब श्रौतपन्थाका आनुगत्य परित्यागकर आनुगत्यहीन स्वतन्त्र किसी वृत्तिका 'उदारता' के नामसे प्रचार किया जाता है, तब वह विचार भगवत्-बहिर्मुख-जीवोंमेंसे अधिकांश लोगोंको युक्तियुक्त प्रतीत होता है और वे उसे उच्छृंखलता तथा मनोधर्म समर्थित एक सुन्दर मतके रूपमें ग्रहण कर लेते हैं। निराकार, निर्विशेषवादी अर्थात् जो जीव, जगत्, भगवान्के परिकर, धाम आदिकी पारमार्थिक सत्यताको स्वीकार नहीं करते और ऐसा विचार करते हैं कि चरम अवस्थामें सभी निर्विशेष ब्रह्ममें लीन हो जायेंगे, केवल वे ही ऐसे

मतको उपयोगी मानते हैं। परन्तु जो लोग जीव, जगत्, भक्ति, भक्त और भगवान्‌की नित्य सत्यता स्वीकार करते हैं, वे कभी भी ऐसे निर्विशेष विचारोंको ग्रहण नहीं कर सकते। वे केवल 'वेदान्तसूत्र' के रचयिता और अकृत्रिम भाष्यकार (श्रीव्यासदेव) के सिद्धान्तोंको ही ग्रहण करते हैं।

श्रीलक्ष्मीदेवीने श्रीरामानुज स्वामीको, चतुर्मुख श्रीब्रह्माजीने श्रीमध्व स्वामीको, श्रीरुद्रने श्रीविष्णुस्वामीको तथा श्रीसनक-सनातन-सनन्दन-सनत्‌कुमारने श्रीनिम्बादित्य स्वामीको कलिकालमें अपने-अपने सम्प्रदायके प्रवर्त्तकके रूपमें अङ्गीकार किया है। इन चार आचार्योंने चारों वैष्णव सम्प्रदायोंके मूल आदि गुरु—क्रमशः लक्ष्मी, ब्रह्मा, रुद्र और चतुःसनके सत्सम्प्रदायोंको ग्रहणकर कलिकालमें सत्सम्प्रदायका प्रवर्त्तन तथा अपने मूल गुरुओंके सात्वत मतका ही प्रचार-प्रसार किया। श्रीक्षेत्रमें श्रीपुरुषोत्तमदेवका आश्रय ग्रहणकर श्रीगौरसुन्दरके आश्रितजनोंने ही चारों सत्साम्प्रदायिक आचार्योंके शुद्ध विचारोंकी चरम-मीमांसाका जगत्‌में प्रचार-प्रसार किया है। श्रीपुरीधाममें इन चारों सम्प्रदायोंके अपने-अपने मठसमूह श्रीगौरसुन्दरके आगमनसे लगभग एक सौ वर्ष पहले तक अधिष्ठित थे और इन चारों सम्प्रदायोंने समय-समयपर अपने-अपने साम्प्रदायिक वैभव एवं भक्तिके विचारोंका जनसमूहमें प्रचारकर बद्ध-जीवोंको विष्णु-वैष्णव-सेवारूपी नित्यधर्ममें नियुक्त किया है, किन्तु फिर भी श्रीगौरसुन्दरने ही इन सम्प्रदायोंके सम्पूर्ण रूपसे वैज्ञानिक सार-सिद्धान्तका अपने आश्रितजनोंमें प्रचार किया।

सत्सम्प्रदायके मूल प्रवर्त्तकोंके प्रकटकालपर विचार करनेसे सर्वप्रथम भगवान् श्रीविष्णुकी नित्य-सङ्गिनी श्रीलक्ष्मीजी, तत्पश्चात् गर्भोदशायी महाविष्णुके नाभिकमलसे उत्पन्न ब्रह्माजी, तदनन्तर द्वितीय महाविष्णुसे श्रीरुद्र और लोक पितामह ब्रह्माके मानस पुत्र चतुःसनका प्रकटकाल दृष्टिगोचर होता है। किन्तु कलियुगके मूल आचार्योंके प्रकटकालपर विचार करनेसे सर्वप्रथम श्रीविष्णुस्वामी, तत्पश्चात् क्रमशः श्रीनिम्बादित्य आचार्य, श्रीरामानुजाचार्य एवं

श्रीमध्वाचार्यका आविर्भावकाल परिलक्षित होता है। बङ्गालमें[१] इन साम्प्रदायिक आचार्योंके सम्बन्धमें बहुत कम लोग ही जानते हैं। यहाँ तक कि वर्त्तमान समयमें यहाँके सर्वश्रेष्ठ पुरात्तन-तत्त्वविद् और गवेषणामें निपुण प्रतिष्ठित व्यक्ति भी, इन चारों वैष्णव आचार्योंके विचारोंको जाननेकी बात तो दूर रहे, किस आचार्यने किस मतका प्रचार किया है, उसका नाम भी कहते समय भूल कर बैठते हैं। इसलिए गवेषणामें निपुण इन व्यक्तियोंका इस विषयमें शैथिल्य देखकर बड़ा ही दुःख होता है।

लोक पितामह ब्रह्माजीके सात विभिन्न जन्मोंमें यह सात्वत धर्म पुनः-पुनः प्रचारित हुआ था। किन्तु कालके प्रभावसे श्रौत-परम्परा द्वारा प्राप्त यह सनातनधर्म न्यूनाधिक रूपमें लुप्त हो गया, जिससे कलियुगमें नाना प्रकारके तर्क-वितर्कवाले मतोंका प्रचार हुआ है। ब्रह्माजीके प्रथम मानसजन्ममें श्रीनारायणसे फेनपगण इस सात्वत धर्मके विचारोंसे अवगत हुए थे। फेनपगणोंसे वैखानसगण और वैखानसगणोंसे चन्द्रने इस सनातन वैष्णवधर्मके नित्यसत्यको प्राप्त किया। ब्रह्माजीके द्वितीय चाक्षुषजन्ममें श्रीनारायणकी कृपासे ब्रह्मा और रुद्र एवं रुद्रसे बालखिल्यगणोंने इस सनातन वैष्णवधर्मके सत्यको श्रवण करके जगत्में इसका प्रचार किया था। ब्रह्माजीके तृतीय वाचिकजन्ममें श्रीनारायणसे सुपर्णने ऋग्वेदके मूलमन्त्रको प्राप्त किया। उस समय वायुसे विघशासि सम्प्रदाय और विघशासियोंसे महोदधिने इस ऐकान्तिक धर्मके विषयमें अभिज्ञता प्राप्त की। ब्रह्माजीके चतुर्थ श्रवणजजन्ममें आरण्यकने वेद-शास्त्रोंके द्वारा सात्वत धर्मका प्रचार किया। उस समय ब्रह्माजीसे स्वारोचिष मनु एवं मनुसे उनके पुत्र शङ्खपद तथा शङ्खपदके पुत्र सुर्वणाभने सात्वत धर्मकी शिक्षा ग्रहण की। इस प्रकार ब्रह्माजीके मानसजन्म, चाक्षुषजन्म, वाचिकजन्म और

---

[१] यह प्रबन्ध सर्वप्रथम बङ्गाली-भाषामें प्रकाशित हुआ था, इसलिए इसमें केवल बङ्गालके नामका ही उल्लेख किया गया है। किन्तु वास्तवमें सम्पूर्ण जगत्की ही ऐसी अवस्था है।

श्रवणजजन्म—इन चार प्रकारके आविर्भावोंसे सत्ययुगमें इस सनातन-धर्मका प्रचार हुआ था। ब्रह्माजीके पञ्चम नासत्यजन्ममें श्रीनारायणकी कृपासे सनत्कुमार इस ऐकान्तिक धर्ममें प्रविष्ट हुए। सनत्कुमारसे वीरण, वीरणसे रैभ्य, रैभ्यसे कुक्षि इस ऐकान्तिक धर्ममें प्रविष्ट हुए। उसी समयमें ब्रह्माजीके षष्ठ अण्डजजन्ममें ब्रह्मासे बर्हिषत और उनके अग्रज अविकम्पन आदिने इस ऐकान्तिक सात्वत धर्मको ग्रहण किया। ब्रह्माजीके छठे जन्ममें ही सर्वप्रथम सामवेद गानकी ध्वनि प्रकट हुई। ब्रह्माजीके सप्तम पाद्मजन्ममें ही श्रीनारायणसे ब्रह्मा, ब्रह्मासे दक्ष, आदित्य विवस्वान, मनु और इक्ष्वाकु आदिने इस भागवत-धर्ममें अवस्थित होकर प्रसिद्धि लाभ की। श्रीसम्प्रदाय—रत्नाकरसे उत्पन्न है। रत्नाकर प्राचीन विघषासि सम्प्रदायसे और विघषासि-सम्प्रदाय वायु द्वारा ब्रह्माके तृतीय वाचिकजन्ममें प्रकट हुआ है। ब्रह्म-सम्प्रदाय और रुद्र-सम्प्रदायने ब्रह्माके द्वितीय चाक्षुषजन्ममें श्रीनारायणसे कृपा प्राप्त की। उनके अधःस्तन बालखिल्यगणोंने ही ब्रह्मा और रुद्र सम्प्रदायका संरक्षण किया। श्रीसनत्कुमारने ब्रह्माके नासत्य पाँचवें जन्ममें श्रीनारायणसे त्रेतायुगके आरम्भमें इस ऐकान्तिक धर्मको प्राप्त किया।
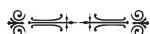
आचार्य श्रीविष्णुस्वामी

संक्षिप्त जीवन-चरित्र—ईसा पूर्व तृतीय शताब्दीमें दक्षिण भारतके पाण्ड्यदेशमें[१] पाण्ड्यविजय या पाण्डुविजय नामक एक अत्यधिक शक्तिशाली राजा राज्य करते थे। वे एक सम्राट होनेपर भी सदा-सर्वदा विष्णु और वैष्णवोंकी सेवा-पूजामें ही निमग्न रहते थे। बुद्धदेवका आविर्भाव उनके राज्यकालसे लगभग तीन सौ वर्ष पूर्व हुआ था। इसलिए महाराज पाण्ड्यविजयके आविर्भावके समयमें बौद्धधर्मके अत्यधिक प्रचारके कारण पाण्ड्यदेशमें वैष्णवधर्मका प्रचार अत्यन्त क्षीण हो गया था। महाराज पाण्ड्यवजयके श्रीदेवेश्वर नामक एक पुरोहित थे, जो विष्णुके परम भक्त थे। वे ही महाराज पाण्ड्यविजयको राज-काज आदि समस्त विषयोंमें परामर्श प्रदान करते थे। श्रीदेवेश्वरके परामर्शसे महाराज पाण्ड्यविजयने अपने राज्यमें उस समय प्रचारित बौद्ध-मतवादको नष्टकर सनातनधर्मको पुनः स्थापित करनेके लिए अथक प्रयास किये, जिसके फलस्वरूप उनके राज्यमें भगवान् विष्णुकी सेवा-पूजा सुचारु रूपसे होने लगी। उस समय बौद्धगण श्रीनीलाचलके श्रीजगन्नाथदेव, श्रीबलदेव और सुभद्राजीके श्रीविग्रहोंको बुद्ध, धर्म और सङ्घके नामसे कर्मफलबाध्य वीर-मनुष्यमात्र मानकर अवैध रूपसे उनकी पूजा कर रहे थे। महाराज पाण्ड्यविजयने अपने पुरोहित मन्त्री श्रीदेवेश्वर और उनके सुपुत्रकी सहायतासे श्रीजगन्नाथ, श्रीबलदेव और सुभद्राजीके इन श्रीविग्रहोंको बौद्धोंके चंगुलसे छुड़ाया तथा उन्हें रथपर बैठाकर सुन्दराचल[२] ले जाकर वहीं अपने संरक्षणमें उनकी सेवा-पूजा

---

[१] पाण्डयदेश दक्षिण भारतकी दक्षिणी सीमापर समुद्रके किनारे स्थित एक प्राचीन राज्य था। प्राचीन द्राविड़का सर्वदक्षिण अंश।

[२] सुन्दर पाण्ड्य राजाके समय इस स्थानका नाम 'सुन्दराचल' हुआ।

करवानी प्रारम्भ की। उन्होंने ही बौद्धोंके बौद्धविचारको न्यूनाधिक रूपमें परिवर्त्तित भी किया। कुछ समय पश्चात् महाराज पाण्डयविजय इन तीनों श्रीविग्रहोंको नीलाचलके श्रीमन्दिरमें पुनः ले आये। महाराज पाण्ड्यविजयके नामानुसार अभी भी रथयात्राके दिन श्रीजगन्नाथ, श्रीबलदेव और श्रीसुभद्राके रथारोहणको लोग 'पाहाण्डि' या 'पाण्डुविजय' कहते हैं और सुन्दराचलसे श्रीजगन्नाथदेवके नीलाचलमें पुनः आगमनको 'पुनर्यात्रा' कहते हैं। महाराज पाण्डयविजयके पुरोहित श्रीदेवेश्वरने बौद्धोंकी चेष्टाके विपरीत भावसे उनकी मतिको परिवर्त्तितकर पुनः नीलाचलमें भी श्रीपुरुषोत्तमदेवकी यथाविहित सेवाकी व्यवस्था की।

भक्तवत्सल भगवान् श्रीपुरुषोत्तमने श्रीदेवेश्वरकी अनादिकालीन सेवा-चेष्टासे प्रसन्न होकर, अपने मनोऽभीष्ट अर्थात् विष्णु-सेवाके उत्कर्षको जगत्में सदा-सर्वदा संरक्षित रखने और प्रचारित करनेके उद्देश्यसे एक विशेष योग्य पुरुषमें अपनी शक्तिको आविष्टकर उन्हें देवेश्वरके घरमें श्रीदेवेश्वरके एक महापुरुष पुत्रके रूपमें प्रकट कराया। ये भगवत्-शक्तिसे आविष्ट महापुरुष जब देवेश्वरके घरमें आविर्भूत हुए, तब देवेश्वरने अपने पुत्रकी देवताओंके समान असीम तेजसम्पन्न देहको देखकर उसका नाम 'देवतनु' रखा। देवतनु अत्यन्त बाल्यकालसे ही भगवान् श्रीविष्णुकी सेवामें ही लगे रहते थे और भगवान् श्रीविष्णुकी सेवाके विरोधी सभी कार्योंका वे सब प्रकारसे निषेध करते थे। देवतनुने अल्पकालमें ही अपने अलौकिक स्वतःसिद्ध ज्ञानको प्रकाशित किया। देवतनुने श्रुतियोंमें प्रतिपादित वैष्णव-संन्यासके विधानानुसार त्रिदण्ड-संन्यास ग्रहण किया और 'विष्णुस्वामी' के नामसे प्रसिद्ध होकर उन्होंने कलियुगमें वैदिक त्रिदण्ड-संन्यास विधानका जगत्में पुनः प्रचार किया। उनके समयमें अष्टोत्तरशत (१०८) नामी वैदिक त्रिदण्डी-संन्यासियोंका तथा उनके अधःस्तन शिष्य परम्परामें सात सौ त्रिदण्डी-संन्यासियोंका परिचय पाया जाता है। प्रबन्धके विस्तारके भयसे इस स्थानपर उन सभी त्रिदण्डी-संन्यासियोंका

परिचय देना सम्भव नहीं हो सका। जिज्ञासु लोग श्रीगौड़ीय मठसे प्रकाशित 'गौड़ीय-कण्ठहार' नामक ग्रन्थमें एक सौ आठ त्रिदण्डी-संन्यासियोंके नामोंकी तालिका और वैष्णव-मञ्जुषा पात्र संख्यामें सात सौ त्रिदण्डी-संन्यासियोंका परिचय प्राप्त कर सकते हैं। जो लोग ऐसा समझते हैं कि श्रीशङ्कराचार्यने ही सर्वप्रथम दशनामी संन्यासकी प्रथाका प्रचार किया है, उनकी यह भ्रम-धारणा विष्णुस्वामी-सम्प्रदायके वैभव-विज्ञानसे पूर्णता दूर हो जायेगी। वे यह भी समझ सकेंगे कि वैष्णव-सम्प्रदाय श्रीशङ्कराचार्यके परवर्त्ति-कालसे नहीं, अपितु अनादि कालसे ही जगत्में प्रचारित है और श्रीशङ्कराचार्यके आविर्भावके बहुत पहलेसे ही देवतनु 'विष्णुस्वामी' के समयसे ही विशेष रूपसे समृद्ध है।

जैसा भी हो, देवतनु त्रिदण्ड-संन्यास ग्रहणकर 'आचार्य विष्णुस्वामी' के नामसे जगत्में प्रसिद्ध हुए। परवर्त्तिकालमें और भी दो पृथक् व्यक्ति विष्णुस्वामीके नामसे आचार्यके रूपमें विशेष रूपसे प्रसिद्ध हुए, इसलिए देवतनु 'आदि विष्णुस्वामीके' नामसे विख्यात हैं। इन्हीं आदि विष्णुस्वामीने ही वेद-विरोधी बौद्धोंकी सनातनधर्मको नष्ट करनेकी चेष्टाको विशेष रूपसे लक्ष्य किया था। बौद्धोंने बहुत-से प्रमाणिक-ग्रन्थोंको लोगोंकी दृष्टिसे लुप्त कर दिया था, जिसे देखकर आदि विष्णुस्वामीने समस्त श्रुति-शास्त्रोंके सारस्वरूप ब्रह्मसूत्र अथवा बादरायणसूत्रोंका चयन किया एवं 'इस ब्रह्मसूत्रके भाष्यके प्रचारके द्वारा ही जगत्में लुप्त सनातन-वैष्णवधर्म पुनः प्रतिष्ठित हो सकता है,'—ऐसा विचारकर उन्होंने ब्रह्मसूत्रके एक बहुत ही सुन्दर भाष्यकी रचना भी की। यही भाष्य ही विद्वत्-समाजमें 'सर्वज्ञसूक्त' के नामसे प्रसिद्ध है। केवलाद्वैत-विचार परायण सर्वज्ञात्म मुनिको कुछ लोग आदि विष्णुस्वामीके साथ एक माननेका भ्रम करते हैं। सर्वज्ञात्म मुनि अहंग्रहोपासक मायावाद विचारको माननेवाले थे। दूसरी ओर, सर्वज्ञ मुनि (आचार्य विष्णुस्वामी) ने शुद्धाद्वैत विचारपूर्ण अपने भाष्यमें भगवान् विष्णुका परात्परत्व, जीवका नित्यत्व, नामका सेव्यत्व,

मुक्त-अवस्थामें भी भक्तिका नित्यत्व, परिकर सहित श्रीभगवान्‌का नित्य-सत्यत्व, तदीय (भगवान्‌का) सर्वस्वत्व आदि सिद्धान्तोंका प्रचार किया था। आचार्य श्रीविष्णुस्वामी या सर्वज्ञमुनिके भाष्यका सिद्धान्त केवलाद्वैतरूपी भक्तिहीन विचारोंसे सर्वथा रहित होकर 'शुद्धाद्वैत-सिद्धान्त' के नामसे जगत्‌में प्रसिद्ध हुआ। श्रीविष्णुस्वामीने स्वयंको श्रीरुद्रदेवके अनुगत और श्रीरुद्रके अन्तर्यामी भगवान् विष्णुके नृपञ्चास्य (नृसिंह) रूपके उपासकके रूपमें अपना परिचय दिया है। श्रीमहाभारतमें ऐसा कहा गया है कि श्रीरुद्र-सम्प्रदाय ब्रह्माके द्वितीय चाक्षुषजन्ममें श्रीनारायणकी कृपासे जगत्‌में प्रकाशित हुआ। श्रीरुद्र-सम्प्रदायके अधःस्तन बालखिल्य मुनियोंने ही वैष्णव-धर्मका प्रचार और सम्प्रदायका संरक्षण किया। पहले श्रीशिवस्वामी-सम्प्रदाय एवं उसके पश्चात् लिङ्गायत-सम्प्रदायसे प्रकार-भेद होनेके कारण सांख्यदलमें सङ्घर्ष होनेपर श्रीशङ्करपादके विचार और सम्प्रदायकी उत्पत्ति हुई। सर्वज्ञसूक्तके अतिरिक्त परवर्त्तिकालमें सायनमाधवके सर्वदर्शनसंग्रहके अन्तर्गत रसेश्वर दर्शनमें भी श्रीविष्णुस्वामीके नाम और उनके उपास्यदेव नृपञ्चास्य विष्णु एवं नृसिंह उपासनाके सम्बन्धमें विष्णुस्वामी सम्प्रदायके सिद्धान्तोंका उल्लेख देखा जाता है। यथा—

"विष्णुस्वामिमतानुसारिभिः नृपञ्चास्यशरीरस्य नित्यत्वोपपादनात्।
तदुक्तं साकारसिद्धौ—"सच्चिन्नित्यनिजाचिन्त्यपूर्णानन्दैकविग्रहम्।
नृपञ्चास्यमहं वन्दे श्रीविष्णुस्वामिसम्मतमिति॥"

(रसेश्वरदर्शन)

पाण्ड्यविजय राजाके राज्यकालमें मादुरा प्रदेशमें देवेश्वर भट्टदेशिकके घरमें आविर्भूत श्रीदेवतनु ही आदि विष्णुस्वामीके रूपमें जगत्‌में प्रसिद्ध हुए और उनके परवर्त्तिकालमें उनकी शिष्य-परम्परामें सात सौ त्रिदण्डी-आचार्योंने जगत्‌में सर्वज्ञसूक्तके अनुसार विष्णु-उपासनाका प्रचार किया। श्रीब्रजनाथ द्वारा रचित पूर्वगुरुशंस-विवरणमें और श्रीयदुचन्द्रके श्रीवल्लभ दिग्विजय नामक

ग्रन्थमें इन सब बातोंका उल्लेख है। इन सात सौ संन्यासियोंमेंसे अन्तिम आचार्यका नाम श्रीव्यासेश्वर था। व्यासेश्वर आचार्यके पश्चात् आदि विष्णुस्वामीकी परम्पराका प्रचार प्रायः लुप्त हो गया था। तत्पश्चात् द्वितीय विष्णुस्वामीके क्रममें आजसे प्रायः ग्यारह सौ वर्ष पूर्व श्रीराजगोपाल विष्णुस्वामीका नाम देखा जाता है। इन्हीं श्रीराजगोपाल विष्णुस्वामीने काञ्चीमें श्रीवरदराज या श्रीराजगोपालदेव विग्रहकी स्थापनाकर वहीं अपना आसन भी प्रतिष्ठित किया था। उन्होंने द्वारकामें श्रीरणछोड़लाल विग्रहको भी स्थापित किया एवं सात मोक्ष प्रदान करनेवाली पुरियोंमें विष्णु-विग्रहोंकी प्रतिष्ठाकर पुनः शुद्धाद्वैतवादमतकी उज्ज्वलताका प्रचार किया। शिह्लन मिश्र या बिल्वमङ्गल इन्हीं राजगोपाल विष्णुस्वामी अथवा द्वितीय विष्णुस्वामीके प्रशिष्यके रूपमें प्रसिद्ध हुए। राजगोपाल विष्णुस्वामीके तृतीय अधस्तनके समयमें प्राचीन शिवस्वामि-सम्प्रदायके साथ विष्णुस्वामी सम्प्रदायका पहलेकी तरह प्रचण्ड-विवाद उत्पन्न हुआ। शिवस्वामि-सम्प्रदायके अनुयायियोंने मायावादके आश्रयमें श्रीरुद्रको स्वतन्त्र परमेश्वरके रूपमें प्रचार किया। परन्तु शुद्धाद्वैत-मतावलम्बी विष्णुस्वामीके अनुयायी श्रीरुद्रको परात्पर पुरुष श्रीविष्णुसे अभिन्न अथवा उनके प्रियतम सखा और अपने गुरुके रूपमें मानते हैं। साधारण तत्त्वज्ञानसे रहित व्यक्ति शुद्धाद्वैत-मतावलम्बियोंके इस तदीय-सर्वस्व विषयसे भी केवलाद्वैतवादियोंके निर्विशेष विचारोंके सूक्ष्म पार्थक्यको समझ नहीं पाये, अतः अधिकांश व्यक्ति मायावादके आपात प्रलोभनसे आकृष्ट होकर शिवस्वामी-सम्प्रदायमें ही प्रविष्ट हो गये। ऐसा सुना जाता है कि उस समय ऐसा सुयोग देखकर श्रीविष्णु-विरोधी शिवस्वामीके अनुयायियोंने इस जगत्से विष्णुस्वामी-सम्प्रदायको विलुप्त करनेका विशेष प्रयत्न किया था। यहाँ तक कि उस समय श्रीविष्णुस्वामी-सम्प्रदायके लोगोंने 'सर्वज्ञसूक्त' के विचारोंमें कुछ परिवर्त्तनकर उसे शिवस्वामी-सम्प्रदायके भाष्यके रूपमें प्रचलित करनेका प्रयास किया। जिस प्रकार इस वर्त्तमान समयमें शुद्धाद्वैतवादी श्रील

श्रीधरस्वामिपादको—विद्ध-वैष्णव-ब्रुव सम्प्रदाय तथा केवलाद्वैत विचारके पक्षपाति सम्प्रदाय—'केवलाद्वैतवादी' मानते हैं, उसी प्रकारके तत्त्व-ज्ञानसे हीन विचार शिवस्वामी-सम्प्रदाय द्वारा विष्णुस्वामियोंके अनुयायियोंके प्रति विवादके समयमें भी साधारण समाजमें परिलक्षित हो रहे थे। समयके अनुसार मायाका प्रभाव ही जगत्में अधिक विस्तारित हुआ। साधारण लोग विष्णुस्वामीके नामकी गन्ध तकको प्रायः भूल गये और जगत्में शिवस्वामीके अनुयायियोंका ही प्रधान्य हो गया।

द्वितीय विष्णुस्वामीके पश्चात् जब जगत्में वैष्णवधर्मके प्रचारका अत्यन्त अभाव परिलक्षित हो रहा था, उस समय भगवान् विष्णुने पुनः एक विशेष शक्तिशाली आचार्यको इस जगत्में भेजा। ये आन्ध्र विष्णुस्वामी या तृतीय विष्णुस्वामीके नामसे प्रसिद्ध हुए। इन्हीं तृतीय श्रीविष्णुस्वामीके गृहस्थ शिष्योंकी परम्परामें बालभट्ट, प्रेमाकर, लक्ष्मणभट्ट आदिका अभ्युदय हुआ। लक्ष्मणभट्टके पुत्र श्रीवल्लभभट्ट ही आगे चलकर श्रीवल्लभाचार्यके नामसे प्रसिद्ध हुए और उनके सम्प्रदायके विचारसे श्रीवल्लभाचार्य तृतीय विष्णुस्वामी सम्प्रदायके अधःस्तनके रूपमें प्रचारित हुए।

आचार्य श्रील श्रीधरस्वामी और उनके गुरुभ्राता लक्ष्मीधर—ये दोनों ही विष्णुस्वामी-सम्प्रदायके त्रिदण्डी-संन्यासी और आचार्य थे। ऐसा देखा जाता है कि श्रीविष्णुस्वामी सम्प्रदायके आचार्योंके द्वारा ग्रन्थराज श्रीमद्भागवतका उज्ज्वल्य समृद्ध हुआ था। श्रील श्रीधरस्वामिपादने सम्प्रदायके अनुरोधपर पूर्वापर अनुसरणकर उक्त अप्राकृत ग्रन्थकी भावार्थदीपिका नामक टीकाकी रचना की है। उन्होंने भावार्थदीपिकाके मङ्गलाचरणमें श्रीनृसिंहदेवजीका स्तव किया है और माधव और उमाधव (श्रीरुद्र) को 'परस्परात्मा' और 'परस्परनति प्रिय' आदि शब्दोंसे प्रकाशितकर श्रीरुद्रके आनुगत्यमें श्रीनृसिंहके उपासकरूपमें अपना परिचय प्रदान किया है। श्रीमद्भागवत दशम-स्कन्धके श्रुति-स्तव (८७ वें अध्याय) की टीकामें भी श्रीधरस्वामिपाद द्वारा की गयी श्रीनृसिंह भगवान्की उपासनाकी

बातको हम विशेष रूपसे देख सकते हैं। जैसा भी हो, ग्रन्थके अधिक विस्तारके भयसे श्रीश्रीधरस्वामिपादके सम्बन्धमें यहाँ विस्तृत रूपसे आलोचना नहीं की जा रही है।

श्रीविष्णुस्वामी द्वारा प्रचारित सिद्धान्त—श्रीविष्णुस्वामीने अद्वयज्ञान या अद्वैत-सिद्धान्तका प्रचार किया। परवर्त्तिकालमें अद्वयज्ञान-विरोधी विद्धमतवाद प्रचारित होनेपर सात्वत भक्ताचार्योंने विष्णुस्वामीके सिद्धान्तको 'शुद्धाद्वैतवाद' और मायावादियोंके विद्धमतवादको 'केवलाद्वैतवाद' या 'विद्धाद्वैतवाद' नाम प्रदान किया।

श्रीविष्णुस्वामीके शुद्धाद्वैत-सिद्धान्तके विचारोंके अनुसार जीव वस्तुका अंश है, माया वस्तुकी शक्ति है और जगत् वस्तुका कार्य है—ये सभी एकत्र 'वस्तु' पदवाच्य हैं; इनमेंसे कोई भी वस्तुसे पृथक् नहीं है—'वस्तुनोंशो जीवः वस्तुनः शक्तिर्माया च वस्तुनः कार्यं जगच्च तत् सर्वं वस्तेव न ततः पृथगिति।'

(१) जीवके विषयमें श्रीविष्णुस्वामीका सिद्धान्त—जीव वस्तुका अंश है, इस विषयमें आचार्य श्रीविष्णुस्वामीने ब्रह्मसूत्रसे प्रमाण दिया है—'अंशो नाना व्यपदेशात्' (ब्र॰ सू॰ २/३/४२) अर्थात् वेदोंमें कहीं जीवको 'ब्रह्म', कहीं 'अज्ञ', कहीं 'चित्-रूप', कहीं 'दास' और कहीं 'अणु' कहा गया है; इस प्रकार जीवको नाना रूपोंमें परिभाषित करनेपर यह स्थिर होता है कि जीव ब्रह्मका ही अंश है। इसके बादके कुछ सूत्रोंको उद्धृतकर सर्वज्ञ-सूक्तकार (श्रीविष्णुस्वामी) कहते हैं कि पूर्वोक्त सूत्रके आधारपर परवर्ती सूत्रोंसे भी यह सिद्धान्त अत्यन्त स्पष्ट रूपसे निरूपित होता है कि जीव ब्रह्मका ही अंश है। यथा—'मन्त्रवर्णात्'[१] (ब्र॰ सू॰ २/३/४२), 'अपि स्मर्यते'[२] (ब्र॰ सू॰ २/३/४३), 'प्रकाशादिवत्तु

---

[१] "सभी जीव उन परमात्माके अंश हैं"—इस श्रुतिमन्त्रके अक्षरोंसे यह जाना जाता है कि जीव ईश्वरके अंश हैं।

[२] स्मृति (गीता १५/७ 'ममैवांशो .... कर्षति') वाक्यके द्वारा भी जीवको परमेश्वरका अंश कहा गया है।

नैवं परः'[१] (ब्र॰ सू॰ २/३/४४) इत्यादि। 'यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मनः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति'[२] (बृ॰ उ॰ २/१/२०), 'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्'[३] (श्वे॰ उ॰ ६/१३) आदि श्रुति मन्त्रोंसे भी यह प्रमाणित होता है कि जीवात्मा ब्रह्मका ही अंश है। स्मृतियोंमें भी कहा गया है—'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः' (गीता १५/७)। जिस प्रकार अग्निके अंश स्फुलिङ्गसमूह 'दाहक' होनेके कारण 'अग्नि' के नामसे ही उक्त होते हैं, उसी प्रकार जीवको भी 'ब्रह्म' ही कहा जाता है। जिस प्रकार अग्नि और अग्निस्फुलिङ्ग दोनों ही दाहक होनेके कारण 'अग्नि' कहलाते हैं, तथापि अग्निकुण्डसे ही जिस प्रकार शीतादि-कष्ट पूर्णतया दूर होते हैं, अग्निस्फुलिङ्गसे नहीं, उसी प्रकार ब्रह्म और जीव (अग्निकुण्ड और अग्निस्फलिङ्गकी भाँति) अंशी-अंशके सम्बन्धके कारण समजातीय होनेपर भी दोनोंमें पार्थक्य है। जीव अणुचित है, ब्रह्म विभुचित है। जीवको ब्रह्म कहे जानेपर, ब्रह्मको परब्रह्म कहना होगा।

(२) जगत्के विषयमें श्रीविष्णुस्वामीका सिद्धान्त—आचार्य श्रीविष्णुस्वामीने जगत्को वस्तुका कार्य बतलाया है। ब्रह्मसमवायी (ब्रह्मसे नित्य सम्बन्धित) एवं ब्रह्मरूपी यह जगत् सत्य है। जिस प्रकार स्वर्ण एवं उससे निर्मित कुण्डल आदि दोनों ही स्वर्ण हैं।

---

[१] यद्यपि शास्त्रोंमें मत्स्य आदि अवतारों और जीवों—दोनोंको ही भगवान्का अंश कहा गया है, तथापि सूर्यके प्रकाशके तेजके अंश होने तथा जुगनूके प्रकाशके तेजके अंश होनेमें जैसा अन्तर है, वैसा ही जीव और भगवत्-अवतारोंमें अन्तर है।

[२] जैसे अग्निसे अनेक क्षुद्र चिनगरियाँ उड़ती हैं, उसी प्रकार समस्त आत्माओंके भी आत्मास्वरूप श्रीकृष्णसे समस्त जीव उत्पन्न हुए हैं।

[३] "जो समस्त नित्य वस्तुओंमें परम नित्य हैं अर्थात् श्रेष्ठ नित्य वस्तु हैं एवं समस्त चेतन वस्तुओंमें वे चैतन्यदाता मूल चेतन हैं, वे एक होकर भी सबकी कामना पूर्ण करते हैं। जो बुद्धिमान व्यक्ति उस परमात्माको आत्मस्थ अर्थात् अपने अन्दर दर्शन करता है, वही नित्य और शाश्वती शान्तिको प्राप्त कर सकता है, दूसरे नहीं।"

पटरूप कार्यका कारणरूप तन्तु—सूक्ष्म, रक्तवर्ण या श्वेतवर्ण होनेपर उसके अनुसार कार्यरूपी पट भी सूक्ष्म रक्तवर्ण या श्वेतवर्णका होता है। अतएव समस्त कारणोंके कारण ब्रह्म, जब सत्य और नित्य हैं, तब उनका कार्य यह जगत् भी नित्य और सत्य है। यदि कहो कि जगत्को किस प्रकारसे सत्य और नित्य कहा जा सकता है? जब जगत्की सृष्टि और प्रलय है, तब जगत्को सत्य और नित्य न कहकर विवर्त्तमात्र कहा जायेगा। इसके उत्तरमें कहते हैं—वस्तुके तात्कालिक अदर्शन (नहीं देखे जाने) से उसकी अविद्यमानता सिद्ध नहीं हो सकती अर्थात् यह नहीं कहा जा सकता कि वह वस्तु विद्यमान नहीं है। जिस प्रकार आकाशमें अत्यन्त दूरीपर उड़ते हुए गिद्धपक्षी या फिर गन्धर्व-नगर हमें दिखायी नहीं देते, अत्यन्त निकट होनेपर भी आँखोंमें लगाया हुआ काजल दृष्टिगोचर नहीं होता, अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण 'परमाणु' या आड़में छिपी होनेके कारण 'राजमहिषी', दिनमें सूर्यके प्रकाशसे छिप जानेके कारण तारे दृष्टिगोचर नहीं होते, समजातीय वस्तुओंके एकत्र मिलनेपर सरोवरमें गिरी हुई पानीकी बूँदोंको पृथक् दर्शन करना अथवा उसका निरूपण करना असम्भव होता है, अत्यन्त अस्पष्ट भावसे दधिमें अवस्थित घृतकी विद्यमानता भी दृष्टिगोचर नहीं होती, लवण मिश्रित जलमें नमकका अधिष्ठान भी आँखोंसे नहीं दिखलायी पड़ता, किन्तु दृष्टिके विषय नहीं होनेपर भी इन सब वस्तुओंकी विद्यमानताके विषयमें किसीके भी मनमें (दूसरोंकी इन्द्रियोंके द्वारा ग्राह्य और सिद्ध होनेके कारण) कभी भी सन्देहका कारण उपस्थित नहीं होता। जो वस्तु देखी नहीं जा सकती उस वस्तुका अस्तित्व ही नहीं है—इस प्रकारके सिद्धान्तको माननेवाले व्यक्ति अन्धेके सम्मुख खड़े होकर स्वयंको 'अविद्यमान अर्थात् मैं नहीं हूँ', यह प्रमाणित करके दिखलायें।

अतएव मिट्टीरूपी कारणमें जिस प्रकार घट आदि कार्य विद्यमान रहता है, तभी मिट्टीसे घटादिकी उत्पत्ति सम्भव होती है,

उसी प्रकार सृष्टिसे पूर्व ही जगत् सर्वकारणरूपी ब्रह्म-वस्तुमें विद्यमान रहता है। ब्रह्म जब परिणामको प्राप्त होता है अर्थात् इच्छा करता है, तभी जगत् स्पष्ट रूपसे प्रतीत होता है। छान्दोग्योपनिषदके (७/२६/१) मन्त्रमें भगवान्‌के आविर्भाव और तिरोभाव नामक दो शक्तियोंका विषय कहा गया है। स्वतन्त्र-इच्छामय शक्तिमान भगवान् जब अपनी उस आविर्भाव शक्तिका व्यवहार करते हैं, तब पदार्थ दृष्ट होता है और जब अपनी उस तिरोभाव शक्तिका व्यवहार करते हैं, उस समय पदार्थ दृष्टिसे ओझल हो जाता है। ब्रह्म ही निमित्त और उपादान कारण हैं; यदि कहो कि ब्रह्म निमित्त कारण तो हो सकते हैं, परन्तु ब्रह्मको उपादान कारण कहनेसे वस्तु या ब्रह्मके जगत्-रूपी कार्यके परिमाणको स्वीकार करनेसे ब्रह्ममें विकारका दोष उपस्थित हो जाता है। इसके उत्तरमें कहते हैं कि परिणाम दो प्रकारके हैं—(१) विकृत परिणाम या विकार और (२) अविकृत परिणाम या कारणका कार्यरूपी परिग्रहण। पूर्वस्वरूपके परिवर्त्तनके पश्चात् पूर्वस्वरूपकी प्राप्ति असम्भव होनेपर उसका नाम 'विकार' होता है। जिस प्रकार दूधका दहीरूपी परिणाम प्राप्त होनेपर पुनः उसका दूध होना असम्भव है। किन्तु परिणाम प्राप्तिके पश्चात् किसी प्रकार अन्यथा-भाव-विवर्जित (पूर्वस्वरूपमें परिवर्त्तनसे रहित) जो परिणाम अर्थात् कारणका कार्यरूप ग्रहण करना है, वह परिणाम अविकृत परिणाम है। ब्रह्मकी जगत्-रूपमें परिणामकी प्राप्ति इसी प्रकार है। ब्रह्म अपने बहु-जगत् (की सृष्टिके) सामर्थ्य अथवा इच्छाशक्तिके योगसे जगत्-रूपी अविकृत परिणामको प्राप्त होते हैं। जगत्-रूपी परिणाम प्राप्तिके पहले, जगत्-रूपी परिणाम प्राप्तिके समयमें एवं जगत्-रूपी परिणाम प्राप्ति होनेके पश्चात्, ब्रह्म अपने सच्चिदानन्द स्वरूपमें ही वर्त्तमान रहते हैं। स्वर्ण आदि सभी तैजस (चमकीले) पदार्थ अङ्गुठी, कुण्डल, हार आदिमें परिणित होनेपर भी पुनः स्वर्णरूपी कारण अवस्थाको प्राप्त कर सकते हैं। अङ्गुठी, कुण्डल, हार आदि केवल सोनेकी अवस्थामें

अन्तर मात्र हैं। इस प्रकार अवस्थान्तरकी स्थिति विकार या भेद नहीं है। उपादान-कारण-ब्रह्मकी जगत्-रूपी अवस्था भी इसी प्रकार अवस्थान्तर प्राप्ति मात्र है। अतएव जगत्को वस्तुका कार्य कहनेसे वस्तुमें किसी प्रकारका विकार-दोष आरोपित नहीं हो सकता।

(३) ईश्वरके विषयमें श्रीविष्णुस्वामीका सिद्धान्त—'ह्लादिन्या संविदाश्लिष्टः सच्चिदानन्द ईश्वरः। स्वाविद्या-संवृतो जीवः संक्लेश-निकराकरः॥' (श्रीविष्णुस्वामीकृत सर्वज्ञसूक्त)। अर्थात् ह्लादिनी एवं सम्वित् शक्ति (सर्वज्ञता शक्ति) से युक्त सच्चिदानन्द विग्रह ही ईश्वर हैं। अविद्यासे आच्छादित और सब प्रकारके क्लेशोंकी निधि होना ही बद्धजीवका लक्षण है। अंशी ईश्वरके साथ अंशस्वरूप शुद्धजीवोंकी जो सेव्य और सेवकके भावमें अवस्थानरूपी अद्वयज्ञान अवस्था है, उसी शुद्धज्ञानसे विच्युति एवं उपाधिवशतः जड़के भेदगत-सत्ता-दर्शनसे स्वयंको अविद्या द्वारा आवृत और क्लेशोंका आकरस्वरूप द्वितीय-ज्ञान ही बद्धजीवका मिथ्या अभिमान है। तथा—'स ईशो यद्वशे माया स जीवो यस्तयार्दितः। स्वाविर्भूतः परानन्दः स्वाविर्भूतः सुदुःखभूः॥' ईश्वर मायाधीश हैं, जीव मायावश है; ईश्वर स्वप्रकाश परमानन्द स्वरूप हैं, जीव भी अंशीका अंश होनेके कारण स्वरूपतः स्वप्रकाश होनेपर भी द्वितीय अभिनिवेशके कारण अत्यन्त दुःखकी भूमिकामें आरूढ़ है।

श्रीविष्णुस्वामी-सम्प्रदायके सिद्धान्तके अनुसार 'ईश्वरस्योपाधि-वश्यताभावेन नित्यमुक्तताम्। सगुणमेव गुणैरनभिभूतं सर्वज्ञं सर्वशक्तिं सर्वेश्वरं सर्वनियन्तारं सर्वोपास्यं सर्वकर्मफलप्रदातारं समस्त-कल्याणगुणनिलयं सच्चिदानन्दं भगवन्तं श्रुतयः प्रतिपादयन्ति। यः सर्वज्ञः स सर्ववित्। यस्य ज्ञानमयं तपः सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः। यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरः सो कामयत बहु स्याम्। स ऐक्षत तत्तेजो सृजत। सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म इत्याद्याः।' अर्थात् ईश्वर नित्य मुक्त हैं, वे कभी भी किसी उपाधिके वशीभूत नहीं होते। वे अप्राकृत गुण-विशिष्ट, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, सर्वेश्वर,

सर्वनियन्ता, सर्वोपास्य, सभी कर्मोंके फलप्रदाता, समस्त कल्याण गुणोंके आश्रयस्वरूप और सच्चिदानन्द वस्तु हैं। यही श्रुति-प्रतिपाद्य ब्रह्मवस्तु है, अतएव यही श्रीविष्णुस्वामी आचार्यका मत है।

श्रीविष्णुस्वामी रुद्रके आनुगत्यमें नृपञ्चास्य (श्रीनृसिंह) के उपासक हैं। उन्होंने अपने भाष्यमें वर्णन किया है कि भगवान्‌की देह सच्चिदानन्द है, इसे पहले ही उदाहरणके रूपमें प्रस्तुत किया गया है। श्रीविष्णुस्वामी श्रीभगवन्नामाश्रित थे तथा इसका भी निर्देश पाया जाता है। श्रीविष्णुस्वामिपादने उपासना, उपासक और उपास्यके नित्यत्वको स्वीकार किया है, यथा—उनके द्वारा रचित भाष्यमें उल्लेख है—'मुक्ता अपि लीलया विग्रहं कृत्वा भगवन्तं भजन्ते' अर्थात् मुक्तगण भी लीलापूर्वक विग्रह ग्रहणकर भगवान्‌की सेवा करते हैं।

आदि विष्णुस्वामी-सम्प्रदायमें श्रुतियोंमें नृसिंहतापनी एवं पञ्चरात्र और पुराणोंमें श्रीमद्भागवतके साथ-साथ श्रीविष्णुपुराणकी ही प्रधानता परिलक्षित होती है। आदि विष्णुस्वामी द्वारा रचित ग्रन्थोंमें सर्वज्ञसूक्तका ही परिचय पाया जाता है। श्रीविष्णुस्वामी-सम्प्रदायके अधःस्तन आचार्योंने श्रीविष्णुपुराण, श्रीगीता, श्रीमद्भागवत आदि ग्रन्थोंकी टीकाएँ और भाष्य तथा नृसिंह-परिचर्या आदि स्मृति-निबन्धपर आधारित ग्रन्थोंकी रचना की है। इस सम्प्रदायमें त्रिदण्ड संन्यासकी प्रथा है और संन्यास आश्रममें शिखा-सूत्र रखना तथा ऊर्ध्वपुण्ड्र आदि धारण करना प्रचलित है।

वर्त्तमान समयमें विष्णुस्वामी-सम्प्रदाय एक प्रकारसे लुप्त-प्रायः है। श्रीविष्णुस्वामीके सर्वज्ञ-सूक्तका प्रचार भी अत्यन्त विरल है। यद्यपि श्रीवल्लभाचार्यने स्वयंको विष्णुस्वामी मतका अनुसरण करनेवालेके रूपमें प्रचार किया है, तथपि श्रीविष्णुस्वामीके यथार्थ सिद्धान्तोंके साथ उनके द्वारा प्रचारित मतका स्थान-स्थानपर पार्थक्य दृष्टिगोचर होता है।
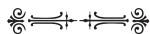
आचार्य श्रीनिम्बादित्य

संक्षिप्त जीवन-चरित्र—प्राचीन-कालमें तैलङ्ग देशके अन्तर्वर्ती 'वैदूर्य-पत्तन' नामक एक नगर था। आजकल वह नगर 'मुङ्गेर-पत्तन' या 'मुङ्गीपाटन' के नामसे जाना जाता है। इस नगरमें विष्णुभक्तिपरायण आरुणि मुनि अपनी सहधर्मिणी श्रीजयन्तीदेवीके साथ निवास करते थे। ऐसा कहा जाता है श्रीमद्भागवत (१/१९/११) में जिन अरुण मुनिका महाराज परीक्षित्‌की सभामें आनेका उल्लेख पाया जाता है, ये आरुणि उन्हीं अरुण मुनिकी वंश-परम्परामें थे।

द्वापरयुगके समाप्त होनेपर भागवत-धर्मका आकाश कपटतारूपी कुहरेके अन्धकारसे अच्छादित हो गया। जनसाधारण नाना प्रकारके क्षुद्र कपटतापूर्ण मतोंसे आकृष्ट होनेके कारण जीवमात्रके स्वरूपधर्म एकमात्र भगवद्भक्तिसे बहुत दूर होने लगे। उस समय परम करुणामय भगवान् श्रीविष्णुने इस धर्मक्षेत्र भारतवर्षमें शुद्ध-सनातन-भक्तिधर्मकी रक्षा करनेके लिए अपने एक शक्त्यावेश अवतारको भेजनेकी इच्छा की। परम-विष्णुभक्तिपरायण श्रीमद् आरुणि और परम भक्तिमती श्रीजयन्तीदेवीका आश्रय लेकर कार्त्तिकी पूर्णिमा तिथिके सन्ध्याकालमें सूर्यके समान तेजस्वी एक शिशुरत्नने जन्म लिया। यह शिशु अत्यन्त सुन्दर, सुकान्त और सज्जनोंके हृदयके आनन्दको बढ़ानेवाला था। आरुणि मुनिने अपने इस पुत्ररत्नको यथाविहित वैदिक-संस्कारोंसे सुसंस्कृतकर उसे शास्त्रादि अध्ययनके लिए गुरुगृहमें भेजा। वह बालक अल्पायुमें ही अपनी अत्यन्त-अद्भुत मेधा-शक्ति और प्रतिभाका परिचय प्रदानकर वेदके अङ्ग और उपाङ्ग, अखिल कमनीय कला-कौशल विशेषतः अध्यात्मशास्त्रमें अत्यन्त प्रवीण हो गया।

वह बालक नैष्ठिक ब्रह्मचारी और सूर्यके समान तेजस्वी था। सनातन-वैष्णवधर्मका प्रचार करनेके लिए उसने यथाविहित शास्त्रीय

विधानसे वैदिक त्रिदण्ड-संन्यास ग्रहण किया। संन्यास ग्रहण करनेके पश्चात् वे भगवान् श्रीकृष्णके दर्शनोंके लिए उत्कण्ठित होकर व्रजमें नन्दग्राममें आये। उन्होंने वहींपर 'सविशेष-निर्विशेष-श्रीकृष्ण-स्तव' नामक पच्चीस पद्योंसे युक्त एक सुमधुर स्तोत्रकी रचनाकर अपने उपास्यदेवके चरणोंमें उपहार स्वरूप उसे प्रदान किया। तत्पश्चात् वे गोवर्द्धनके निकट एक पर्णकुटी बनाकर वहींपर ऐकान्तिक रूपसे श्रीकृष्ण-भजनका आदर्श प्रदर्शित करने लगे। जिस स्थानपर आचार्य पर्णकुटी बनाकर श्रीकृष्णका भजन करते थे, वह स्थान आजकल श्रीनिम्बग्राम या नीमगाँवके नामसे प्रसिद्ध है।

ऐसा कहा जाता है कि एक समय एक जैनी संन्यासी दिग्विजय करनेकी अभिलाषासे श्रीमथुरापुरीमें आये एवं उन्होंने वहाँके प्रसिद्ध पण्डितोंको तर्कयुद्ध करनेके लिए आह्वान किया। वैदिक धर्मकी निरर्थकताका प्रतिपादन करना ही उस जैनी संन्यासीका प्रधान एवं प्रबल उद्देश्य था। आचार्यने यह बात जानकर उस जैनी संन्यासीसे शास्त्रार्थ किया और उसके मतवादको शास्त्रकी युक्तियोंके द्वारा खण्ड-विखण्ड कर दिया। जैनी संन्यासीने पराजित होकर आचार्यकी शरण ग्रहण की। आचार्यने भी वैदिक वैष्णवधर्मका उपदेश प्रदानकर उसे अपने शिष्यके रूपमें ग्रहण किया। ऐसी किम्वदन्ती है कि जब उक्त जैनी संन्यासी और आचार्यके बीचमें शास्त्रीय विचार आरम्भ हुआ था, उस समय शास्त्रार्थ करते-करते सूर्यको अस्ताचलमें जाते देखकर आचार्यने अपने आश्रममें आये हुए अतिथिके श्रमको दूर करनेके लिए उसे कुछ भगवत्प्रसाद भोजन करनेके लिए दिया। जैनी संन्यासियोंके लिए सन्ध्या अथवा रात्रिकालमें भोजन करना निषिद्ध है, इसलिए उस जैनी संन्यासीने आचार्यके द्वारा दिये गये प्रसादको ग्रहण करनेमें कोई रुचि नहीं दिखायी। (उसके हृदगत भावोंको समझकर) तब आचार्यने अपने आश्रममें स्थित एक निम्ब (नीम) के वृक्षके ऊपर बैठकर यतिके भोजन-समाप्तिकाल तक सूर्यको

धारणकर आकाशमें स्थिर कर दिया। किसी-किसीके मतसे उन्होंने निम्ब वृक्षके ऊपर चढ़कर श्रीभगवान्‌के सुदर्शन चक्रको आह्वानकर आकाशमें स्थापित कर दिया और सूर्यके समान प्रभावसम्पन्न चक्रको देखकर अतिथि संन्यासीने उसे सूर्य ही समझा। निम्ब वृक्षके ऊपर चढ़कर आदित्य वा अर्कके रूपमें प्रकाशित होने अथवा आदित्य या अर्क (सूर्य) को प्रकाशित करनेके कारण आचार्य 'निम्बादित्य', 'निम्बार्क' अथवा 'निम्बविभावसु' के नामसे प्रसिद्ध हुए। ये कहीं-कहीं 'आरुणेय', 'नियमानन्द' और 'हरिप्रियाचार्य' के नामसे भी प्रसिद्ध हैं। कुछ लोगोंका कहना है कि श्रीकृष्णके प्रपौत्र वज्रनाभ जिस समय मथुरामण्डलके अधिपति थे, वही समय ही निम्बार्काचार्यके प्राचीन गुरुओंके अभ्युदयका काल था।

वेदान्त-दर्शनके प्रथम अध्यायके तृतीय पादके अष्टम सूत्रके वर्त्तमान प्रचलित श्रीनिम्बार्क-भाष्यमें श्रीनिम्बार्ककी गुरुपरम्परा इस प्रकार देखी जाती है। यथा—'परमाचार्यैः श्रीकुमारैरस्मद् गुरवे श्रीमन्नारदायोपदिष्टो भूमात्वेव विजिज्ञासितव्य' इत्यादि। अर्थात् परमाचार्य श्रीसनत्कुमार ऋषि, उनके शिष्य श्रीनारद गोस्वामी और उनके शिष्य श्रीनिम्बादित्य है।

आचार्य निम्बादित्यका वेदान्त भाष्य 'वेदान्त-पारिजातसौरभ' के नामसे प्रसिद्ध है। निम्बार्क-शिष्य श्रीनिवासाचार्यने इस पारिजात-सौरभको कुछ विस्तृतकर 'वेदान्त-कौस्तुभ' के नामसे और एक भाष्यकी रचनाकर उसका प्रचार-प्रसार किया। श्रीमन् महाप्रभुके समसामयिक केशवकाश्मीरीने निम्बार्क-सम्प्रदायको ग्रहणकर वेदान्त-कौस्तुभकी 'कौस्तुभ-प्रभा' नामक एक चूर्णिका (अर्थात् एक प्रकारकी गद्य शैली) की रचना की।

निम्बादित्य-सम्प्रदायके लोगोंके अनुसार 'वेदान्तपारिजात-सौरभ' के अतिरिक्त निम्नलिखित भाष्य और ग्रन्थ भी श्रीनिम्बादित्य आचार्यके द्वारा रचित हैं—गीता भाष्य, सदाचारप्रकाश—(स्मृतिग्रन्थ), दशश्लोकी, सविशेष-निर्विशेष-श्रीकृष्ण-स्तोत्र एवं प्रातःस्मरण स्तोत्रम् (वेदान्त-गर्भितस्तोत्रम्)। आधुनिक निम्बार्क-सम्प्रदायका मत है

कि उपरोक्त छह ग्रन्थोंमेंसे 'वेदान्तपारिजात-सौरभ' (ब्रह्मसूत्र भाष्य), 'दशश्लोकी', 'सविशेष-निर्विशेष-श्रीकृष्ण-स्तोत्र' और 'प्रातःस्मरण स्तोत्रम्'—ये चार ग्रन्थ ही श्रीनिम्बादित्याचार्य द्वारा रचित हैं।

सनकादि मुनियोंने श्रीनारद मुनिको उपदेश दिया, श्रीनारदसे श्रीव्यास, श्रीप्रह्लाद और परम्परा-क्रमसे श्रीनिम्बार्क आदिने उन उपदेशोंको प्राप्त किया।

श्रीनिम्बार्क स्वामीने कलिकालमें श्रीनारायण ऋषि (नर और नारायण ऋषिमें, जो नारायण हैं उनके) द्वारा उपदेश किये गये भागवत-धर्मका प्रचार करनेके लिए सात्वत-सम्प्रदायका गठन किया। वही सात्वत-सम्प्रदाय 'निम्बार्क-सम्प्रदाय' के नामसे प्रसिद्ध हुआ। निम्बार्क-सम्प्रदायकी आचार्य-परम्परा निम्नलिखित है—(१) श्रीनारायण, (२) हंस, (३) सनकादि चतुःसन, (४) नारद, (५) निम्बादित्याचार्य, (६) श्रीनिवासाचार्य (वेदान्त-कौस्तुभाख्य ब्रह्मसूत्र भाष्यकार), (७) भास्कर-भट्टाचार्य (वेद और ब्रह्मसूत्र आदिके भाष्यकार)[१], (८) विश्वाचार्य, (९) पुरुषोत्तम आचार्य, (१०) विलास आचार्य, (११) स्वरूपाचार्य, (१२)माधवाचार्य, (१३) बलभद्राचार्य, (१४) पद्माचार्य, (१५) श्यामाचार्य या श्यामलाचार्य, (१६) गोपालाचार्य, (१७) कृपाचार्य, (१८) देवाचार्य (वेदान्तसूत्रकी वेदान्तसिद्धान्तजाह्नवी नामक टीकाके प्रणेता), (१९) सुन्दर भट्ट, (२०) पद्मनाभ भट्ट, (२१) उपेन्द्र भट्ट, (२२) रामचन्द्र भट्ट, (२३) वामन भट्ट, (२४) कृष्ण भट्ट, (२५) पद्माकर भट्ट, (२६) श्रवण या श्रवणेश भट्ट, (२७) भूरिभट्ट, (२८) माधव भट्ट, (२९) श्याम भट्ट, (३०) गोपाल भट्ट, (३१) बलभद्र भट्ट, (३२) गोपीनाथ भट्ट, (३३) गोकुल भट्ट या गाङ्गल्या भट्ट, (३४) केशव भट्ट (ये श्रीमन् महाप्रभुके समसामयिक केशवकाश्मीरीके नामसे प्रसिद्ध और 'क्रमदीपिका' ग्रन्थके रचियता हैं। निम्बार्क-सम्प्रदायके अनुयायियोंके मतसे ये प्रस्थानत्रयके भाष्यकार हैं। श्रीचैतन्यभागवत,

[१] श्रीभक्तिरत्नाकरमें उल्लिखित केशवकाश्मीरीकी गुरुपरम्परामें भास्कर भट्टके नामका उल्लेख नहीं है। अन्य सब कुछ एक ही समान है।

श्रीचैतन्यचरितामृत और श्रीभक्तिरत्नाकर ग्रन्थमें वर्णित ये केशवकाश्मीरी ही भगवान् श्रीगौरसुन्दरको शास्त्रार्थमें पराजित करनेकी अभिलाषासे श्रीनवद्वीपधाममें आये थे और अन्तमें श्रीमन् महाप्रभुके शरणापन्न होकर उन्होंने अपनी विद्वताकी असारताकी उपलब्धिकर दिग्विजयकी वृत्तिको त्याग कर दिया था—ऐसा उल्लेख मिलता है), (३५) श्रीभट्ट, (३६) श्रीहरिव्यासदेवाचार्य (ऐसी किम्वदन्ती है कि इन्होंने अर्बुद पर्वतपर अम्बिकादेवीको वैष्णव मन्त्र देकर दीक्षित किया था), (३७) स्वभूदेवाचार्य और (३८) चतुरचिन्तामणि देवाचार्य आदि।

श्रीनिम्बार्क-सम्प्रदायके मतके अनुसार उनके सम्प्रदायमें ये कतिपय प्रसिद्ध विद्वान पण्डित एवं ग्रन्थकार उदित हुए थे—(१) परपक्षगिरिवज्रके लेखक श्रीमाधव-मुकुन्द, (२) वेदान्तरत्नमञ्जुषाके रचयिता श्रीअनन्तराम और (३) श्रुत्यन्तसुरद्रुमके रचयिता श्रीपुरुषोत्तम प्रसाद।

श्रीनिम्बार्क-सम्प्रदायके मठोंके स्थानका निर्देश—(१) सलिमाबाद—कृष्णगड़, उदयपुर (यहाँ अजमेरसे होकर जाना होता है), (२) वर्द्धमान—रायपुर रायगञ्ज मठ (निम्बार्क-सम्प्रदायके अनुयायियोंके अनुसार वर्द्धमान मठ ही उनके सभी मठोंका आदि अर्थात् मूल मठ है)—यहाँके श्रीविग्रह श्रीराधागोविन्द, हंस भगवान्, श्रीराम और श्रीबलदेव हैं, (३) उखरा (अण्डाल स्टेशनके बाद उखड़ा स्टेशनसे एक मीलकी दूरीपर यह मठ स्थित है, यहाँके 'वर्त्तमान'[१] महन्तका नाम श्रीव्रजभूषणशरणदेव है), (४) युगल-किशोरमठ—आडंघाटा (आदि महन्तका नाम श्रीगङ्गानारायण देव और वर्त्तमान महन्तका नाम सनकादि शरणदेव है), (५) चैतुया—घाटालसे तीन कोस दूर निमतला तथा निमतलासे तीन कोस दूर चैतुया नामक स्थान है—यहाँके मठका नाम वैकुण्ठपुर

---

[१] प्रस्तुत ग्रन्थमें जिस किसी भी स्थानपर 'वर्त्तमान' शब्दका प्रयोग दिखायी पड़े, वहाँ उसका अर्थ वर्ष १९२७ समझना चाहिये।

मठ है तथा श्रीविग्रह (क) रामलाला, (ख) गोपालजी, (ग) राम-लक्ष्मण-सीता, (घ) क्षेत्रपाल शिव और (ङ) बिहारीजी हैं। पहले प्रत्येक श्रीविग्रहका पृथक्-पृथक् मन्दिर था, उन सब मन्दिरोंके जीर्ण-क्षीण हो जानेके कारण वर्त्तमानमें सभी विग्रह श्रीबिहारीजीके मन्दिरमें हैं, यहाँके वर्त्तमान महन्त बलदेव दास हैं, (६) आसनमानपुर कुसरी डाकघर, नदीया (यह आलमडाङ्गा स्टेशनसे दो कोसकी दूरीपर स्थित है), वृन्दावनसे इस मठकी मूल उत्पत्ति होनेके कारण यहाँके श्रीविग्रहको गोपीनाथजी कहते हैं, यहाँके महन्त रामगोपाल दासजी हैं, (७) केन्दुली—ऐसा कहा जाता है कि यह मठ पहले माध्व-सम्प्रदायके अन्तर्गत था, किन्तु तीन पीढ़ियोंसे यह निम्बार्क-सम्प्रदायके अन्तर्गत हुआ है, यहाँके महन्त रासबिहारी शरणजी हैं, (८) लोहागञ्ज (यह आजिमगञ्ज स्टेशनसे एक मील, मुर्शिदाबादमें स्थित है), यहाँके श्रीविग्रह—गोपीनाथजी, तथा महन्त मदनमोहन शरणजी हैं, (९) विनोदलाला—(यह आजिमगञ्जके स्टेशनके निकट स्थित है), (१०) बस्तानगर (यह रानीगञ्ज स्टेशनसे एक कोसकी दूरीपर स्थित है)—यहाँके लोगोंका कहना है कि श्रीवृन्दावन इनका मूल उत्पत्ति स्थान है, यहाँके श्रीविग्रह श्रीमदनमोहनजी हैं, (११) उलसी (यह नाभारण स्टेशनसे एक कोसकी दूरीपर स्थित है—आस्मानपुर, बस्तानगर और उलसी—ये तीनों मठ वृन्दावनके परमार्थजी मठके अनुगत हैं; किन्तु परमार्थजी मठमें इस समय कोई महन्त नहीं है, ऐसा सुना जाता है कि वर्त्तमान महन्त गृहस्थ हो गये हैं), (१२) श्रीधाम वृन्दावनमें परमार्थजी मठ, (१३) श्रीक्षेत्रमें लोकनाथ-महादेवके निकट दुःखिश्याम मठ, तीन वर्ष पहले यहाँके महन्त दुःखीश्यामजीको क्षेत्रप्राप्ति हो गयी है, (१४) कटकमें गोपालजी मठ, (१५) बुंदेलखण्डमें अटलविहारी मठ, डाकघर—सागर, जिला-सागर, यहाँके श्रीविग्रह—श्रीअटलविहारीजी हैं, (१६) निम्का-थानामें भी एक निम्बार्क मठ है, फुलेरा जंक्शनसे एक शाखा लाइनपर निम्का-थाना स्टेशन है; जयपुरके राजाका एक हजार निम्बार्क

लोगोंका समुदाय है—इनमें कोई भी गृहस्थ नहीं है, किन्तु ये वेतन लेकर राजाके (धार्मिक) समुदायका कार्य करते हैं।

इसके अतिरिक्त श्रीधाम वृन्दावनमें निम्बार्क-सम्प्रदायके और भी कुछ मठ हैं। गोवर्द्धनके निकट निम्बग्राममें श्रीराधाकृष्णकी युगलमूर्त्ति और निम्बादित्याचार्यकी पादुकाकी पूजा प्रचलित है। पंजाबके निकट 'खाड़ा' नामक स्थानमें भी निम्बार्क सम्प्रदायका एक मठ है।

निम्बादित्य-सम्प्रदायके सदाचार आदि—(१) कण्ठमें तुलसीमाला और ललाटपर ऊर्द्ध्वपुण्ड्र धारण करना प्रत्येक दीक्षित व्यक्तिका कर्त्तव्य है, चतुर्थाश्रमी गृह-त्यागियोंके लिए शिखासूत्र आदि रखना आवश्यक है, चतुर्थाश्रमी काषाय (गेरुएँ) वस्त्र धारण करते हैं, दीक्षाके समय पञ्चसंस्कार करना आवश्यक है; (२) चारों आश्रमोंके लोगोंके लिए तन, मन और वचनसे जीवहिंसा वर्जनीय है, केवल विष्णु-प्रसादका भोजन करना ही सभीके लिए विधि है; (३) अन्य देवताओंकी पूजा एवं अन्य-देवताओंका प्रसाद-भक्षण विशेष रूपसे निषिद्ध है; (४) जन्माष्टमी, एकादशी, व्यासपूजा आदि व्रत यथाविधि सभीके लिए पालनीय हैं; (५) विद्धा एकादशी या जन्माष्टमी सब प्रकारसे वर्जनीय हैं; (६) गृहस्थ वैष्णवोंके लिए विष्णु-प्रसादके द्वारा वैष्णव-विधानसे श्राद्ध करना आवश्यक है तथा प्रेतश्राद्ध आदि करना बहुत बड़ा दोष है।

श्रीनिम्बादित्याचार्य द्वारा प्रचारित सिद्धान्त—आचार्य श्रीनिम्बादित्यने चिन्त्य-द्वैताद्वैत-सिद्धान्तका प्रचार किया है। श्रीनिम्बादित्यने श्रुतियोंको ही स्वतःप्रमाण-शिरोमणिके रूपमें स्वीकार किया है। श्रुतियोंके अनुगत अन्यान्य शास्त्रोंको भी प्रमाणके रूपमें ग्रहण किया है। चतुःसनने श्रीनारद गोस्वामीको छान्दोग्योपनिषदके सप्तम-प्रपाठकके जो उपदेश प्रदान किये थे, उन्हींको श्रौत-परम्परामें श्रीनारदसे आचार्य निम्बादित्यने प्राप्तकर जगत्में प्रचार किया। छान्दोग्योपनिषदके सप्तम-प्रपाठकमें श्रीनारद गोस्वामीके प्रति श्रीलसनत्कुमारके उपदेशमें

एकायन-शाखाका उल्लेख (७/१/२), पुराण आदिको पञ्चम-वेदके रूपमें स्वीकार करना (७/१/४), विष्णुका सर्व-कर्त्तृत्व (७/१५/१), श्रद्धा और निष्ठारूपी भगवद्भक्तिका माहात्म्य (७/१९-२०/१), भगवत्-प्रेमका असमोर्द्धत्व (७/२३/१), नित्य भगवद्धामका माहात्म्य (७/२४/१), भगवान्का अन्यनिरपेक्षत्व (७/२४/२), परम-मुक्त पुरुषोंका नित्य-भगवत्-परिकरत्व और भगवान्के साथ चित्-विलास-धाममें नित्य विलासत्व (७/२५/२), भगवान्की आविर्भाव और तिरोभाव शक्तिमत्ता (७/२६/१), वैष्णवोंका नित्यत्व और अप्राकृतत्व (७/२६/२), भगवत्-प्रसादका माहात्म्य (७/२६/२) आदि सिद्धान्त दृष्टिगोचर होते हैं। वर्त्तमान समयमें प्रचलित दशश्लोकी—जिसे श्रीनिम्बार्क आचार्यके द्वारा रचित कहा जाता है, उसमेंसे इस प्रकारका सिद्धान्त संग्रह किया जाता है—

सर्वं हि विज्ञानमतो यथार्थकं
श्रुतिस्मृतिभ्यो निखिलस्य वस्तुनः।
ब्रह्मात्मकत्वादिति वेदविन्मतं
त्रिरूपतापि श्रुतिसूत्र-साधिता॥

"सभी वस्तुएँ ब्रह्मात्मक है। वेदज्ञोंका सिद्धान्त यह है कि ब्रह्मरूपी सत्-वस्तुसे असत्-वस्तुका उदय नहीं हो सकता है। वस्तुका विज्ञान ही निखिल वस्तुओंका यथार्थ तत्त्व है, यह श्रुति और स्मृतियोंके द्वारा जाना जाता है। वेदोंमें कहीं अद्वैत पोषक वचन, कहीं द्वैत पोषक वचन और कहीं दोनों प्रकारके वचन प्रतिष्ठित हैं, अतएव केवलाद्वैतवादका उनमें कोई भी स्थान नहीं है। श्रुति और ब्रह्मसूत्रके विचारसे अद्वैत और द्वैत—दोनों ही सिद्ध होनेके कारण द्वैताद्वैतवाद ही शास्त्रोंके तात्पर्यके रूपमें ग्रहणीय है।"

जीवके सम्बन्धमें श्रीनिम्बादित्यका सिद्धान्त—'अंशो नाना-व्यपदेशादन्यथा चाहि दाशकितवादित्वमधीयत एके' (ब्र० सू० २/३/४२)—इस सूत्रके निम्बार्क-भाष्यमें जीव और परमात्मामें

परस्पर भेदाभेद-सिद्धान्त ही निर्दिष्ट हुआ है। भाष्य यथा—"अंशांशि-भावात् जीव-परमात्मनोर्भेदाभेदौ दर्शयति, परमात्मनो जीवोऽंशः 'ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ' इत्यादिभेदव्यपदेशात्; 'तत्त्वमसि' इत्याद्य-भेदव्यपदेशाच्च। अपि च आथर्वणिकाः 'ब्रह्मदासा ब्रह्मदाशा ब्रह्मकितवा'—इति ब्रह्मणो हि कितवादित्वमधीयते।" अर्थात् सूत्रकारने जीव और परमात्मामें अंश और अंशीका भाव अथवा भेदाभेद भाव प्रदर्शित कर रहे हैं—जीव परमात्माका अंश है, क्योंकि 'ज्ञ' और 'अज्ञ'—'ईश्वर' और 'जीव'—दोनों ही अज एवं नित्य—इत्यादि श्रुति वाक्योंमें जीव और ईश्वरका भेद-सिद्धान्तके रूपमें स्थापित हुआ है। पुनः 'तत्त्वमसि' इत्यादि श्रुतियोंमें जीव और ब्रह्ममें अभेद उपदिष्ट हुआ है। अथर्वशाखिगण दास एवं धूर्त्तोंको भी 'ब्रह्म' कहते हैं। अतएव जीव और ब्रह्ममें भेदाभेद या अंश-अंशीका सम्बन्ध है।

दशश्लोकी नामक ग्रन्थमें यह सिद्धान्त पाया जाता है—जीव ज्ञान-स्वरूप और ज्ञातृ-स्वरूप है, अहंपदवाच्यत्वहेतु—ज्ञान-स्वरूप है, और चैतन्यधर्मवशतः—ज्ञाता-स्वरूप है। जिस प्रकार सूर्य स्वयं प्रकाश स्वरूप होकर भी जगत्-प्रकाशक-स्वरूप होते हैं, उसी प्रकार चैतन्य-धर्म विशिष्ट जीव ज्ञान-स्वरूप होकर भी ज्ञातृत्वधर्मसे युक्त है। जीव अणु-चैतन्य हैं और वह बृहद्-चैतन्य परमेश्वरके अधीन हैं। जीव संख्यामें अनन्त हैं। प्रत्येक देहमें भिन्न-भिन्न जीव स्थित रहता है, अणु होनेके कारण जीव मायिक शरीरसे योग और वियोग होनेके योग्य है। जीव जब माया द्वारा बद्ध होता है, तब वह लिङ्ग और स्थूल शरीरसे युक्त रहता है, मुक्त अवस्थामें जीवका लिङ्ग और स्थूल शरीरसे वियोग हो जाता है। जीव तीन प्रकारके हैं—(१) मुक्त, (२) बद्धमुक्त और (३) बद्ध। जो श्रीहरिके पदाश्रित है और उनकी सेवा करते हैं, वे 'मुक्त' हैं, जो पहले मायाबद्ध थे, किन्तु साधु-गुरु-वैष्णवोंकी अनुकम्पासे भगवत्-कृपाको प्राप्त कर चुके हैं अथवा करेंगे वे 'बद्धमुक्त' हैं, और जो भगवत्-बहिर्मुख होकर मायाका भोग करनेमें प्रवृत्त हैं,

वे 'बद्ध' हैं। मुक्त, बद्धमुक्त और बद्धजीव पुनः अवस्था भेदसे अनेक प्रकारके हैं। (१) मुक्तजीवोंकी पार्षद और पार्षदानुगत आदि अनेक अवस्थाएँ हैं। (२) बद्धमुक्तजीव भी पार्षद और साधक-भेदसे अनेक प्रकारके हैं। (३) बद्धजीव भी विषयी, विवेकी और मुमुक्षु आदि भेदोंसे विविध प्रकारके हैं। माया अनादि है, भगवत्-बहिर्मुख होनेके कारण ही जीव मायाबद्ध होते हैं अतएव एकमात्र भगवत्-कृपासे ही जीव अनादि मायासे मुक्त हो सकते हैं, अन्य उपायोंसे उनका मुक्त होना असम्भव है।

जड़के सम्बन्धमें श्रीनिम्बादित्यका सिद्धान्त—जड़ या अचेतन पदार्थ दो प्रकारके हैं—काल और माया। उसमेंसे काल अप्राकृत और प्राकृत भेदसे दो प्रकारके हैं। अप्राकृत काल माया प्रकृतिसे अतीत चित्-स्वरूप है। भगवत्-इच्छासे ही कालकी क्रिया होती है। अतः काल स्वयं अचेतन अर्थात् क्रियाहीन प्रकृतिसे अतीत अवस्थामें चित्-द्रव्य-विशेषके रूपमें नित्य वर्त्तमान है, किन्तु प्रकृतिके अन्तर्गत अवस्थामें काल भूत-भविष्यत्-वर्त्तमानके अन्तर्गत होकर जड़-द्रव्य-विशेष है। वस्तुतः चित्-कालका मायिक विकार दर्शन ही मायिक काल है। छाया-धर्म-विशिष्टा मायाप्रकृति चिद्विकारमात्र है। वह प्रधान और अविद्याके भेदसे एवं निमित्त और उपादानके भेदसे नाना प्रकारकी कही जाती है। वेदोंमें 'अजामेकां लोहित-कृष्णशुल्कां'—इस मन्त्रके द्वारा मायाका त्रिगुणत्व भेदादि प्रदर्शित हुआ है। मायातत्त्वके चित्-तत्त्वके समान होनेपर भी अर्थात् छायारूपी वस्तुमें छायावान आदर्शकी समता रहनेपर भी उनमें पार्थक्य दृष्टिगोचर होता है। समस्त जड़-जगत् एवं बद्धजीवोंका लिङ्ग और स्थूल देह अचेतन तत्त्व है।

ईश्वरके सम्बन्धमें श्रीनिम्बादित्यका सिद्धान्त—भगवत्-तत्त्व निर्दोष है; अर्थात् मोह, तन्द्रा, भ्रम आदि अट्ठारह प्रकारके दोष भगवत्-स्वरूपमें नहीं है। भगवत्-स्वरूपमें असीम-कल्याणराशि सम्पूर्ण रूपसे विद्यमान है। वह भगवत्-तत्त्व कृष्णस्वरूपमें

परब्रह्म हैं। वे समस्त सौन्दर्य और माधुर्यके मूल हैं; गोलोक-चतुर्व्यूह, परव्योम-चतुर्व्यूह और अन्यान्य चतुर्व्यूहगण उनके अङ्ग हैं और वे मूल अङ्गी हैं। वे अपनी स्वरूपशक्ति वृषभानुनन्दिनी एवं वृषभानुनन्दिनीकी काय-व्यूहस्वरूपा हजारों-हजारों सखियोंके द्वारा सर्वदा परिसेवित होकर जीवोंके नित्य आराध्य हैं। वे नित्य अप्राकृत विग्रह युक्त हैं। वे प्राकृत हाथ-पैर आदिसे रहित होनेके कारण प्राकृत नेत्रोंसे 'निराकार' और अप्राकृत हाथ-पैरवाले होनेके कारण अप्राकृत नेत्रोंसे 'साकार' दिखलायी देते हैं। वे स्वतन्त्र, सर्वशक्तिमान, सर्वेश्वरेश्वर, अविचिन्त्यशक्तिसे सम्पन्न हैं और ब्रह्मा-शिवादि देवताओंके द्वारा नित्य वन्दित हैं।

उपासना—समस्त जीवोंका एकमात्र कर्त्तव्य ब्रह्मा, शिव आदिके द्वारा वन्दित सर्वेश्वरेश्वर श्रीकृष्णकी ही अनन्य भावसे उपासना करना है। विष्णुके अतिरिक्त अन्य देवताओंकी उपासना निन्दित और नरक प्रदायनी है। उपासना या भक्ति दो प्रकारकी है—(१) साधनरूपी अपराभक्ति और (२) प्रेमलक्षणारूपी उत्तमाभक्ति। श्रवण-कीर्त्तन आदि नवधा-साधनभक्तिका पालन करनेसे प्रेम-लक्षणा उत्तमाभक्तिका उदय होता है।

श्रीनिम्बादित्यसे निमायेत् सम्प्रदाय प्रचलित हुआ है। कुछ लोग निमानन्दि-सम्प्रदायको निमायेत्-सम्प्रदायका नामान्तर माननेकी भूल करते हैं, किन्तु वास्तवमें वैसा नहीं है। श्रीचैतन्यमहाप्रभुका एक अन्य नाम 'निमाई' है। 'निमाई' नाम श्रीनित्यानन्द प्रभुका अत्यन्त प्रिय होनेके कारण श्रीवक्रेश्वर पण्डितके शिष्य श्रीगोपाल गुरु गोस्वामीने श्रीमन् महाप्रभुको 'निमानन्द' नामसे प्रचार किया है। जैसा कि उनके द्वारा रचित पद्यमें है—

"ततः श्रीकृष्णचैतन्यः प्रेमकल्पद्रुमो भुवि।
निमानन्दाख्यया यो सौ विख्यातः क्षितिमण्डले॥"

जो पृथ्वीपर 'निमानन्द' के नामसे जाने जाते थे, वे ही बादमें प्रेमकल्पतरु 'श्रीकृष्णचैतन्य' के नामसे विख्यात हुए।

“जो लोग श्रीमध्वाचार्यसे ईश्वरपुरी तक (आम्नाय) परम्पराको छोड़कर एक नये सम्प्रदायको मानते हैं, वे श्रीमन् महाप्रभुको ‘निमानन्द’ मानकर स्वयंको ‘निमानन्द-सम्प्रदाय’ के अनुगत कहकर परिचय दिया करते हैं। किन्तु वस्तुतः निमानन्द-सम्प्रदाय निमायेत्-सम्प्रदायसे पृथक् है।” (सज्जनतोषणी, प्रथम खण्ड, पृष्ठ २१६)

कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि आरुणिनन्दन श्रीनिम्बादित्य आचार्यने सनत्कुमारके शिष्य श्रीनारद मुनिसे जिन उपदेशोंको प्राप्त करके जगत्में उनका प्रचार किया था, उस मतके अनुगत जो सम्प्रदाय था वह बहुत समय पहले ही लुप्त हो गया है। इसलिए सायनमाधवके ‘सर्वदर्शन-संग्रह’ में श्रीविष्णुस्वामी, श्रीरामानुज और श्रीमध्वका नाम और उनके द्वारा प्रचारित सिद्धान्तोंका उल्लेख रहनेपर भी श्रीनिम्बार्काचार्य एवं उनके द्वारा प्रचारित मतके नामका भी कहीं उल्लेख नहीं है। इसलिए निश्चय ही वर्त्तमान निम्बार्क-सम्प्रदाय कुछ समय पूर्व ही प्रचलित हुआ है। कुछ अन्य लोग ऐसा कहते हैं कि श्रीमन् महाप्रभुके आविर्भावके उपरान्त श्रीवल्लभाचार्य-सम्प्रदायकी भाँति ही वर्त्तमान निम्बार्क-सम्प्रदाय प्रचारित हुआ है। श्रीमन् महाप्रभु द्वारा प्रचारित सिद्धान्त और उपासना आदिके साथ वर्त्तमान निम्बार्क-सम्प्रदायकी बहुत अधिक समानता होनेके कारण और अन्यान्य विविध कारणोंसे बहुत-से लोग इस बातको मानते हैं। गौड़ीय-वैष्णव-सिद्धान्ताचार्यवर्य श्रील जीव गोस्वामी प्रभुने श्रीमद्विष्णुस्वामी, श्रीमद्रामानुज और श्रीमन् मध्व सम्प्रदायके नाम और सिद्धान्तोंका अपने सन्दर्भ और सम्वादिनी आदि ग्रन्थोंमें उल्लेख किया है, किन्तु उन्होंने निम्बार्क-सम्प्रदायके नामका कहीं भी उल्लेख क्यों नहीं किया? इसका क्या कारण हो सकता है? इससे बहुत-से विद्वान् ऐसा अनुमान करते हैं कि ‘सर्वदर्शन-संग्रह’ नामक ग्रन्थकी रचनाके बाद, यहाँ तक कि वृन्दावन, गोवर्द्धन आदि स्थान-निवासी श्रीगौड़ीय-वैष्णवाचार्य गोस्वामियोंके समयमें भी वर्त्तमान प्रचलित निम्बार्क-सम्प्रदायके मतका विशेष विस्तार नहीं हो पाया था। जैसा भी हो, आचार्य

निम्बादित्य एक सुप्राचीन सात्वत द्वैताद्वैत सम्प्रदायके प्रवर्त्तक आचार्य हैं, इस विषयमें कोई सन्देह नहीं है। वर्त्तमान प्रचलित निम्बार्क–सम्प्रदायका मत सर्वाचार्य श्रीमन् महाप्रभु द्वारा प्रचारित सिद्धान्तके द्वारा परिपुष्ट होकर जगत्‌में प्रकाशित होनेपर भी प्राचीन सात्वत आचार्य श्रीमन् निम्बादित्यके द्वारा प्रचारित सिद्धान्त छान्दोग्योपनिषदके सप्तम प्रपाठकमें श्रीसनत्‌कुमारके उपदेशोंसे संग्रह किया जाता है।
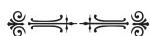
आचार्य श्रीरामानुज

संक्षिप्त जीवन-चरित्र—शकाब्दीय दशम शताब्दीके प्रारम्भमें धर्मशास्त्र-प्रणेता हारीतके वंशमें श्रीकेशवाचार्य नामक एक द्राविड़-ब्राह्मण मद्रास (वर्त्तमान चैन्नई) से प्रायः तेरह कोस पश्चिममें श्रीपरमवत्तुर या श्रीमहाभूतपुरी नामक ग्राममें निवास करते थे। श्रीकेशव और उनकी पत्नी कान्तिमती दोनों ही सदाचारसम्पन्न एवं समस्त सद्गुणोंसे विभूषित थे। एक समय उन्होंने पुत्रकी कामनासे कैरविणी-सागर-सङ्गममें स्नान किया और श्रीभगवान्के समक्ष अपने-अपने मनके दुःखको प्रकट किया। भगवान् श्रीपार्थसारथिने उन्हें आश्वासन दिया कि वे शीघ्र ही उनका मनोऽभीष्ट पूर्ण करेंगे।

उस समय सनातन-वैष्णवधर्म-क्षेत्र भारतवर्ष भक्ति-विरोधी व्यक्तियों द्वारा आप्लावित हो रहा था। परममङ्गलमय भगवान् श्रीहरिने जीवोंका इस महाविपत्तिसे उद्धार करनेके लिए अपनी सङ्कर्षण-शक्तिको विष्णु-विरोधी प्रदेशमें भेजनेका सङ्कल्प किया। भगवान्की इच्छासे सदाचारनिष्ठ आसुरि[१] केशवाचार्य दीक्षित और भगवद्भक्तिपरायण श्रीकान्तिमतीका आश्रय लेकर ९३८ शकाब्दकी चैत्र-शुक्ल-पञ्चमी तिथि बृहस्पतिवारको आर्द्रा नक्षत्रमें दोपहरके समय महाभूतपुरी गाँवमें सङ्कर्षण-शक्ति इस जगत्में अवतीर्ण हुई। कुछ लोगोंके मतानुसार खृष्टीय द्वादश शताब्दीके मध्यकालमें श्रीकेशवके पुत्र (रामानुज) इस जगत्में आविर्भूत हुए।

कान्तिमती प्रसिद्ध दिव्यसूरि श्रीयामुनाचार्यके शिष्य श्रीशैलपूर्णकी बड़ी बहन थीं। श्रीशैलपूर्ण श्रीरङ्गममें निवास करते थे। कान्तिमतीके घर एक पुत्ररत्नका आविर्भाव हुआ है, यह सुनकर वे बालकको देखनेके लिए महाभूतपुरी ग्राममें आये और उस शिशुमें भगवान्

---

[१] यह श्रीकेशवाचार्यकी जाति विशेष है।

श्रीरामके अनुज लक्ष्मण जैसे लक्षणोंको देखकर उन्होंने बालकका नाम 'लक्ष्मण' रखा।

शैशवकालसे ही लक्ष्मणकी सुतीक्ष्ण बुद्धि और अपूर्व प्रतिभा परिलक्षित होने लगी। बाल्यकालमें ही उनमें भगवद्भक्तिके प्रति अत्यन्त अनुराग, विशेषतः वैष्णवोंका सङ्ग एवं उनकी सेवाके प्रति असाधारण लोभ दिखायी देने लगा। उस समय काञ्चिपूर्ण नामक एक परम-भागवत काञ्चीनगरीमें प्रतिष्ठित भगवान् श्रीवरदराजके एकनिष्ठ सेवक थे। वैष्णवोंमें जातिकुलकी निरर्थकताका प्रचार करनेके लिए ही काञ्चीपूर्ण कृपापूर्वक नीच शूद्रकुलमें आविर्भूत हुए थे। वे भागवतप्रवर प्रति दिन भगवान् श्रीवरदराजकी सेवा-पूजाके लिए अपने जन्मस्थान पुणामेलिसे काञ्चीपुरी जाते थे। काञ्चीनगरी जाते समय श्रीकेशवका घर उनके मार्गमें पड़ता था। बालक लक्ष्मण काञ्चिपूर्णको देखनेमात्रसे ही उन्हें 'परम वैष्णव' जानकर उनकी सेवा करनेके लिए व्याकुल हो जाते थे। एक दिन माता-पिताकी अनुमतिकी अपेक्षा न कर बालक लक्ष्मणने काञ्चिपूर्णको अपने घरमें भोजनके लिए आमन्त्रित किया एवं अपने हाथोंसे उन्हें भलीभाँति भोजन परोसकर उनके पाद-सम्वाहन (चरणसेवा) करनेके लिए उद्यत हुए। काञ्चिपूर्णने उस सद्ब्राह्मणके पुत्र बालक लक्ष्मणका ऐसा व्यवहार देखकर अपना वैष्णवोचित दैन्य प्रकाश करते हुए कहा—"मैं तो अत्यन्त नीच शूद्र हूँ, अतएव ब्राह्मणके पुत्रके लिए मेरे जैसे शूद्रकी सेवा करना उचित नहीं है।" यह बात सुनकर बालक लक्ष्मणने अत्यन्त दुःखी होकर कहा—"प्रभो! वैष्णव कभी शूद्र नहीं होते, वैष्णव ही ब्राह्मणोंके गुरु हैं। देखिये, 'तिरुप्पान अलवर' चण्डालकुलमें जन्म लेकर भी ब्राह्मणोंके पूजनीय हुए थे।" बाल्यकालसे ही लक्ष्मणमें ऐसी वैष्णवोचित सद्बुद्धि अर्थात् वैष्णवोंके प्रति अप्राकृत बुद्धिका आदर्श परिलक्षित हुआ था।

कैशोर अवस्था बीत जानेपर द्रविड़-कुल-तिलक लक्ष्मणने माता-पिताके आग्रहसे विवाह किया। उनके गृहस्थ-आश्रममें प्रवेश

करनेके कुछ समय पश्चात् श्रीकेशव दीक्षित परलोक सिधार गये। पिताके परलोक गमनके पश्चात् लक्ष्मणने कुछ समय तक अपनी पत्नी और माताके साथ गृहमें वास किया। उसी समय लक्ष्मणके हृदयमें शास्त्र अध्ययनकी प्रबल अभिलाषा उत्पन्न हुई। श्रीकाञ्चीपुरीमें श्रीयादवाचार्य नामक एक अध्यापककी वेदशास्त्रमें विशेष पारदर्शिताकी बात सुनकर लक्ष्मणने उनके ही निकट जाकर वेदान्त अध्ययन करना आरम्भ कर दिया। काञ्चीपुरी मोक्ष-दायिका सप्तपुरियोंमेंसे एक है और महाभूतपुरीके समीप ही अवस्थित है। काञ्चीका वर्त्तमान नाम काञ्जीवरम् है, यह नगर मद्रासके पश्चिममें बारह कोसके बीचमें ही अवस्थित है। चोलराजाओंके राज्यकालमें काञ्चिपुरी विद्याशिक्षाका एक प्रधान केन्द्र और साथ ही सरस्वती-समार्चनाका पीठ और दक्षिण भारतका शिरोभूषण स्वरूप था।

श्रीलक्ष्मणदेशिक काञ्चीनगरीमें अपने गुरु यादवाचार्यके निकट उनकी यथाविधि सेवा करते हुए वेदान्तका अध्ययन करने लगे। एक दिन काञ्चीके महाराजने मन्त्र-शास्त्रमें कुशल यादवाचार्यको ब्रह्मराक्षससे ग्रस्त काञ्चीकी राजकुमारीका प्रेत दूर करनेके लिए बुलवाया। महाराजके बुलानेपर यादवाचार्य लक्ष्मणदेशिकको साथ लेकर राजभवनमें उपस्थित हुए। किन्तु अपने मन्त्रोंका यथाशक्ति प्रयोग करनेपर भी यादवाचार्य राजकुमारीको उस प्रेतसे मुक्ति दिलानेमें समर्थ नहीं हुए। तब वह ब्रह्मराक्षस यादवाचार्यका नाना प्रकारसे तिरस्कारकर उसे भयभीत करने लगा। उस प्रेतने बतलाया कि यादवाचार्य पूर्व जन्ममें 'गोसाप' (गोह)[१] थे। अनजानेमें किसी वैष्णवके उच्छिष्टका सेवन करनेके फल-स्वरूप वे वर्त्तमान जन्ममें ब्राह्मण हुआ है। इतनी बात बतलाकर प्रेतने कहा कि यदि यादवाचार्यके समीप बैठे श्रीलक्ष्मणदेशिकका चरणामृत मुझे मिल जाये तो मैं राजकुमारीकी देहसे चला

[१] छिपकलीकी जातिका एक जङ्गली जन्तु, जो आकारमें नेवलेसे कुछ बड़ा होता है। इसकी फुसकारमें बड़ा विष होता है।

जाऊँगा। उसके कहनेके अनुसार श्रीलक्ष्मणदेशिकने राजकन्याकी देहका आश्रय लेनेवाले उस ब्रह्मराक्षसपर कृपा की और उनके चरणामृतका पान करते ही वह ब्रह्मराक्षस राजकुमारीके शरीरको छोड़कर चला गया। अपने शिष्यका अपनेसे अधिक सम्मान होते देखकर यादवाचार्य बड़े दुःखी हुए। इस घटनाके पश्चात् यादवाचार्य अपने शिष्य लक्ष्मणदेशिकसे ईर्ष्या और विद्वेष करने लगे।

एकदिन प्रातःकाल श्रीलक्ष्मण अपने अध्यापक यादवाचार्यके अङ्गोंपर तेलकी मालिश कर रहे थे, उस समय यादवाचार्यके एक अन्य शिष्यने यादवाचार्यके निकट आकर छान्दोग्योपनिषदके—'तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी' (१/६/७) मन्त्रके 'कप्यासं' शब्दका अर्थ पूछा। श्रीयादवाचार्यने अपने पूर्वाचार्य श्रीपाद शङ्करकी व्याख्याके अनुसार 'कप्यासं' शब्दका 'कपिर आसन' अर्थात् 'वानरके पिछले भागकी भाँति लाल'—यह अर्थ किया। 'कप्यासं' शब्दका ऐसा अर्थ होनेपर श्रुतिके उस मन्त्रके अंशका अर्थ इस प्रकार होगा—"उस हिरण्मय-पुरुषके दोनों नेत्र वानरके पिछले भागकी भाँति लाल कमल तुल्य हैं।" श्रीलक्ष्मणदेशिक अपने अध्यापकके मुखसे उस मन्त्रकी ऐसी व्याख्या सुनकर बहुत दुःखी हुए। उनके नेत्रोंसे अश्रुधारा निकलकर उनकी हृदय-विदारक पीड़ा (दुःख) को प्रकट करने लगी। अध्यापककी सेवा कर रहे श्रीलक्ष्मणदेशिकके दुःखकी अग्निसे जलते हृदयके तापको प्रकाशित करनेवाले दो-एक अत्यन्त गर्म अश्रुबिन्दु अनजानेमें ही यादवाचार्यके अङ्गोंपर गिर पड़े।

यादवाचार्यने लक्ष्मणको अचानक बिना किसी कारणके रोते देखकर उससे रोनेका कारण पूछा। तब लक्ष्मणने कहा कि उन्होंने 'कप्यासं' श्रुतिमन्त्रकी जो व्याख्या की है, उसे सुनकर उनके हृदयको बड़ा आघात लगा है। पुण्डरीकाक्ष श्रीभगवान् विष्णुके दोनों नेत्रोंकी लालिमाका वानरके पिछले भागसे तुलना करना अपराधकी चरमसीमाका परिचय है। यादवाचार्य लक्ष्मणकी यह

बात सुनकर बड़े क्रोधित हुए और बोले—"मूढ़! तू आचार्य शङ्करकी व्याख्यामें दोषारोपण कर रहा है, तुम्हारा इतना साहस! यदि तुममें शक्ति है तो तुम आचार्य शङ्करकी व्याख्याकी अपेक्षा उत्तम व्याख्या करके दिखाओ?" तब श्रीलक्ष्मणने 'कप्यासं' शब्दका 'कं जलं पिबति इति कपिः'—सूर्यः एवं 'अस्' धातु विकसनार्थ अतएव 'आस्' शब्दसे 'विकसित'; अतएव 'कप्यासं' शब्दका अर्थ 'सूर्यके द्वारा विकसित' हुआ। 'कप्यासं' शब्दका ऐसा अर्थ होनेपर समग्र श्रुतिमन्त्रका अर्थ इस प्रकार हुआ—"उस आदित्यमण्डलके मध्यस्थानमें विष्णुके दोनों नेत्र सूर्यके द्वारा विकसित कमलकी भाँति लाल हैं।" यादवाचार्य लक्ष्मणके मुखसे इस प्रकारका अर्थ सुनकर बोले कि यह मुख्यार्थ नहीं, गौणार्थ है। किन्तु वे भीतर-ही-भीतर समझ गये कि यह बालक साधारण नहीं है, भविष्यमें यह शङ्कराचार्यके द्वारा स्थापित अद्वैत मतका एक विशेष शत्रु होगा।

किसी एक अन्य समय जब यादवाचार्य शङ्कराचार्यके भाष्यके आधारपर तैत्तिरीयोपनिषदके 'सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म' (आनन्द-वल्ली-२) मन्त्रके अंशकी व्याख्या कर रहे थे, तब लक्ष्मणने इस प्रकारकी निर्विशेषपरक व्याख्याको सुनकर उसमें नाना प्रकारके दोष दिखलाये एवं परब्रह्मके सविशेषत्वको स्थापित किया। यादवाचार्यने इस प्रकार पुनः-पुनः शिष्यके निकट अपमानित होकर उसे अपने अद्वैतवादी सम्प्रदायका एक भविष्यत-कालीन परमशत्रु मान लिया और उसने श्रीलक्ष्मणको मार डालनेके लिए एक षड़यन्त्रकी रचना की।

एक दिन उन्होंने त्रिवेणी-स्नानके लिए प्रयाग जानेका निश्चय किया और अन्य शिष्योंके साथ लक्ष्मणको भी अपने साथ चलनेके लिए सहमत कर लिया। किन्तु उनका उद्देश्य प्रयागके त्रिवेणी-सङ्गममें स्नान करनेका नहीं था, अपितु हिंसक जङ्गली पशुओंसे भरे हुए वनके बीचमें हिंसक पुशओं द्वारा लक्ष्मणको मरवा डालनेका था। लक्ष्मण और उनके गुरु-भ्राता यादवाचार्यके

प्रस्तावके अनुसार उनके साथ गङ्गा-स्नानके लिए चल पड़े। काञ्चीसे प्रयाग जानेके मार्गमें विन्ध्यगिरिके निकट लक्ष्मणकी मौसीके पुत्र एवं यादवाचार्यके शिष्य गोविन्दने लक्ष्मणको एकान्तमें ले जाकर यादवाचार्य द्वारा उन्हें मारनेके षड़यन्त्रके विषयमें बतलाया और उन्हें अपने प्राणोंकी रक्षाके लिए उस स्थानसे शीघ्रातिशीघ्र भाग जानेका परामर्श दिया। लक्ष्मण यादवाचार्यके षड़यन्त्रकी बात सुनकर अपनी रक्षाके लिए गन्तव्य पथको छोड़कर अन्य मार्गसे भाग गये। कुछ दूर जानेके बाद अत्यन्त थककर उन्होंने एक वृक्षके नीचे आश्रय लिया।

(दूसरी ओर, जहाँ यादवाचार्य अपने शिष्योंके साथ वास कर रहे थे वहाँ) मूसलाधार वर्षा होने लगी जिससे यादवाचार्य और उनके शिष्योंको बड़ा कष्ट होने लगा। तभी गोविन्दको अकेले लौटते देखकर यादवाचार्यने उनसे पूछा—"लक्ष्मण कहाँ गया?" गोविन्दने कहा—"लक्ष्मण तो मुझसे पहले ही चले आये हैं, ऐसा जानकर मैं उनके पीछे-पीछे आया हूँ।" यादवाचार्यकी आज्ञानुसार उनके शिष्योंने लक्ष्मणको इधर-उधर बहुत ढूँढ़ा, परन्तु उन्हें लक्ष्मणका कुछ भी पता नहीं चला। अन्तमें यादवाचार्य लक्ष्मणको मृत मानकर निश्चिन्त हो गये और स्वयंको कृतार्थ मानने लगे।

इधर श्रीलक्ष्मणदेशिक एक वृक्षके नीचे बैठकर श्रीभगवान्‌का स्मरण कर रहे थे। कुछ समय पश्चात् उन्होंने एक व्याध-दम्पतिको उधरसे जाते हुए देखा। यह जानकर कि वह व्याध-दम्पति भी काञ्चीपुर जा रहे हैं, श्रीलक्ष्मणने उनके साथ चलना आरम्भ कर दिया। सन्ध्याके समय वे लोग एक वृक्षके नीचे विश्राम करने लगे। व्याध-पत्नीने व्याधसे कहा। "मुझे प्यास लगी है, कहींसे जल लाइये।" जैसे ही व्याध जल लानेके लिए तत्पर हुआ, श्रीलक्ष्मण स्वयं उनके लिए जल लानेके लिए प्रस्तुत हो गये, परन्तु व्याधने घोर रात्रिके समय लक्ष्मणको कहीं जाने नहीं दिया। प्रातःकाल होते ही व्याधने लक्ष्मणको जल लानेके लिए कहा, तो उन्होंने निकट ही सीढ़ियोंसे युक्त एक मीठे जलके कुएँसे

अञ्जलिके द्वारा तीन बार जल लाकर व्याधकी पत्नीको पिलाया और उसकी परितृप्ति की। जब वे चौथी बार कुएँसे जल लेकर आये तो उन्हें वह व्याध-दम्पति कहीं दिखायी नहीं दिये और उन्होंने सघन वनके स्थानपर निकट ही एक गाँव देखा। किसी पथिकसे पूछनेपर उन्हें पता चला कि ये कोई दूसरा गाँव नहीं है, अपितु उनकी अभीष्ट काञ्चीपुरी ही है। अपने घर लौटकर लक्ष्मणने जब यह सारा वृत्तान्त परम-भागवत काञ्चीपूर्णको सुनाया तो काञ्चीपूर्णने कहा कि स्वयं लक्ष्मी-नारायणने ही व्याध-दम्पतिके रूपमें आकर तुम्हारी रक्षा की और तुम्हारी सेवा ग्रहण की। काञ्चीपूर्णने लक्ष्मणको प्रतिदिन सीढ़ियोंसे युक्त उसी कुएँसे जल लाकर श्रीवरदराजकी सेवा करनेका आदेश दिया।

इधर जब यादवाचार्य अपने शिष्योंके साथ काञ्चीपुरी लौटकर आये और वहाँ लक्ष्मणको देखा तो वे बड़े आश्चर्यचकित हुए। किन्तु बाहरसे आनन्दका भाव दिखलाकर उन्होंने लक्ष्मणसे पुनः अपने समीप अध्ययन करनेके लिए अनुरोध किया। लक्ष्मण भी भविष्यमें यादवाचार्यपर कृपा करनेके लिए पुनः उनके समीप अध्ययन करनेका अभिनय करने लगे।

धीरे-धीरे श्रीलक्ष्मणके प्रभावका सर्वत्र प्रचार होने लगा। श्रीरङ्गमके दिव्यसूरि श्रीयामुनाचार्यने उनकी वैष्णवी प्रतिभाके विषयमें सुनकर उन्हें भविष्यमें वैष्णव-सम्प्रदायके संरक्षकके रूपमें हृदयङ्गम कर लिया। कुछ समय पश्चात् श्रीयामुनाचार्य भगवान् श्रीवरदराजका दर्शन करनेकी अभिलाषासे काञ्चीपुरीमें आये एवं वहाँ उन्होंने यादवाचार्यके साथ लक्ष्मणको देखा। श्रीयामुनाचार्य लक्ष्मणको दूरसे देखकर ही विशेष प्रसन्न हुए, किन्तु अपना मनोभाव न बतलाकर अथवा श्रीलक्ष्मणसे कोई बातचीत न कर वे उन्हें अपने सम्प्रदायमें लानेका उपाय सोचने लगे। श्रीयामुनाचार्यने श्रीरङ्गममें लौटकर अपने शिष्य पूर्णाचार्यको काञ्चीमें श्रीवरदराजके निकट अपने द्वारा रचित 'स्तोत्ररत्न' का पाठ करनेके लिए भेजा। श्रीलक्ष्मण श्रीवरदराजके मन्दिरमें पूर्णाचार्यके मुखसे श्रीयामुनाचार्य

द्वारा रचित उस अपूर्व 'स्तोत्ररत्न' का श्रवणकर यामुनमुनिका दर्शन करनेके लिए व्यग्र हो उठे। पूर्णाचार्य भी आदरपूर्वक लक्ष्मणको अपने साथ लेकर श्रीरङ्गक्षेत्रमें उपस्थित हुए, किन्तु मार्गमें ही श्रीयामुनाचार्यके अप्रकटलीलामें प्रवेश करनेके विषयमें सुनकर वे दोनों बड़े दुःखी हुए, क्योंकि उनके मनकी अभिलाषा पूर्ण नहीं हो सकी। श्रीयामुनाचार्यका चिदानन्द कलेवर किसी भी प्रकारसे स्मार्त्त-ब्राह्मणोंके द्वारा स्पर्श न हो, इसलिए पूर्णाचार्य अत्यन्त विरह-वेदनाके बीचमें भी स्वयंको और लक्ष्मणको किसी प्रकार आश्वस्तकर श्रीयामुनाचार्यके अप्राकृत कलेवरके निकट उपस्थित हुए।

वहाँ पहुँचकर श्रीलक्ष्मणदेशिकने श्रीयामुनाचार्यकी तीन अङ्गुलियोंको बन्द अवस्थामें देखा और अपनी विद्वत्-प्रतीतिके द्वारा उन्होंने समझ लिया कि इन महात्माके कोई तीन विशेष जगत्का मङ्गल करनेवाले मनोऽभीष्ट अपूर्ण हैं। उनके शिष्योंसे उनकी तीन अपूर्ण इच्छाओंके विषयमें सुनकर लक्ष्मणदेशिक सबके समक्ष ही स्पष्ट रूपसे प्रथम प्रतिज्ञा कर बोले—(१) "मैं श्रीवैष्णव-मतको ग्रहणकर अज्ञानसे मोहित जीवोंको पञ्चसंस्कारसे सम्पन्न, द्राविड़ आम्नायमें पारदर्शी और सर्वदा शरणागति धर्ममें दीक्षित करूँगा।" उनके इस प्रकार कहते ही श्रीयामुनाचार्यकी तीन बन्द अङ्गुलियोंमेंसे एक अङ्गुली सीधी हो गयी। तब लक्ष्मणदेशिकने दूसरी प्रतिज्ञा करते हुए कहा—(२) "जगत्-जीवोंके कल्याणके लिए मैं परमतत्त्व संग्रहपूर्वक वेदान्तसूत्रके श्रीभाष्यकी रचना करूँगा।"—ऐसा कहनेके साथ ही श्रीयामुनाचार्यकी द्वितीय अङ्गुली सीधी हो गयी। पुनः लक्ष्मणने तीसरी प्रतिज्ञा करते हुए कहा—(३) "पराशर ऋषिने जीव और ईश्वर आदिके स्वभाव, उपाय आदिका प्रकाशकर जिस पुराण-रत्नकी रचना की है, मैं उसका अभिधान प्रस्तुत करूँगा।"—ऐसा कहते ही श्रीयामुनाचार्यकी तीसरी अङ्गुली भी स्वाभाविक रूपमें सीधी हो गयी। वहाँ उपस्थित सभी लोग लक्ष्मणदेशिककी इस अलौकिक शक्तिको देखकर अत्यन्त विस्मित

हुए और उन्होंने लक्ष्मणको ही भविष्यकालमें समग्र वैष्णव-सम्प्रदायकके एकमात्र संरक्षकके रूपमें अङ्गीकार किया। तत्पश्चात् श्रीलक्ष्मणदेशिक काञ्चीपुरीमें लौटकर श्रीयामुनाचार्यके शिष्य काञ्चीपूर्णके प्रति अत्यन्त अनुरक्त हो गये।

लक्ष्मणदेशिकमें बाल्यकालसे ही वैष्णवोंके प्रति नित्य सिद्ध अप्राकृत बुद्धि थी। काञ्चीपूर्णके शूद्रकुलमें आविर्भूत होनेपर भी लक्ष्मणने उनसे दीक्षारूपी कृपा ग्रहण करनेके लिए एवं किसी उपाय द्वारा उनका उच्छिष्ट पानेके लिए उन्हें अपने घरमें भोजनके लिए आमन्त्रित किया। वैष्णवप्रवर काञ्चीपूर्णने भी इसके प्रत्युत्तरमें अपने कौशलसे लक्ष्मणदेशिककी स्मार्त्त विचारोंवाली पत्नीकी वञ्चनाकर उसके द्वारा अपने उच्छिष्ट प्रसाद सहित पत्तेको भी बाहर फेंकवा दिया। इस प्रकार काञ्चीपूर्णने अपना उद्देश्य सिद्ध कर लिया और लक्ष्मणकी आकांक्षा पूर्ण नहीं हो सकी। काञ्चीपूर्णके द्वारा इस प्रकार अस्वीकार किये जानेपर लक्ष्मणने उनसे ही उपयुक्त गुरु प्राप्त करनेके विषयमें परामर्श किया। काञ्चीपूर्णने कहा कि वे श्रीवरदाराजसे इस विषयमें पूछकर लक्ष्मणको उनका आदेश बतलायेंगे। तत्पश्चात् काञ्चीपूर्णने स्वप्नमें श्रीवरदराजका आदेश जानकर लक्ष्मणको बतलाया कि श्रीमहापूर्ण ही उनके गुरु होने योग्य हैं। यह सुनकर लक्ष्मणदेशिकने द्वितीय बार श्रीरङ्गम नगरकी यात्रा की। मार्गमें ही (दक्षिण भारतमें स्थित) मथुराके निकट अग्रहार नामक ग्राममें श्रीमहापूर्णसे उनकी भेंट हो गयी। वहीं लक्ष्मणने श्रीपूर्णाचार्यसे यथाविधि पञ्चसंस्कार युक्त दीक्षा ग्रहण की। श्रीपूर्णाचार्य लक्ष्मणको दीक्षा प्रदानकर काञ्चीपुरीमें ही सपरिवार निवास करने लगे।

लक्ष्मणकी पत्नी पहलेसे ही कर्मासक्त स्मार्त्त स्वभाववाली थी। एक दिन जब श्रीलक्ष्मणकी पत्नी कुएँसे जल भर रही थी, तो उसी समय पूर्णाचार्यकी पत्नी भी जल भरनेके लिए वहाँ आयी। जल भरते समय श्रीपूर्णाचार्यकी पत्नीकी पानी भरनेवाली रस्सीसे निकलकर जलकी एक बूँद लक्ष्मणकी पत्नीके घड़ेमें गिर पड़ी।

लक्ष्मणदेशिककी पत्नीने क्रोधमें भरकर गुरुपत्नीको नीचजाति और नीचकुलका कहकर और अपने कुलकी बहुत प्रशंसा करते हुए मर्मभेदी कटु वचनोंसे उनकी भर्त्सना की। श्रीमहापूर्ण अपनी पत्नीके मुखसे इस घटनाको सुनकर बहुत दुःखी हुए और भविष्यमें इसकी पुनरावृत्तिको रोकनेके उद्देश्यसे लक्ष्मणको कुछ बतलाये बिना ही श्रीरङ्गक्षेत्र चले गये। लक्ष्मणने श्रीगुरुदेवके इस प्रकार अचानक चले जानेके कारणका अनुसन्धान किया एवं समस्त वृत्तान्तको जानकर उन्होंने गुरु-वैष्णव विद्वेषिणी अपनी पत्नीके दुःसङ्गका सदा-सर्वदाके लिए परित्याग करनेका निश्चय कर लिया।

इस घटनाके कुछ समय पश्चात् एक भूखे ब्राह्मणने लक्ष्मणदेशिकके घरपर आकर भिक्षाकी याचना की। किन्तु लक्ष्मणदेशिककी पत्नीने उसकी भर्त्सनाकर उसे वहाँसे भगा दिया। उस ब्राह्मणने पाठशालामें जाकर लक्ष्मणको उनकी पत्नीके दुर्व्यवहारके विषयमें बतलाया। लक्ष्मणदेशिकने इसे सुयोग समझकर उस ब्राह्मणको अपनी पत्नीके पास भिक्षुकके रूपमें ना भेजकर उसके हाथमें एक पत्र, हल्दी और कुछ नये वस्त्र देकर कहा—"आप ये नये वस्त्र पहनकर पुनः मेरे घर जायें और मेरी पत्नीसे कहें कि—मैं आपके पिताके घरसे आया हूँ, आपके पिता-माताने आपके भाईके विवाहके निमन्त्रणके साथ आपको साथमें लानेके लिए मुझे भेजा है।" लक्ष्मणके निर्देशके अनुसार वह ब्राह्मण पुनः लक्ष्मणके घर पहुँचे और उन्होंने श्रीलक्ष्मणकी पत्नीको वह पत्र, हल्दी आदि सामग्री देकर लक्ष्मणके कथनानुसार समस्त वृत्तान्त कह सुनाया। लक्ष्मणकी पत्नी यह समाचार सुनकर बहुत प्रसन्न हो गयी और उसने ब्राह्मणको बड़े सम्मानके साथ नाना प्रकारके स्वादिष्ट अन्न-व्यञ्जन आदिका भोजन कराया।

इधर लक्ष्मण भी उपयुक्त समय समझकर घरमें लौटे। जब उनकी पत्नीने उनके समक्ष ब्राह्मणके प्रस्तावको रखा, तो लक्ष्मणने उसमें अपनी सहमति प्रकाशित की तथा पत्नीके

दुःसङ्गको सदाके लिए त्याग करने हेतु उन्होंने चतुरतापूर्वक अपनी पत्नीसे कहा—"तुम अपने भाईके विवाहके उपलक्ष्यमें अपने पिताके घर जा रही हो। अतः सभी अच्छे-अच्छे वस्त्र-अलङ्कार आदि लेकर ही जाओ।" लक्ष्मणकी पत्नी अपने पतिके कौशलको समझ नहीं पायी और प्रफुल्ल चित्तसे वह विलासके समस्त उपकरण, वस्त्र, अलङ्कार आदि लेकर उस ब्राह्मणके साथ अपने पिताके घर चली गयी।

श्रीलक्ष्मणदेशिक गुरु-वैष्णव विद्वेषी अपनी स्त्रीके दुःसङ्गसे मुक्त होकर अत्यन्त आनन्दित हुए और शीघ्र ही वे भगवान् श्रीवरदराजके सम्मुख उपस्थित होकर उन्हें साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणामकर कहने लगे—"प्रभो! आजसे मैं सब प्रकारसे आपका दास हो गया हूँ, आप कृपाकर मुझे ग्रहण कीजिये।" तदनन्तर उन्होंने संन्यासके समस्त उपकरणोंको संग्रहकर श्रीवरदराजकी इच्छानुसार अनन्त सरोवरके तटपर श्रीयामुनाचार्यका स्मरण करते हुए त्रिदण्ड-संन्यास ग्रहण किया। (संन्यासके पश्चात् उनका नाम आचार्य श्रीरामानुज हुआ)।

संन्यास ग्रहण करनेके उपरान्त श्रीरामानुजके धीरे-धीरे दो-एक शिष्य होने लगे। श्रीरामानुजके दाशरथि नामक भान्जेने सर्वप्रथम उनसे दीक्षा ग्रहण की। तत्पश्चात् कुरनाथ (कुरेश) ने श्रीरामानुजका आश्रय ग्रहण किया। श्रीरामानुज-सम्प्रदायमें श्रीकुरनाथको 'रामका अंश' और दाशरथिको 'भरतका अंश' माना जाता है।

श्रीरामानुजके पूर्व अध्यापक यादवाचार्यकी माताने रामानुजके ऐश्वर्य और उनकी प्रतिभाको देखकर विष्णु-वैष्णवोंकी निन्दाके प्रायश्चित्तस्वरूप अपने पुत्र यादवको श्रीरामानुजका पदाश्रय ग्रहण करनेका परामर्श दिया। यादवने अपने अद्वैत-मतकी निरर्थकताको पहले ही हृदयङ्गम कर लिया था, तथापि अपनी प्रतिष्ठाके लिए वे अपने सम्प्रदायके मतकी उत्कर्षताको ही प्रबल रखनेके लिए बाध्य थे। परन्तु अब अपनी भक्तिमती माताकी ऐकान्तिक इच्छासे वे श्रीरामानुजाचार्यके निकट उपस्थित हुए और उन्होंने

श्रीरामानुजसे अनेकानेक प्रश्न किये। तत्पश्चात् अपने प्रश्नोंका यथोचित उत्तर सुनकर उनके हृदयकी सारी मलिनता दूर हो गयी और वे श्रीरामानुजाचार्यके शरणागत हो गये। श्रीरामानुजाचार्यकी असाधारण कृपासे यादवाचार्यका मायावादके गड्ढेसे उद्धार हुआ और उन्होंने श्रीरामानुजाचार्यसे पञ्चसंस्कारोंसे युक्त दीक्षा और यथाविहित त्रिदण्ड-वैष्णव-संन्यास ग्रहण किया। तब उनका नाम 'श्रीगोविन्ददास' हुआ। श्रीरामानुजके आदेशानुसार उन्होंने अपने पूर्व अपराधोंके प्रायश्चित्तस्वरूप वैष्णवोंके माहात्म्य-सूचक एक ग्रन्थकी रचना की। इसके कुछ दिनोंके बाद ही श्रीगोविन्ददासका परलोक गमन हो गया।

श्रीरामानुजका मौसेरा भाई गोविन्द जीवोंके नित्य स्वरूप-धर्म विष्णु-भक्तिका पालन करनेके स्थानपर मायावादके आश्रयमें शिवकी आराधनामें नियुक्त था। श्रीरामानुजाचार्यने श्रीयामुनाचार्यके प्रिय शिष्य श्रीशैलपूर्णके द्वारा गोविन्दका मायावादके गड्ढेसे उद्धार करवाया और उसे वैष्णवधर्ममें दीक्षित किया।

अब श्रीरामानुजाचार्यने श्रीयामुनाचार्य और अपनी पूर्व गुरुपरम्परा द्वारा उपदिष्ट शास्त्रोंका संग्रह करनेकी इच्छासे श्रीमहापूर्णसे न्यास-तत्त्व, पुरुष-निर्णय, गीतार्थ-संग्रह, व्यास-सूत्र, पञ्चरात्र आदि शास्त्रोंको प्राप्त किया। श्रीमहापूर्णकी इच्छासे श्रीरामानुजाचार्यने श्रीमहापूर्णके पुत्र पुण्डरीकाक्षको शिष्यके रूपमें ग्रहण किया।

श्रीरामानुजने श्रीमहापूर्णसे सुना कि गोष्ठीपुर नामक ग्राममें श्रीगोष्ठीपूर्ण नामक एक मन्त्ररहस्यविद् तत्त्वज्ञ-वैष्णव निवास करते हैं, वे श्रीयामुनाचार्यके एक प्रिय शिष्य हैं तथा उनसे मन्त्र-रहस्य और तत्त्व-विचार श्रवण करना आवश्यक है। ऐसा सुनकर श्रीरामानुजने गोष्ठीपूर्णके गाँवमें जाकर उनसे कृपाकी याचना की। श्रीगोष्ठीपूर्णने श्रीरामानुजाचार्यके तत्त्व-ज्ञानको सीखनेकी इच्छा और उनकी दृढ़ताकी परीक्षा करनेके लिए उन्हें अट्ठारह बार अस्वीकारकर लौटा दिया। उन्नीसवीं बार उनका दृढ़ निश्चय देखकर उन्होंने श्रीरामानुजको रहस्यपूर्ण मन्त्र प्रदान किया और

उस मन्त्रको गोपनीय रखनेका निर्देश दिया। परन्तु परदुःख-दुःखी श्रीरामानुजाचार्यने श्रीरङ्गममें लौटकर अपने चौहत्तर शिष्योंको उच्चस्वरसे वह मन्त्र सुनाकर सभीको एक साथ उस मन्त्रमें दीक्षित किया। श्रीगोष्ठीपूर्ण लोगोंके मुखसे यह बात सुनकर अत्यन्त क्रोधित हुए और एक दिन उन्होंने श्रीरामानुजको अपने समीप उपस्थित देखकर कहा—"तुमने गोपनीय मन्त्रका लोगोंके समक्ष उच्चस्वरसे उच्चारण किया है, अतः तुम अवश्य ही नरकगामी होओगे।" श्रीरामानुजाचार्यने उसका उत्तर देते हुए कहा—"प्रभो! मेरे समान एक पतित व्यक्तिको नरक प्राप्ति होनेके बदलेमें यदि आपकी कृपासे हजारों नर-नारियोंका मङ्गल होता है, तो मेरे समान स्वार्थी व्यक्तिके लिए इतना-सा स्वार्थ परित्याग करना भी क्या उचित नहीं है?" श्रीरामानुजके ऐसे उदार चित्तको देखकर श्रीगोष्ठीपूर्ण अत्यन्त सन्तुष्ट हुए और उन्होंने अपने प्रियपुत्र सौम्यनारायणको श्रीरामानुजसे दीक्षित करवाया।

शास्त्रोंके गूढ़ रहस्योंको एकमात्र प्रणिपात (अहङ्कारका परित्यागकर समर्पित होने), परिप्रश्न (विनम्र भावसे सङ्गत प्रश्न करने) और गुरुसेवा (गुरुकी प्रीतिके लिए उनके अनुकूल सेवा) के द्वारा ही जाना जा सकता है। उच्चकुलमें जन्म या पाण्डित्यका अभिमान रहनेपर कभी भी किसी व्यक्तिके हृदयमें शास्त्रोंका मर्म प्रकाशित नहीं हो सकता। जगत्‌में इस शिक्षाको स्थापित करनेके लिए श्रीरामानुजाचार्यने निरन्तर निष्कपट रूपसे गुरुसेवामें नियुक्त अपने शिष्य श्रीकुरेशके निकट श्रीगीताके चरम श्लोकका रहस्य प्रकाशित किया। उन्होंने अपने अन्य एक शिष्य दाशरथिमें उच्चकुलमें जन्म ग्रहण करने और पाण्डित्यके अभिमान रहनेका दृष्टान्त दिखलाकर दाशरथिको वैष्णवोंके लिए भोजन बनानेमें नियुक्त करके ऐसी छोटी दिखायी देनेवाली सेवामें लगाकर उसके अभिमानको दूर करनेका आदर्श प्रदर्शित किया तथा बादमें उसके निकट चरम श्लोकके रहस्यको प्रकाशित किया।

काञ्चीपूर्ण, महापूर्ण, गोष्ठीपूर्ण, मालाधर और वररङ्ग—ये पाँचों महानुभाव महाभागवत श्रीयामुनाचार्यके परम अन्तरङ्ग शिष्य थे। श्रीरामानुजने इन सभीको शिक्षागुरुके रूपमें ग्रहण किया और श्रीयामुनमुनिके द्वितीय विग्रहके रूपमें शोभा पाने लगे।

श्रीरामानुजाचार्य अब श्रीरङ्गममें सत्-सम्प्रदायके आचार्य और संरक्षकके रूपमें प्रतिष्ठित हो गये। किन्तु कुछ अपस्वार्थी लोग श्रीरामानुजकी इस वैष्णवी प्रतिष्ठाको सहनेमें असमर्थ हो गये। उन्होंने नाना प्रकारके असत् उपायोंसे श्रीरामानुजाचार्यकी प्रतिष्ठाको नष्ट करनेके अनेक प्रयास किये, परन्तु जब उनके सभी प्रयास विफल हो गये, तब उन्होंने और कोई उपाय न देखकर श्रीरामानुजाचार्यको जानसे ही मार डालनेका सङ्कल्प कर लिया। वे यह मिथ्या प्रचार करने लगे कि रामानुजाचार्य देवल-अर्चकों (पुजारियों) की निन्दा करते हैं, रामानुजके यश और प्रचारके फलसे अब अर्चकोंको कोई पहले जैसा सम्मान नहीं करता, लोग रामानुजको ही अधिक सम्मान देते हैं, श्रीरङ्गमके सभ्रान्त लोग रामानुजको ही प्रचुर धन दिया करते हैं। इस प्रकार नाना प्रकारकी बातें कहकर अपस्वार्थ व्यक्तियोंने अर्चकोंके कान भरे। इतनेपर भी जब उनकी एक भी नहीं चली, तब उन्होंने श्रीरङ्गनाथके अर्चकोंको कुछ अर्थका लोभ दिखलाकर भगवत्-उच्छिष्ट महाप्रसादमें विष मिलाकर श्रीरामानुजको देनेके लिए सहमत कर लिया। श्रीरङ्गमके प्रधान अर्चकने अपनी पत्नीको आचार्यको मार डालनेके षड़यन्त्रकी बातको बतलाया और इस कार्यको पूरा करनेमें उसकी सहायता माँगी। किन्तु प्रधान अर्चककी पत्नी अत्यन्त सरल हृदयवाली थी, उसे आचार्यको कष्ट पहुँचानेवाली यह बात उचित नहीं लगी। अगले दिन उसने विष-मिश्रित महाप्रसादको श्रीरामानुजाचार्यके सामने रखकर उन्हें दण्डवत् प्रणाम करनेके छलसे अपने हाथोंके नाखूनोंसे उनके श्रीचरणोंमें कुछ अङ्कितकर उनके हृदयमें सन्देह उत्पन्न कर दिया। परम बुद्धिमान यतीन्द्र श्रीरामानुजाचार्यने भोजनकी परीक्षा करनेके

लिए उसका कुछ अंश एक कुत्तेको खानेके लिए दे दिया। कुत्ता वह विषाक्त भोजन खानेके साथ–ही–साथ मर गया। यह देखकर श्रीरामानुजाचार्य समझ गये कि मेरी हत्या करनेके लिए ही विरोधियोंने इन देवल–अर्चकोंको नियुक्त किया है।

अन्य एक दिन श्रीरामानुजाचार्यको मार डालनेके लिए श्रीरङ्गदेवके एक अर्चकने स्वयं ही अपने हाथसे श्रीरङ्गदेवके स्नानके जलमें विष मिलाकर श्रीरामानुजको प्रदान किया; किन्तु श्रीरङ्गनाथदेवकी असीम कृपासे वह विषसे युक्त चरणामृत श्रीरामानुजाचार्यका कुछ भी नहीं बिगाड़ पाया।

इसी समय 'यज्ञमूर्त्ति' नामक एक मायावादी दिग्विजयी संन्यासी पण्डितने श्रीरामानुजाचार्यकी प्रतिष्ठाको नष्ट करनेके लिए उन्हें कुतर्क–युद्धमें ललकारा। श्रीरामानुजाचार्यने श्रीरङ्गनाथजीके आदेशसे श्रीयामुनाचार्यके द्वारा रचित 'सिद्धित्रय' की युक्तियोंके आधारपर उस दिग्विजयीको परास्त कर दिया। तत्पश्चात् वह यज्ञमूर्त्ति उनके शरणागत हो गया। श्रीरामानुजाचार्यने उस यज्ञमूर्त्तिको शिखा–सूत्र परित्याग करनेका प्रायश्चित्त करवाया तथा पुनः शिखासूत्र धारण करवाकर पञ्चसंस्कारसे दीक्षित किया और उसे त्रिदण्ड–संन्यास प्रदान किया। तबसे वे यज्ञमूर्त्ति 'देवराट्' अथवा 'देवमन्नाथ' नामसे प्रसिद्ध हुए। श्रीरामानुजाचार्यने एक विशाल मठका निर्माण करवाकर देवराट्को उस मठका मठाधीश बना दिया।

अनन्तर श्रीरामानुजाचार्यने अपने शिष्योंके साथ श्रीशैल अथवा तिरुपति आदि स्थानोंका दर्शन करनेके लिए यात्रा आरम्भ की। मार्गमें वे 'अष्टसहस्त्र' नामक गाँवके निकट पहुँचे। वहाँ उनके अत्यन्त निर्धन 'वरदाचार्य' और अत्यधिक धनी 'यज्ञेश' नामक दो शिष्य निवास करते थे।[१] श्रीरामानुजाचार्यने अपने इन दोनों शिष्योंका आथित्य ग्रहण करनेकी लीला करके उनके चरित्रके द्वारा गुरु–वैष्णवोंकी सेवाका आदर्श स्थापित किया। वरदाचार्यकी

[१] पादटीका कृपया पृष्ठ संख्या ८९ पर देखें।

पत्नी बहुत अधिक सती-साध्वी और निष्कपट रूपमें गुरुभक्तिपरायण थी। यहाँ तक कि वह अपनी देह तकको बेचकर गुरु और वैष्णवोंकी सेवा करनेके लिए तैयार थी। वरदाचार्यकी पत्नीकी कृपासे एक धनी बनियेकी दुर्बुद्धि दूर हुई थी तथा उसने श्रीरामानुजाचार्यका चरणाश्रय ग्रहण किया था।

श्रीरामानुजाचार्य तिरुपति पहुँचकर श्रीशैलके ऊपर चढ़े नहीं, बल्कि उन्होंने नीचेसे ही भू-वैकुण्ठ श्रीशैलका दर्शन किया। उस देशके राजा विट्ठल-रायने भी श्रीरामानुजाचार्यसे दीक्षा-मन्त्रादि ग्रहणकर गुरु-दक्षिणाके रूपमें उन्हें 'इलमण्डीय' नामक सुविस्तृत भूभाग प्रदान किया। श्रीरामानुजाचार्यने उस प्रदेशको वैष्णव ब्राह्मणोंमें वितरण कर दिया। श्रीरामानुजाचार्यने घटिकाचलमें जाकर श्रीनृसिंहदेवका दर्शन किया और वहाँसे पक्षीतीर्थमें पहुँचकर स्नान-दर्शन आदि कर वे पुनः काञ्चीपुरीमें लौट आये। इसके कुछ समय बाद ही गोविन्दने श्रीरामानुजाचार्यसे त्रिदण्ड-संन्यास ग्रहण किया।

इसके पश्चात् श्रीरामानुजाचार्यने श्रीयामुनाचार्यके निकट की गयी अपनी प्रतिज्ञाको स्मरणकर पूर्वाचार्य बोधायन द्वारा रचित वृत्तिका अनुसरणकर 'श्रीभाष्य' लिखनेकी इच्छा की। उस बोधायन-वृत्तिराजको लानेके लिए अपने शिष्य कुरेशको साथ लेकर वे स्वयं काश्मीर प्रदेशके अन्तर्गत नृसिंहपीठ (वृजव्ररो) पहुँचे। केवलाद्वैतवादियोंके द्वारा यह ग्रन्थ छिपा दिये जानेके कारण उस समय अप्रचारित था। बोधायन-वृत्तिमें केवलाद्वैतवादके सिद्धान्तोंको खण्डन करनेकी अकाट्य युक्तियाँ और शास्त्र-प्रमाण रहनेके कारण इसका प्रचार होनेपर केवलाद्वैतवाद सम्पूर्ण रूपसे दुर्बल हो जायेगा अर्थात् लोग केवलाद्वैतवादको आदरकी दृष्टिसे नहीं देखेंगे, ऐसा सोचकर केवलाद्वैतवादियोंने इस ग्रन्थको अत्यन्त सुरक्षित रूपमें छिपाकर रखा हुआ था। श्रीरामानुजाचार्यने शारदापीठमें जाकर उनसे बोधायन-वृत्तिको दिखलानेके लिए कहा, किन्तु अद्वैतवादियोंने उस ग्रन्थके अस्तित्वको ही नकार दिया।

श्रीरामानुजाचार्यने अत्यन्त दुखित होकर श्रीलक्ष्मी-नारायणके निकट जाकर अपने मन की पीड़ा बतलायी। रात्रिकालमें श्रीनृसिंहदेवने स्वयं श्रीरामानुजाचार्यके हाथोंमें उस ग्रन्थको प्रदान किया और गुप्त रूपसे अति शीघ्र ही उस स्थानसे चले जानेका आदेश दिया। श्रीरामानुजाचार्य अपने शिष्य कुरेशके साथ उसी समय वहाँसे निकल पड़े। कुछ दिनोंके बाद शारदापीठके अद्वैतवादियोंको जब बोधायन-वृत्ति दिखायी नहीं दी, तब उन्होंने यह स्थिर किया कि रामानुजने ही उस ग्रन्थको चुरा लिया है। अतः उन्होंने अनेक बलवान व्यक्तियोंको श्रीरामानुजाचार्यको ढूँढ़नेके लिए भेजा। उन लोगोंने एक महीने तक दिन-रात दौड़ते हुए श्रीरामानुजाचार्यका पीछा किया। एक महीने पश्चात् अन्ततः उन्होंने श्रीरामानुजाचार्य और कुरेशको देखा और बलपूर्वक उनसे बोधायन-वृत्तिको छीनकर काश्मीर लौट गये। इधर श्रीरामानुजाचार्य अपना सारा परिश्रम व्यर्थ हुआ सोचकर अत्यन्त अधीर हो गये। तब कुरेशने अपने गुरुदेवको आश्वासन देते हुए कहा—"इस एक महीनेमें प्रत्येक रातको जगकर मैंने सम्पूर्ण बोधायन-वृत्तिको कण्ठस्थ कर लिया है। अतएव मैं शीघ्र ही उस वृत्तिको लिखकर आपको दे दूँगा।" श्रुतिधर कुरेशने पाँच-छह दिनोंमें ही सम्पूर्ण वृत्तिको लिखकर श्रीरामानुजाचार्यको दिखलाया। श्रीरामानुजाचार्य कुरेशकी ऐसी अद्भुत प्रतिभाको देखकर अत्यन्त आनन्दित हुए और उन्होंने श्रीभाष्य रचनाके समय कुरेशको ही अपना लेखक बनाया। श्रीभाष्य रचनाके पश्चात् आचार्य श्रीरामानुजने और भी कुछेक ग्रन्थोंकी रचना की और अपने शिष्योंके साथ दिग्विजयके लिए यात्रा की।

काञ्चीपुरीसे श्रीवरदराजकी आज्ञा ग्रहणकर वे कुम्भकोणम्, फिर पाण्ड्यदेशकी राजधानी मादुरा, वहाँसे कुरुकापुरी, कुरुङ्गनगरी, केरल या मालावार और उसकी राजधानी तिरुअनन्तपुरम् या त्रिवेन्द्रम गये। तत्पश्चात् उन्होंने उत्तरकी ओर अपनी विजय यात्रा आरम्भ की। वहाँसे उन्होंने क्रमशः द्वारका, मथुरा, वृन्दावन,

हरिद्वार, बदरिकाश्रम, कुरुक्षेत्र, पुष्कर, नैमिषारण्य, अयोध्या, प्रयाग, देवप्रयाग, मगध, गया आदि स्थानोंमें भ्रमण किया। श्रीरामानुजाचार्य द्वितीय बार काश्मीरके श्रीनृसिंहपीठमें भी गये। ऐसा कहा जाता है कि उस समय श्रीनृसिंहदेवने श्रीरामानुजाचार्यकी व्याख्याकी निपुणतासे अत्यधिक सन्तुष्ट होकर उन्हें 'भाष्यकार' की पदवी प्रदान की। किन्तु उस समय भी काश्मीरी केवलाद्वैतवादी और स्मार्त्त पण्डितोंने श्रीरामानुजाचार्यके प्रचारमें विघ्न-बाधा उत्पन्न करनेकी इच्छासे नाना प्रकारके षड़यन्त्र और कूटतर्क आदि करनेमें कोई कमी नहीं छोड़ी। उसके बाद श्रीरामानुजाचार्य वाराणसी गये और तत्पश्चात् उन्होंने दक्षिणकी ओर यात्रा की। वहाँसे वे पुरुषोत्तम क्षेत्र पहुँचे और वहाँ उन्होंने पञ्चरात्रके मतका प्रचार करनेकी चेष्टा की।

उसके बाद श्रीरामानुजाचार्यने कूर्मक्षेत्र, सिङ्गाचल और गारुड़-पर्वत-स्थित अहोबल-मन्दिरमें उपस्थित होकर पञ्चरात्र विधानके अनुसार श्रीनृसिंह-मूर्त्तिकी पूजाका प्रवर्त्तन किया और वहाँ एक मठका निर्माण करवाकर विशिष्टाद्वैत-मतके प्रचारका केन्द्र स्थापित किया। वहाँसे वे वेङ्कटाचल या तिरुपति पहुँचे। उस समय शैवों और वैष्णवोंके बीच वहाँके विग्रहको लेकर विवाद चल रहा था कि वह विग्रह शिवका है अथवा विष्णुका। श्रीरामानुजाचार्यने उस विग्रहको श्रीविष्णुका विग्रह बतलाकर उस विवादको शान्त किया और सबको भगवान् श्रीविष्णुकी सेवा-पूजामें नियुक्त किया। तत्पश्चात् वे पुनः काञ्चीपुरीमें लौटकर श्रीनाथ-मुनिकी प्रकट भूमि वीरनारायणपुरका दर्शनकर श्रीरङ्गममें उपस्थित हुए।

श्रीरङ्गम उस समय श्रीरामानुजाचार्यके द्वारा प्रचारित विशिष्टाद्वैत वैष्णव-सिद्धान्तकी विजय-वैजयन्तीको लेकर समग्र भारतवर्षमें सनातनधर्मकी शिक्षाका केन्द्रस्थल बनकर सुशोभित हो रहा था। श्रीरामानुजाचार्यने कूरेशके दो पुत्रों और गोविन्दके भाईके पुत्रको क्रमशः पराशर, वेदव्यास, और पराङ्कुश नाम देकर उनके शरीरको विष्णुके चिह्नोंसे चिह्नित किया। इस प्रकार श्रीरामानुजाचार्यकी कृपासे बहुत-से लोगोंका जीवन परिवर्त्तित हो गया।

श्रीरङ्गममें शूद्रकूलमें उत्पन्न धनुर्दास नामक एक दुर्दान्त मल्ल[१] श्रीरामानुजकी कृपा प्राप्त करके अप्राकृत बुद्धिसम्पन्न और उत्तम ब्राह्मणोंके रूपमें सम्मानित हुआ।

उसी समय श्रीमहापूर्ण द्वारा श्रीयामुनाचार्यके शूद्रकुलमें जन्मे 'मारणेरि नम्बि' नामक एक शिष्यका ब्राह्मणोचित संस्कार करनेपर स्मार्त्त ब्राह्मण समाज श्रीरामानुजाचार्यके मन्त्र-प्रदाता गुरु श्रीमहापूर्णकी बड़ी निन्दा करने लगा। तब श्रीमहापूर्णने उन लोगोंसे कहा—"वैष्णव कभी भी जाति अथवा कुलके अन्तर्गत नहीं है। जो लोग वैष्णवोंकी जातिका विचार करते हैं, वे निश्चय ही नरकगामी होते हैं। श्रीरामचन्द्रजीने तिर्यक (पक्षी) योनिमें जन्म-ग्रहण करनेवाले जटायुका वैष्णवोचित संस्कार किया था। महाराज युधिष्ठिर भी दासी पुत्र विदुरकी पूजा करते थे।" (स्मार्त्त ब्राह्मण समाज उनकी इन युक्तियोंका कोई उत्तर नहीं दे सका।)

श्रीरामानुजाचार्यके द्वारा सर्वत्र ही वैष्णवमतका प्रचार होते देखकर प्रबल स्मार्त्त-धर्मावलम्बी चोल राज्यके शैव राजा 'कृमिकण्ठ'[२] उन्हें शैवोंका शत्रु समझकर मार डालना चाहता था। रामानुजाचार्यको अपने राज्यमें लाकर मार डालनेके लिए उसने कुछ अतिबलिष्ठ सैनिकोंको भेजा। जब वे रामानुजाचार्यको पकड़नेके लिए आये। तब श्रीरामानुजाचार्यके गुरु-सेवानिष्ठ शिष्य कूरेश दुष्ट कृमिकण्ठके घृणित षड़यन्त्रको समझ गये, किन्तु उन्होंने श्रीरामानुजाचार्यको इस विषयमें कुछ नहीं बतलाया। कूरेशने श्रीरामानुजाचार्यका गैरिक वेश-धारणकर स्वयंको श्रीरामानुजाचार्य बतलाकर कृमिकण्ठके सैनिकोंके साथ चोल राज्यके लिए यात्रा की। राजसभामें पहुँचकर उन्होंने अपना परिचय रामानुजाचार्यके रूपमें दिया। कृमिकण्ठके अनुगत कुतार्किकोंने कूरेशको वृथा

---

[१] पादटीका कृपया पृष्ठ संख्या ९१ पर देखें।

[१] वैष्णव-अपराधके कारण चोल राज्यके अधिपतिके कण्ठमें एक भयानक घाव हुआ और उसमें कीड़े पड़ गये। इसलिए वे वैष्णव-समाजमें 'कृमिकण्ठ' के नामसे परिचित हुए।

वाग् युद्धमें प्रवृत्त होनेके लिए बाध्य किया और अनेक प्रकारसे उनके प्रति अत्याचार करने लगे।

जब कूरेश किसी प्रकारसे कर्मजड़-स्मार्त्तवाद और मायावादाश्रित शैवमतको स्वीकार करनेके लिए सहमत नहीं हुए, तब कृमिकण्ठके आदेशसे उनके कुछ निर्दयी अनुयायिओंने कूरेशकी दोनों आँखोंको निकाल लिया। कूरेश एक भिक्षुककी सहायतासे श्रीरङ्गममें लौटे। इसके कुछ समयके बाद ही कृमिकण्ठ एक भयानक और घृणित रोगसे ग्रस्त होकर मर गया।

श्रीरामानुजाचार्य कृमिकण्ठकी मृत्युका संवाद सुनकर बड़े आनन्दित हुए। श्रीवरदराजकी कृपासे कूरेशको हरि-गुरु-वैष्णवोंके सुदर्शन उपयोगी महादिव्य चक्षुओंकी प्राप्ति हुई।

इसके कुछ समय पश्चात् तण्डानुरके जैन-धर्मावलम्बी राजा वल्लाल राय भी श्रीरामानुजाचार्यके अपूर्व प्रभावको देखकर उनके शिष्य बन गये तथा श्रीरामानुजाचार्यसे दीक्षा ग्रहण करनेके बाद वे 'विष्णुवर्धन' के नामसे परिचित हुए। उनके साथ ही बहुत-से बौद्धोंने भी वैष्णवधर्मको ग्रहण किया। तदुपरान्त श्रीरामानुजाचार्यने यादवाद्रिमें श्रीयादवाद्रिपति श्रीविष्णुविग्रहकी लुप्त सेवाका उद्धार किया और वहाँ एक विशाल मन्दिरका निर्माणकर अपने शिष्योंके द्वारा पञ्चरात्रके मतानुसार वहाँपर सेवाकी सुव्यवस्था कर दी। तत्पश्चात् 'चेनगामी' नामक स्थानमें जाकर वहाँ भी उन्होंने अपने मतका प्रचार किया और एक मठकी स्थापना की।

श्रीरामानुजाचार्यने अपने प्रकटकालके अन्तिम साठ वर्ष श्रीरङ्गममें ही निवासकर वहींसे स्वयं और अपने शिष्योंके द्वारा वैष्णवधर्मका प्रचार किया। उस समय उनके कुछ शिष्योंने श्रीरामानुजाचार्यसे उनकी मूर्त्ति प्रतिष्ठित करनेकी अनुमति माँगी तथा श्रीरामानुजाचार्यने उन्हें अपनी सम्मति प्रदान की। श्रीरङ्गममें श्रीआचार्यके प्रकटकालमें ही उनकी श्रीमूर्त्तिकी प्रतिष्ठा हुई।

तत्पश्चात् एकदिन श्रीरामानुजाचार्यने अपने शिष्योंको एकत्रित करके प्रपञ्चको छोड़नेकी अपनी इच्छा व्यक्त की और उन्हें

अनेक सारगर्भित वचनोंके द्वारा शिक्षा और उपदेश प्रदान किये। भविष्यमें किस प्रकारसे सबकुछ करना होगा, इस विषयमें भी उन्होंने अपने शिष्योंको उपदेश प्रदान किये। उपयुक्त शिष्योंको प्रचारके लिए विभिन्न प्रकारका उत्तरदायित्व देकर १०५९ शकाब्दकी माघी शुक्ला दशमी तिथि, शनिवार, मध्याह्न कालमें उन्होंने वैकुण्ठ विजय की। यतीन्द्र श्रीरामानुजाचार्यके शिष्य उनके आदेशानुसार श्रौतपन्थाके अनुसार श्रीगुरुदेवका मनोऽभीष्ट प्रचार करने लगे।

श्रीरामानुजाचार्यके द्वारा रचित प्रसिद्ध ग्रन्थावलियोंके नाम निम्नलिखित श्लोकमें दिये गये हैं—

वेदान्तसारो वेदान्तदीपो वेदार्थसंग्रहः।
गद्य-गीताभाष्य-सूत्रभाष्य-नित्यक्रमा इति॥

"अर्थात् रामानुजके रचित ग्रन्थोंके नाम हैं—वेदान्तसार, वेदान्तदीप, वेदान्तसंग्रह, गीताका गद्यभाष्य, ब्रह्मसूत्रका श्रीभाष्य, नित्य-क्रम इत्यादि।"

इन कुछ ग्रन्थों और भाष्योंके अतिरिक्त और भी कुछ अत्यन्त उत्कृष्ट ग्रन्थ श्रीरामानुजाचार्य द्वारा रचित कहे जाते हैं, जैसे—वेदान्त-तत्त्वसार, विष्णुसहस्रनाम-भाष्य, विष्णुविग्रह-शंसन-स्तोत्र, ईश-प्रश्न-मुण्डक-श्वेतश्वतरोपनिषद-भाष्य, कूटसंदोह, दिव्यसूरि-प्रभाव-दीपिका आदि।

श्रीरामानुज-सम्प्रदाय और श्रीरामानन्दी-सम्प्रदायको अनेक लोग एक मानकर गड़बड़ करते हैं। रामानन्दी-सम्प्रदायके लोगोंके द्वारा श्रीरामानुज-सम्प्रदायके अन्तर्गत अपना परिचय देनेपर भी श्रीरामानुज-सम्प्रदायके साथ उनका तत्त्वतः विचार-भेद देखा जाता है। श्रीरामानुजके चौदहवें अधःस्तनरूप शिष्य-परम्परामें श्रीरामानन्दका आविर्भाव हुआ।

श्रीरामानुजाचार्यका श्री-सम्प्रदाय दो भागोंमें विभक्त है। एक बड़गलाइ और दूसरा तेङ्गलाइ। वरवर मुनि (मनवाल मामुनि) के

समयसे ही श्रीसम्प्रदायी–वैष्णवोंमें ये दो प्रकारके भेद देखे जाते है। वरवर मुनि तेङ्गलाइ आचार्य थे। 'पड़नड़इ विलक्कम' नामक तामिल ग्रन्थमें इन दोनों सम्प्रदायोंके मतके विषयमें वर्णन प्राप्त होता है। विचार तथा तिलक आदि आचार भेदके द्वारा तेङ्गलाइ और बड़गलाइ सम्प्रदायमें पार्थक्य स्थापित हुआ है।

श्रीरामानुज–सम्प्रदायके वैष्णवगण नित्यप्रति पञ्चसंस्कारोंसे सुसंस्कृत होते है। उनके मतानुसार पञ्चसंस्कार–विहीन व्यक्तिको कभी भी 'वैष्णव' नहीं कहा जा सकता। श्रीरामानुजाचार्यके अनुसार पञ्चसंस्कारसे रहित उच्च ब्राह्मणको भी कुक्कुरभोजी चण्डालकी भाँति अदृश्य और असम्भाष्य जानकर उससे दूर रहना चाहिये और पञ्चसंस्कारसे युक्त वैष्णव यदि अन्त्यजकुलमें भी जन्में हों, तो भी वे त्रिभुवनको पवित्र करनेवाले होते हैं। श्रीरामानुज–सम्प्रदायमें तप्तमुद्रा, उर्द्ध्वपुण्ड्रधारण, विष्णु–वैष्णव दास्य–सूचक नाम, नारायण–मन्त्र और शालग्राम–पूजा—इन पाँचोंको ही दीक्षित वैष्णवमात्रके लिए ही कर्त्तव्यके रूपमें निर्धारित किया गया है। त्रिपुण्ड्रधारण और विष्णुके अतिरिक्ति अन्य देवताओंकी पूजा श्री–सम्प्रदायमें सब प्रकारसे ही निषिद्ध है। रामानुजी अर्थात् श्री–सम्प्रदायके वैष्णवगण कहते हैं—बाघके द्वारा आक्रान्त होनेपर भी विष्णुभक्तगण अन्य देवताओंके मन्दिरमें प्रवेशकर अपने प्राणोंकी रक्षा नहीं करेंगे। श्री–सम्प्रदायके वैष्णवगण स्मार्त्त विचारोंसे सब प्रकारसे घृणा करते हैं। वे कहते हैं कि श्रीवैष्णवोंमें प्राकृत–बुद्धि करनेके समान भीषण अपराध और कोई नहीं है। वे गुरु–वैष्णवोंमें सामान्य जाति–बुद्धि करनेको नरक–गमनका कारण मानते हैं। श्रीरामानुजाचार्यके पूर्वगुरु दिव्यसूरि श्रीयामुनाचार्य यद्यपि परम मर्यादाविशिष्ट ब्राह्मणकुलमें आविर्भूत हुए थे, तथापि उन्होंने शूद्रकुलमें जन्में श्रीशठकोपदासकी जिस प्रकारसे वन्दना की है, उससे श्रीवैष्णव–सम्प्रदायके विचार और स्मार्त्तोंके कर्मजड़–विचारोंमें पार्थक्य स्पष्ट रूपसे दिखलायी पड़ता है।

माता-पिता युवतयास्तनया विभूतिः
सर्वं यदेव नियमेन मदन्वयानाम्।
आद्यस्य नः कुलपतेर्वकुलाभिरामम्
श्रीमत्तदंघ्रियुगलं प्रणमामि मूर्द्धा॥

(स्तोत्ररत्न)

"मैं अपने कुलप्रभु प्रथम-आचार्य श्रीवकुलाभिरामके श्रीमद्युगल-चरणोंमें अपने मस्तकको अर्पणकर प्रणाम करता हूँ। मेरे वंशीय अधःस्तन शिष्यवर्गके लिए ये श्रीमद्पदयुगल ही सर्वस्व हैं। उनके माता-पिता, स्त्री-पुत्र एवं ऐश्वर्य इत्यादि सबकुछ श्रीशठकोपके श्रीचरण ही हैं।"

श्रीरामानुज-सम्प्रदायमें वैदिक त्रिदण्ड-संन्यास ग्रहण करनेकी प्रथा प्रचलित है। त्रिदण्डी-संन्यासी एकदण्डी-संन्यासियोंकी भाँति शिखा-सूत्रादिका त्याग नहीं करते। यथा श्रीरामानुजाचार्य द्वारा कहे गये पुराण-वाक्य—

उपवीतं त्रिदण्डश्च पात्रं जलं पवित्रकम्।
कौपीनं कटिसूत्रञ्च न त्यज्यत् यावदायुषम्॥

"जीवनभर उपवीत, त्रिदण्ड, पवित्र करनेवाले जलपात्र, कौपीन और कटिसूत्रका त्याग नहीं करना चाहिये।"

श्री-सम्प्रदायके तीर्थस्थान—श्री-सम्प्रदायके वैष्णवोंके एक सौ आठ तीर्थ 'अष्टोत्तरशत विष्णुमुख्य स्थान' के नामसे प्रसिद्ध हैं। इन स्थानोंके नाम और इनका विशेष परिचय उत्सुक पाठक श्रीगौड़ीय मठसे प्रकाशित वैष्णव-मञ्जुषा समाहृतिकी[१] द्वितीय संख्यासे प्राप्त कर सकते हैं।

विशिष्टाद्वैत-मतमें गुरुपरम्परा—श्रीरामानुजाचार्यने विशिष्टाद्वैत-मतवादका प्रचार किया। श्री-सम्प्रदायके वैष्णवोंका विश्वास है कि अनादिकालसे ही यह विशिष्टाद्वैत-मत सज्जन लोगोंके हृदयमें प्रकाशित था। उनका कहना है कि श्रीमद्कृष्णद्वैपायन वेदव्यासने

[१] यह ग्रन्थ केवल एक ही बार प्रकाशित हुआ था, वर्त्तमान समयमें इसे प्राप्त कर पाना प्रायः असम्भव है।

ब्रह्मसूत्रको प्रकाशितकर जगत्में विशिष्टाद्वैत-मतका प्रचार किया था। ब्रह्मसूत्रके विशद भाष्यकी आवश्यकता पड़नेपर महर्षि बौधायनने विशिष्टाद्वैत-मतका पोषणकर जगत्में ब्रह्मसूत्रके भाष्यकी रचनाकर उसका प्रचार किया। निर्विशेषवादी लोग जिस समय बौद्धोंको पराजितकर केवलाद्वैत मतका प्रचार कर रहे थे, उसी समय बौधायनके विशिष्टाद्वैत मतपर भी मायावादियोंने बिना कारण ही आक्रमण किया। यहाँ तक सुना जाता है कि उन लोगोंने बौधायन-वृत्तिको सम्पूर्ण रूपसे लुप्त करनेकी चेष्टा की थी।

श्रीयामुनाचार्यने निर्विशेषवादियोंको परास्त करनेका सङ्कल्पकर 'आत्म-सिद्धि', 'सम्वित्-सिद्धि' और 'स्वप्रकाश-सिद्धि' नामक तीन ग्रन्थोंकी रचना की थी। बौधायन-मतके लुप्त होनेके पहले ही विशिष्टाद्वैत-मतावलम्बी द्रमिड़ाचार्य और टङ्काचार्य नामक आचार्योंने विशिष्टाद्वैत-मतकी पुष्टि की अर्थात् उन्होंने इस मतको जगत्में जीवित रखा। इसके अतिरिक्त गुहदेव, भारुची आदि विशिष्टाद्वैतवादी आचार्योंने वेदान्त विषयक कुछ ग्रन्थोंकी रचना करके इस मतको और भी पुष्ट किया। अतएव विशिष्टाद्वैत-मत केवल श्रीरामानुजाचार्यके समयसे ही प्रकट हुआ है, ऐसा नहीं है। श्रीरामानुजाचार्यके 'श्रीभाष्य' और 'श्रुत-प्रकाशित' नामक टीकाका अनुशीलन करनेपर उपयुक्त विचार सत्य प्रतीत होता है। आचार्य श्रीरामानुजने श्रीभाष्यके प्रारम्भमें ही लिखा है—'तगवद्बौधायनकृतां विस्तीर्णां ब्रह्मसूत्रवृत्तिं पूर्वाचार्याः संचिक्षिपुः। तन्मतानुसारेण सूत्राक्षराणि व्याख्यास्यन्ते॥'—अर्थात् "भगवान् बौधायनने ब्रह्मसूत्रकी जिस विस्तीर्ण व्याख्याकी रचना की थी, द्रमिड़ आदि पूर्वाचार्योंने उसीको ही संक्षेपमें प्रस्तुत किया। मैं उन्हींके मतके अनुसार ही ब्रह्मसूत्रके अक्षरोंकी व्याख्या करूँगा।"

गुरुपरम्परा—(१) पराशर-नन्दन व्यास, (२) बौधायन, (३) गुहदेव, (४) भारुची, (५) ब्रह्मानन्दी, (६) द्रमिड़ाचार्य, (७) पराङ्कुशनाथ, (८) यामुनाचार्य, (९) यतीन्द्र—श्रीरामानुजने क्रमशः

इस विशिष्टाद्वैत-मतका प्रचार किया। बौद्ध और प्रच्छन्न बौद्ध अर्थात् निर्विशेषवादियोंके आक्रमणसे पूर्वाचार्योंका मत लगभग लुप्त होनेपर सङ्कर्षणके शक्त्यावेशावतार श्रीलक्ष्मणदेशिकने पुनः जगत्में सर्वत्र विपुल रूपसे उस प्राचीन विशिष्टाद्वैत-मतका प्रचार किया। अनादि कालसे जो सात्वत-पञ्चरात्र अथवा भागवत-मत सज्जन समाजमें प्रचलित था, आचार्य श्रीरामानुजने जगत्में उसीका दुन्दुभिनाद (उच्चस्वर) से प्रचार किया।

विशिष्टाद्वैतवाद—विशिष्टाद्वैतवादमें परम-ब्रह्मका अद्वयत्व स्वीकृत हुआ है। यह अद्वय-ब्रह्म विशिष्ट अर्थात् विशेषणयुक्त है। चित् और अचित् उनके विशेषण एवं शरीर हैं। स्थूल और सूक्ष्म भेदसे चित् और अचित् दो प्रकारके होते हैं। कारण-अवस्थामें जो सूक्ष्म-चित्-अचित् है, वह कार्य-अवस्थामें स्थूल-चित्-अचित् रूपमें परिणत हो जाता है। अद्वय-ज्ञान ब्रह्म ही एकमात्र निमित्त और उपादान कारण होनेसे उनमें कार्यके अनुकूल गुणसमूह वर्त्तमान हैं। गुणोंको गुणीका विशेषण ही समझना चाहिये। इसलिए चित् और अचित्—ये दोनों कारणरूपी ब्रह्मके कार्यानुकूल गुण या विशेषण हैं। शरीर शरीरीके आश्रित, भोग्य, नियन्त्रित और उसका परिचायक है। चित् और अचित् ये दोनों अद्वय-ब्रह्मके आश्रित, भोग्य, नियाम्य और कार्य-स्वरूपमें कारणरूपी ब्रह्मके परिचायक हैं। जीवात्मा-स्वरूपमें देव-मनुष्य आदि योनियोंमें कोई भी पार्थक्य नहीं है। आत्मा ही अपने कर्मफलके अनुसार भोग योग्य शरीरको प्राप्तकर उस शरीरके अनुसार अपना परिचय प्रदान करता है। (अर्थात् इस स्थूल-शरीरको मैं समझकर उसके नाम, शरीर आदिके साथ ही अपना परिचय देता है।) इसलिए देव, मनुष्य आदि शरीर आत्माके ही भिन्न-भिन्न कर्मोंके परिचायकमात्र हैं। जाति और गुणकी भाँति मनुष्य आदिका शरीर भी एकमात्र आत्माके आश्रित, आत्म-प्रयोजनीय और आत्माका ही प्रकार अथवा धर्मस्वरूप है।

मनुष्य आदि शरीर आत्माके आश्रित हैं, यह आत्मासे वियोग होनेके साथ–ही–साथ शरीरके विनाशको देखकर समझ आ जाता है। अपने किये हुए विशेष–विशेष कर्मोंका फल भोग करनेके लिए ही इस शरीरका जन्म और इसकी स्थिति होती है, अतः इस स्थूल–शरीरकी आत्माके लिए प्रयोजनीयता है। 'आत्मा ही देवता है, आत्मा ही मनुष्य है' आदि कहनेसे यह अभिप्राय है कि देवता, मनुष्य आदि शरीर आत्माके प्रकाश अथवा विशेषण हैं। आत्मका विशेषण नहीं होनेसे शरीरके अस्तित्वकी उपलब्धिका अभाव होता है। शरीर आत्माका नियाम्य और भोग्य है, किन्तु आत्माका परिचय भी पूर्ण नहीं है, क्योंकि आत्मा खण्ड–चेतन है। खण्ड–चेतन अखण्ड–चेतनका परिचायक है। शरीर जिस प्रकारसे आत्माका परिचायक, नियाम्य और भोग्य है—आत्मा भी उसी प्रकार अखण्ड–चेतन परमात्माका परिचायक, नियाम्य और भोग्य है। इसलिए शरीर शब्दकी परमात्मा तक व्याप्ति है। शरीर, आत्मा आदि सभी शब्द समानाधिकरण्य (समानार्थ) से परब्रह्मके सहित प्रयुक्त होते हैं। किन्तु परब्रह्मके साथ शरीर और आत्माका समानाधिकरणमें प्रयोग सम्पूर्ण एकत्वके लिए नहीं है। समानार्थके स्थलपर एक वस्तुका ही विभिन्न प्रकाशक पदोंमें विन्यास होता है। जैसे ज्योतिष्टोम मन्त्रमें "अरुणवर्णा, एकवर्षकी आयुवाली, पिङ्गाक्षी गौओंके द्वारा सोम यज्ञ करना होता है"—इस वाक्यमें 'अरुणवर्णा', 'एकाहायणी' और 'पिङ्गाक्षी'—ये तीन विशेषण सोम यज्ञकी गौओंके भिन्न–भिन्न परिचायक हैं। उसी प्रकार चित् और अचित् एक परमात्माके ही भिन्न–भिन्न द्योतक या परिचायक हैं। जिस प्रकार शरीर और आत्मा समानाधिकरण विशेषण–विशेष्य भावयुक्त न होकर भी नियाम्य–नियामक, भोग्य–भोक्ता विशेष युक्त हैं, उसी प्रकार आत्माके साथ परमात्माका भी पूर्वोक्त विशेष–भाव नित्य वर्त्तमान है। श्रीरामानुजाचार्यके श्रीविशिष्टाद्वैत–सिद्धान्तमें केवल भेदवाद, केवल अभेदवाद और औपचारिक भेदाभेदवादका सम्पूर्ण रूपसे खण्डन किया गया है।

संक्षेपमें श्रीरामानुजका मत—आचार्य श्रीरामानुजके मतमें जीवात्मा और परमात्माका परस्पर सम्बन्ध-ज्ञान जानकर शुद्ध वर्णाश्रमधर्ममें अवस्थित होकर प्रीतिके साथ भगवान् श्रीपुरुषोत्तमके युगलचरणोंका ध्यान, अर्चन, प्रणाम करना आदि ही अभिधेय है और उनके चरणकमलोंकी प्राप्ति ही प्रयोजन है। यथा श्रीरामानुज रचित वेदार्थसंग्रहमें—'जीवपरमात्मायाथात्म्य-ज्ञानपूर्वक वर्णाश्रमधर्मोति कर्त्तव्य-ताकपरमपुरुष-चरण-युगल-ध्यानार्चन-प्रणामादिरत्यर्थप्रियस्तत्प्राप्ति फलः॥'

विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्तमें चित्, अचित् और ईश्वर—विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्तमें चित्, अचित् और ईश्वर—ये तीन तत्त्व स्वीकृत हुए हैं। 'चित्' शब्दसे जीवात्मा, 'अचित्' शब्दसे जड़ और 'ईश्वर' शब्दसे चित्-अचित्के नियामक पुरुषोत्तम भगवान् नारायण निर्दिष्ट हुए हैं।

चित्-विषयमें श्रीरामानुजका सिद्धान्त—चित् या आत्मा 'देह-इन्द्रिय-मन-प्राण' से विलक्षण, स्वप्रकाश, आनन्द-स्वरूप, नित्य, अणु, केवल घट-पटादि जड़ीय वस्तुओंको ही देखने योग्य प्राकृत नेत्रोंके लिए अदृश्य है। वह अस्त्र-शस्त्रसे छेदन, खण्डन आदिके अयोग्य, प्राकृत अवसर (काल) से रहित, निर्विकार, ज्ञानाश्रय, परमेश्वर द्वारा नियन्त्रित, भगवत्-सङ्कल्पकी अपेक्षासे युक्त सत्तावाली, 'शेष' अर्थात् ईश्वरके भोग्य हैं। आत्माएँ तीन श्रेणीकी हैं—(१) 'बद्ध' अर्थात् इस माया-जगत्में आबद्ध, (२) 'मुक्त' अर्थात् संसारमें बन्धनके पश्चात् मुक्त अथवा बद्धमुक्त एवं (३) 'नित्य' जैसे गरुड़ादि नित्यसिद्ध भगवत्-पार्षदवृन्द। ये तीनों श्रेणीकी आत्माएँ ही संख्यामें अनन्त हैं। यथा वेदार्थसंग्रहमें "जीवात्मनः स्वरूपं देव-मनुष्यादि प्रकृतिपरिणामविशेषरूपनानाविधभेदरहितं ज्ञान-आनन्दैकगुणं तस्यैतस्य कर्म्मकृत देवादिभेदे विध्वस्ते स्वरूपभेदो वाचामगोचरः स्वसंवेद्यः ज्ञानस्वरूपमित्येतावदेव निर्द्देश्यम्। तच्च सर्वेषामात्मनां समानम्। अर्थात् जीवात्माओंके स्वरूपमें प्रकृति-परिणाम

विशेषरूप देव-मनुष्यादि नाना प्रकारके भेद नहीं है। जीवात्मा चिदानन्द-स्वरूप है। जीवात्माओंके जन्म-जन्मान्तरमें किये हुए कर्मोंके कारण देव-मनुष्यादि भेद दूर हो जानेपर भी उनमें जो स्वरूप भेद वर्त्तमान रहता है, वह वाणीके द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता है, किन्तु वह जीवात्माके द्वारा स्वसंवेद्य है। मुक्तावस्थामें सभी आत्माएँ एक समान धर्मवाली होती हैं।"

श्रीरामानुजके मतमें जीवका अणुत्व और जीव एवं ईश्वरका अंश-अंशीत्व अर्थात् भगवान् अंशी हैं और जीव उनका अंश है, ऐसा स्वीकार हुआ है। यथा श्रीभाष्यमें साक्षात् अणुशब्द एवं श्रुयते—"'एषोणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश' (मुण्ड॰ उ॰ ३/१/९) इति। उद्धृत्य मानम् उन्मानम्, अणुसदृशं वस्तूद्धृत्य तन्मानत्वं जीवस्य श्रूयते 'बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च भागो जीवः स विज्ञेयः' (श्वे॰ उ॰ ५/९) इति, आराग्रमात्रो ह्यवरो पि दृष्टः (श्वे॰ उ॰ ५/८) इति च। अतोणुरेवायमात्मा॥" (ब्रह्मसूत्र २/३/२३का श्रीभाष्य)

अर्थात् "प्राण पाँच भागोंमें विभक्त होकर जिसमें प्रविष्ट हुआ है, उस अणु आत्मा (जीवात्मा) को चित्तके द्वारा जानना चाहिये।" यहाँ साक्षात् रूपमें ही जीवके सम्बन्धमें 'अणु' सुना जाता है। 'उन्मान' का अर्थ है उद्धृतकर परिमाण करना। अणुसदृश वस्तुकी तुलनामें जीवका वैसा ही परिमाण निर्देश करके समझाया जाता है। श्रुतिमें जैसा वर्णित है—केशके अग्रभागको सौ भागोंमें विभक्त करनेपर, उस एक भागके सौंवे भागके समान जीवका परिमाण समझना चाहिये। आत्मा महान होनेपर भी सुईके अग्रभागके समान अत्यन्त सूक्ष्म है। अतएव जीवात्मा अणु है, इस विषयमें कोई सन्देह नहीं है।

"प्रकाशादिवत् जीवः परमात्मनोंशः, यथा अग्न्यादित्यादेर्भास्वतोभारूपः प्रकाशोंशो भवति, यथा गवाश्व शुक्लकृष्णादीनां गोत्वादिविशिष्टानां वस्तूनां गोत्वादीनि विशेषणान्यंशाः, यथा वा देहिनो देवमनुष्यादिर्देहोंऽशः तद्वत्। एकवस्त्वेकदेशत्वं ह्यंशत्वम्, विशिष्टस्येकस्य वस्तुनो विशेषणमांश

एव। तथाच विवेचकाःविशिष्टे वस्तुनि विशेषणांशो यम्, विशेष्यांशो यमिति व्यपदिशन्ति। विशेषण-विशेष्ययोरंशांशित्वे पि स्वभाववैलक्षण्यं दृश्यते, एवं जीवपरयोर्विशेषणविशेष्ययोरंशांशित्वम्, स्वभावभेदश्चोपपद्यते। तदिदमुच्यते—'नैवं परः' इति। यथाभूतो जीवः, न तथाभूतः परः। यथैव हि प्रभायाः प्रभावान् अन्यथाभूतः, तथा प्रभास्थानीयात् स्वांशाज्जीवात् अंशी परो प्यर्थान्तरभूत इत्यर्थः। एवं जीवपरयोर्विशेषण-विशेष्यत्वकृतं स्वभाव-वैलक्षण्यमाश्रित्य भेदनिर्देशाः प्रवत्तन्ते, अभेद-निर्देशास्तु-पृथक्सिद्यनर्हविशेषणानां विशेष्यपर्यन्तत्वमाश्रित्य मुख्यत्वेनोप-पद्यन्ते।" (ब्रह्मसूत्र २/३/४५का श्रीभाष्य)

अर्थात् "प्रकाश या प्रभा आदिकी भाँति जीव परमात्माका अंश है। प्रभारूपी प्रकाशधर्म जिस प्रकार अग्नि अथवा सूर्य आदिका अंश है, जिस प्रकार 'सफेद और काले रङ्गके गाय तथा अश्व' इस वाक्यमें 'गाय और अश्व' तो विशेष्य हैं और 'सफेद तथा काला रङ्ग' उनका विशेषण होनेके कारण उनका अंश है अथवा देह जिस प्रकार देहीका अंश है, आत्मा भी उसी प्रकार परमात्माका अंश है।

"एक वस्तुका एक स्थानमें अवस्थान करना ही उस वस्तुके अंशत्वका परिचायक है। किसी एक विशिष्ट अर्थात् विशेषणयुक्त वस्तुका जो विशेषण है, वही उसका अंश है। विवेचना करनेवाले लोग भी विशिष्ट अर्थात् विशेषणयुक्त वस्तुमें 'यह अंश विशेषण है और यह अंश विशेष्य है'—इस प्रकार निर्देश करते हैं। 'विशेषण' और 'विशेष्य'—इन दोनोंके बीच अंश और अंशीका भाव रहनेपर भी इनके स्वभावमें विलक्षणता देखी जाती है। इसी प्रकार जीव और परमात्मा—इन दोनोंमें विशेषण-विशेष्यका सम्बन्ध होनेपर भी अंश-अंशीका भाव और स्वभावकी विलक्षणता होती है। इसलिए ऐसा कहा जाता है कि 'जीव जिस प्रकारका है, परमात्मा ठीक उसी प्रकारके नहीं हैं।' जिस प्रकार प्रभासे प्रभावान् वस्तु अग्नि और सूर्यादि पृथक् हैं, उसी प्रकार प्रभा स्थानीय स्वांशभूत जीवसे अंशी परमात्मा भी पृथक् है। इस

प्रकार जीव और परमात्मा—इन दोनोंमें उक्त विशेषण-विशेष्य भाव द्वारा स्वभावकी विलक्षणताके आधारपर ही समस्त प्रकारके भेदोंका निर्देश किया जाता है। जो अभेद निर्देश किये गये हैं, वह भी पृथक् रूपमें अवस्थितिके अयोग्य विशेषणसमूहके विशेष्य तकके होनेके आधारपर ही मुख्य रूपसे उत्पन्न होते हैं।"

अचित्के विषयमें श्रीरामानुजका सिद्धान्त—अचित् ज्ञानशून्य और विकार योग्य है। (१) शुद्धसत्त्व, (२) मिश्रसत्त्व, (३) सत्त्वशून्यके भेदसे अचित् तीन प्रकारका होता है। (१) शुद्धसत्व-अचित्—रज और तमसे मुक्त केवल सत्त्व—नित्य, ज्ञानानन्दजनक, कर्मसे अतीत केवलमात्र भगवान्की इच्छाके प्रभावसे वैकुण्ठगत विमान-गोपुर-मण्डप-प्रासादादि रूपमें परिणत, निरन्तर तेजोरूप, नित्यमुक्तोंके द्वारा भी परिच्छेद (विभाजन) के अयोग्य, अत्यन्त अद्भुत वस्तु ही शुद्धसत्त्व-अचित् है। शुद्धसत्त्व-अचित्को कुछ लोग 'जड़' कहते हैं और कुछ लोग 'अजड़' भी कहते हैं। अजड़ कहनेका कारण यह है कि यह स्वप्रकाश और संसारी लोगोंकी इन्द्रियोंके अगोचर है। (२) मिश्रसत्त्व-अचित्—यह सत्त्व-रज-तमोगुणात्मक, बद्धचेतन जीवोंके ज्ञान-आनन्दादिको दूर करनेवाला और विपरीत ज्ञानको उत्पन्न करनेवाला है, (३) सत्त्वशून्य-अचित्—सत्त्वशून्य-अचित्का दूसरा नाम 'काल' है। प्रकृति और प्राकृत वस्तुओंके परिणाम-हेतु काल काष्ठादिके रूपमें परिणत, नित्य, ईश्वरकी क्रीड़ाका परिकर और शरीर युक्त है। शुद्धसत्त्व-अचित् और मिश्रसत्त्व-अचित्—ये दोनों पदार्थ ईश्वर और जीवात्माके भोग्य विषय, चक्षु आदि इन्द्रियरूप भोगोपकरण एवं चौदह भुवनादिरूप भोगस्थान होते हैं।

ईश्वरके विषयमें श्रीरामानुजाचार्यका सिद्धान्त—चित्-चिदात्मक जगत्का जन्म, स्थिति और लय एवं संसारसे मुक्त होनेका एकमात्र कारण, समस्त प्रकारकी हेयतासे रहित, अनन्तकल्याण गुणविशिष्ट अथवा असीम उपादेयतासे युक्त, अपनेसे इतर

वस्तुओंसे विलक्षणस्वरूप अर्थात् चित् और अचित् विशेषणसे जिनका स्वरूप या विशेष्य-अंशसे विलक्षण है, असमोर्द्ध-प्रचुर असंख्य कल्याण-गुणसमूहसे युक्त, सर्वात्मा, परब्रह्म, परज्योति, परतत्त्व, परमात्मा, सत् आदि अनेक शब्दोंके द्वारा समस्त वेदोंकी एकमात्र अन्तिम प्रतिपाद्य वस्तु—वे पुरुषोत्तम नारायण ही अन्तर्यामी स्वरूप हैं। हेयता (दोष) विरोधी, अनन्त ज्ञानानन्दैकस्वरूप, ज्ञान-शक्ति आदि कल्याणगुणोंसे विभूषित, आर्त्त-जिज्ञासु-अर्थार्थी-ज्ञानी—इन चार प्रकारके पुरुषोंके एकमात्र आश्रयस्थल, चतुवर्ग (धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष) फलप्रदाता, विलक्षण विग्रहयुक्त, श्री-भू-लीलाके नायक श्रीनारायण ही ईश्वर हैं। यथा श्रीरामानुजकृत 'वेदान्तसंग्रह' में—'एवंविध चिदचिदात्मक प्रपञ्चस्योद्भवस्थिति प्रलयसंसारनिवर्त्तनैक-हेतुभूतः समस्तहेय प्रत्यनीकतया नन्तकल्याणैकतानतया च स्वेतर समस्तवस्तु विलक्षणस्वरूपो नवधिकातिशयासंख्येयकल्याणगुणः सर्वात्मपरब्रह्मपरज्योतिः परतत्त्व परमात्मसदादिशब्दभेदैर्निखिलवेदान्तवेद्यो भगवान्-नारायणः पुरुषोत्तम ईत्यन्तर्यामि स्वरूपम्।'

ईश्वरके स्वरूप—(१) पर, (२) व्यूह, (३) विभव, (४) अन्तर्यामी और (५) अर्चावतारके भेदसे पाँच प्रकारके होते हैं।

(१) 'पर' तत्त्व—'पर' शब्दसे परमेश्वर, नित्य वर्त्तमान आदि ज्योतिःरूप पर-वासुदेवका बोध होता है। (२) 'व्यूह' तत्त्व—सृष्टि-स्थिति-संहारके लिए, संसारके संरक्षण और उपासकोंपर कृपा करनेके लिए सङ्कर्षण-प्रद्युम्न-अनिरुद्धके रूपमें अवस्थित हैं। (३) 'विभव' तत्त्व—राम-कृष्णादि अवतार, (४) 'अन्तर्यामी' तत्त्व दो प्रकारके होते हैं—(क) दासके अन्तःकरणमें प्रविष्ट परमात्मा, (ख) 'वासुदेव हमारे प्राणस्वरूप हैं'—इस प्रकारकी चिन्ता करनेवाले विचारवान पुरुषोंके अन्तःकरणमें स्वयं प्रवेश करके लक्ष्मीके साथ विराजमान सर्वाङ्गसुन्दर परमसुन्दर श्रीनारायण। (५) अर्चावतार—दासोंकी सेवोन्मुख आत्मवृत्तिके अनुरूप अप्राकृत नाम-रूप-विशिष्ट उपास्यमूर्त्ति। स्वेच्छासे, सर्वज्ञ होकर भी अज्ञके

समान, सर्वशक्तिमान होनेपर भी निःशक्तिके समान, पूर्णकाम होनेपर भी दूसरोंपर निर्भर रहनेवालेके समान, रक्षक होकर भी रक्ष्यप्राय (रक्षा चाहनेवालेके समान), स्वयं स्वामी होकर भी भक्तोंके पराधीन होकर विराजमान हैं।

ईश्वर स्वभावतः ही निर्दोष हैं। स्थूल-सूक्ष्मरूपी समस्त जगत् ही उनका शरीर है, किन्तु उन ईश्वरमें कर्म-सम्बन्धकी गन्ध भी नहीं है। कर्मका सम्बन्ध नहीं रहनेसे पुरुषार्थ-विरोधी कोई भी धर्म उन्हें स्पर्श नहीं कर सकता। जैसे लौकिक दृष्टान्तमें भी देखा जाता है, जो राजशासनके अनुगामी होते हैं, वे राजाकी कृपाके पात्र होते हैं तथा जो राजशासनका उल्लङ्घन करनेवाले होते हैं, उन्हें राजा दण्ड देता है। इस प्रकार उस राजाके दण्ड तथा अनुग्रहके फलसे वे लोग सुख-दुःख भोग किया करते हैं, किन्तु उनका शासक राजा शरीरधारी होकर भी उस दण्ड और अनुग्रहके कारण होनेवाले सुख-दुःखका भोग नहीं करता। (श्रीभाष्य १/२/१४)

श्रीरामानुजाचार्यका परिणामवाद—स्थूल-सूक्ष्म चित्-अचित्—ये दोनों ब्रह्मके शरीर हैं।[१] सृष्टिसे पूर्व अर्थात् प्रलय कालमें यह दोनों ब्रह्मके सूक्ष्म-शरीरके रूपमें, वनमें लीन पक्षीकी भाँति नाम-रूप-विभागशून्य होकर ब्रह्मसे अभिन्न रूपमें अवस्थान करते हैं।[२] सृष्टिकालमें ये नाम-रूपादिके द्वारा विभक्त होकर स्थूल रूपमें परिणत होते हैं। जिस प्रकार मकड़ी स्वयं अविकृत रहकर अपने शरीरसे तन्तुओंको विस्तारकर गृहका निर्माण करती है, परमब्रह्म भी उसी प्रकार अपने चित्-अचित् शरीरको विकसित

---

[१] श्रीभाष्य १/१/१—'सूक्ष्मचिद्चिद् वस्तु शरीरस्यैव ब्राह्मणः स्थूल-चिद्-चिद्वस्तु-शरीरत्वेन कार्यत्वात्।' एवं २/१/१५ द्रष्टव्य। अर्थात् ब्रह्म शरीरी है। उनका सूक्ष्म या चित् शरीर जीव है। और जगत् ब्रह्मका स्थूल या अचित् शरीर है।

[२] वेदान्ततत्त्वसार (गौड़ीय संस्करण) का ९ वाँ एवं २९ वाँ पृष्ठ और श्रीभाष्य १/४/२७ द्रष्टव्य।

व सङ्कुचित करनेपर भी स्वयं अविकृत रहते हैं।[१] तात्पर्य यह है कि ब्रह्मके उपादानात्मक अर्थात् जगत् और जीवके रूपमें परिणतिके द्वारा उनके स्वभावमें कोई अन्तर नहीं आता। यह ब्रह्मके स्वभावसिद्ध अप्रतिहत ऐश्वर्यका ही परिचय है।[२]

श्रीरामानुजाचार्यके मतमें उपासना—एवंविध परभक्तिरूप ज्ञान-विशेषस्योत्पादकः पूर्वोक्तहरहरुपचीयमानज्ञानपूर्वक कर्मानुगृहीत भक्तियोग एव, यथोक्तं भगवता पराशरेण-'वर्णाश्रम' इति। अर्थात् भक्ति ही अतिशय-प्रिय और एकमात्र प्रयोजनीय, अन्यान्य सभी वस्तुओंमें वितृष्णा (वैराग्य) उत्पन्न करनेवाला ज्ञानविशेष हैं। उस भक्तिसे युक्त आत्माके द्वारा ही भगवान् वरणीय हैं और उसीके द्वारा ही वे भक्तोंको प्राप्त होते हैं। पूर्वकथित निरन्तर सम्बन्धयुक्त ज्ञानपूर्वक कर्मानुगृहीत भक्तियोग ही इस प्रकारके परमभक्तिरूपी ज्ञानका उत्पादक है। भगवान् पराशरने 'वर्णाश्रमचारवता' श्लोकमें इस प्रकार कहा है—[३] यथोदितक्रमपरिणतभक्त्येकलभ्य एव, भगवद् बोधायन-टङ्क-द्रमिड़-गुहदेव-कपर्द्दि भारुचिप्रभृत्यविगीत शिष्ट-परिगृहीत-पुरातन-वेद-वेदान्त व्याख्यानसुव्यक्तार्थ श्रुतिनिकर-निदर्शितो यं पन्थाः॥ अर्थात् यह सिद्धिपथ कर्मके अनुसार गृहीत है और यथोचित क्रमसे परिणत भक्तिके द्वारा ही प्राप्त होता है एवं भगवान् बोधायन, टङ्क, द्रमिड़, गुहदेव, कपर्द्दि, भारुचि आदि शिष्ट-महोदयगणोंने इस अनिन्द्य सुन्दर पन्थाका ही अनुमोदन किया है। पुरातन वेद-वेदान्तव्याख्या एवं सुन्दर रूपसे प्रकाशित सुस्पष्ट अर्थविशिष्ट श्रुतिओं द्वारा यही निर्दिष्ट पन्था है।

पाँच प्रकारकी उपासना—(१) अभिगमन (श्रीभगवान्के रथारोहणके समय मार्गको साफ करना तथा उनके मन्दिर आदिमें झाड़ू देना,

---

[१] तत्त्वत्रयमें ईश्वरतत्त्व निरूपणके प्रसङ्गमें २३-२६ अनुच्छेद द्रष्टव्य।

[२] श्रीभाष्य १/४/२७—'नात्रोपदिश्यमानस्य परिणामस्य परस्मिन् ब्रह्मणि दोषावहत्वं स्वभावः, परन्तु निरङ्कुशैश्वयत्यावहत्वमेवेत्यभिप्रायः।

[३] ब्रह्म पूर्ववत् विभक्तनामरूप चिदचिन्मिश्रप्रपञ्चशरीरम् स्याम्' इति सङ्कल्प्य अप्ययक्रमेण जगच्छरीरतया आत्मानं परिणमयतीति सर्वेषु वेदान्तेषु परिणामोपदेशः।

लीपना आदि), (२) उपादान (गन्ध-पुष्पादि पूजोपकरणका संग्रह करना), (३) इज्या (विष्णुपूजा), (४) स्वाध्याय (अर्थको समझकर मन्त्रजप, वैष्णवसूक्त-स्तोत्रादिका पाठ, नामसङ्कीर्त्तन, तत्त्व-प्रतिपादक शास्त्रोंका अनुशीलन), और (५) भगवदनुसन्धान (अर्थात् उत्कण्ठाके साथ भगवद्भक्तिका आचरण, जिससे श्रीभगवान्को प्राप्त किया जा सके।)

श्रीरामानुजके मतसे 'प्रयोजन'—श्रीरामानुजाचार्यके मतसे परव्योम-अधिपति लक्ष्मीनाथ श्रीनारायण ही स्वयं-भगवान् हैं। श्रीराधाकृष्णकी उपासनाकी अपूर्व चमत्कारिताको वे देख नहीं पाते। साधनावस्थामें कर्मानुगृहीत भक्तियोगके द्वारा श्रीभगवान्को सन्तुष्ट करनेके लिए साधन करते-करते साध्यावस्था प्राप्त होती है। साध्यावस्थामें जीवित-कालमें अथवा जीवितकालके बाद भी 'श्रीलक्ष्मी-नारायण ही एकमात्र मेरे यथासर्वस्व हैं'—इस प्रकारके ज्ञानके साथ ऐकान्तिक दास्य-रसात्मक-भावसे श्रीभगवान्की साक्षात् सेवा प्राप्त होती है। यही श्रीरामानुज और उनके अनुगामियोंका चरम प्रयोजन है। यतिराज श्रीरामानुजने इन सभी निगूढ़ विषयोंका अपने 'गद्यत्रय' नामक ग्रन्थमें विस्तारपूर्वक स्पष्टीकरण किया है। उसी ग्रन्थके कतिपय अंश नीचे उद्धृत किये जा रहे हैं—

"कदाहं भगवन्तं नारायणं मम नाथं मम कुलदैवतं मम-कुलधनं मम भोग्यं मम मातरं मम पितरं मम सर्वं साक्षात् करवाणि चक्षुषा, कदाहं भगवतपदाम्बुजद्वयं शिरसा संग्रहीष्यामि, कदाहं भगवदपादाम्बुजद्वयपरिचर्याशया निरस्तसमस्तेतर भोगाशोपहतसमस्त-सांसारिकस्वभावः प्रबुद्ध नित्यनियाम्य नित्यदास्यैकरसात्मकस्वभावस्तत्-पादाम्बुजद्वयं प्रवक्ष्यामि, कदाहं भगवत्पादाम्बुजद्वय परिचर्याकरणयोग्य-स्तदेकभोगस्ततपादौ परिचरिष्यामि, कदा मां भगवान्, स्वकीययाति-शीतलया दृशावलोक्य स्निग्ध-गम्भीर-मधुरया गिरा परिचर्यये मामाज्ञापरिष्यति इति भगवत्परिचर्यायामाशां वर्द्धयित्वा तयैवाशया तत्प्रसादोपवृंहितया भगवन्तमुपेत्य दुरादेव भगवन्तं शेषभोगे श्रिया

सहासीनं वैनतेयादिभिः सेव्यमानं समस्तपरिवाराय श्रीमते नारायणाय नम इति प्रणम्योत्थायोत्थाय पुनः-पुनः प्रणम्यात्यन्त साध्वसविनयावनतो भूत्वा, भगवत्पार्षदगणनायकैद्वारपालकैः कृपया स्नेहगर्भया दृशावलोकितः सम्यगभिवन्दितैस्तैस्तैरेवाभिमतो भूत्वा भगवन्तमुपेत्य श्रीमता मूलमन्त्रेण मामैकान्तिकात्यन्तिक परिचर्याकरणाय परिगृहीष्वेति याचमानः प्रम्यात्मानं भगवते निवेदयेत्।

अर्थात्, "मेरे स्वामी, मेरे कुलदेवता, मेरे कुलधन, मेरे भोग्य, मेरी माता, मेरे पिता, मेरे सर्वस्व-स्वरूप भगवान् श्रीनारायणका मैं कब अपने नेत्रोंसे साक्षात्कार करूँगा? कब मैं श्रीभगवान्के दोनों चरणकमलोंको अपने सिरपर भलीभाँति धारण करूँगा? श्रीभगवान्के दोनों चरणकमलोंकी परिचर्या करनेकी आशासे समस्त प्रकारके इतर (अन्यान्य) भोगोंकी आशाका वर्जनकर, समस्त सांसारिक स्वभावको नष्टकर कब मैं नित्य-नियाम्य अर्थात् नित्य एकमात्र दास्य-रसात्मक स्वाभावको जाग्रतकर श्रीभगवान्के दोनों चरणकमलोंकी सेवा करूँगा? कब मैं परिचर्या करने योग्य तथा एकमात्र भोक्ता भगवान्के दोनों श्रीचरणकमलोंकी परिचर्या करूँगा? कब श्रीभगवान् मुझे अपना मानकर अत्यन्त शीतल दृष्टिसे मुझे देखकर स्निग्ध, गम्भीर और मधुर वचनोंसे परिचर्या करनेके लिए आज्ञा प्रदान करेंगे। ऐसी भगवत्-परिचर्याकी आशाको वर्द्धितकर उसी आशा द्वारा तथा उनके चरणकमलोंकी वर्द्धित कृपा द्वारा श्रीभगवान्के समीप उपस्थित होकर दूरसे ही श्रीलक्ष्मीदेवी सहित शेषशैय्यापर सुखपूर्वक विराजित तथा श्रीगरुड़ आदि द्वारा सेवित भगवान्को उनके समस्त परिवार सहित 'श्रीमते नारायणाय नमः' इत्यादि कहते हुए पुनः-पुनः प्रणामकर और पुनः-पुनः उठकर अत्यन्त सम्भ्रम और विनयसे सिर झुकाकर खड़ा रहूँगा। उस समय भगवान्के पार्षदगणोंमें नायक (प्रधान) स्वरूप द्वारपालों द्वारा कृपापूर्वक मुझे स्नेहसे भरी दृष्टिसे देखे जानेपर तथा उनके द्वारा भलीभाँति अभिवन्दित होनेपर मैं उनका ही अत्यन्त प्रिय बनकर भगवान्के समीप उपस्थित होकर श्रीमत्

अर्थात् शक्तिसम्पन्न मूलमन्त्रसे उपासना करते हुए—'मुझ एकान्तिकको आत्यन्तिक परिचर्या करनेके लिए स्वीकार करें'—इस प्रकारकी याचना द्वारा स्वयंको भगवान्को निवेदन करूँगा।"

श्रीमद् रामानुजाचार्यके कतिपय उपदेश—

स्वदेशिकस्य कैङ्कर्यो वैष्णवस्य च।
प्रतिपत्तिं समां कृत्वा कैङ्कर्यं कारयेत् सदा।
पूर्वाचार्योक्तवाक्येषु विश्वासेनैव वर्त्तयेत्॥
(प्रपन्नामृत ६५/२४)

स्वयंको दास मानकर अपने गुरुदेव और वैष्णवोंके दास्यको समान रूपसे सम्मान करते हुए उनकी सर्वदा सेवा करनी चाहिये। पूर्वाचार्योंके वचनोंमें विश्वास करना चाहिये।

न वर्त्तयेदिन्द्रियाणां किङ्करश्च दिवानिशम्।
सामान्यशास्त्रनिरतो नैव तिष्ठेत् कदाचन॥
(प्रपन्नामृत ६५/२५)

इन्द्रियोंके दास बनकर दिन-रात व्यतीत मत करना। परमार्थ-शास्त्रके अतिरिक्त अन्य शास्त्र साधारण शास्त्र हैं। उनमें कभी भी आसक्त होकर मत रहना।

या प्रीतिरासीत सततं भगवन्नामकीर्तने।
सा स्यात् प्रीतिर्हि तद्भक्त नाम-सङ्कीर्तने च वः॥
(प्रपन्नामृत ६५/२९)

भगवान्के नामकीर्त्तनमें तुम्हारी जो प्रीति थी, वही प्रीति ही अब भगवान्के भक्तोंके नामसङ्कीर्त्तनके प्रति हो।

कारणं भगवत्प्राप्तेमर्हाभगवताश्रयः।
इति मत्वा दृढ़ं तेषां आज्ञया वर्तयेत् सदा॥
(प्रपन्नामृत ६५/३०)

महाभागवतजनोंका चरणाश्रय ही भगवत्-प्राप्तिका कारण है। यह जानकर दृढ़ रूपसे उनकी आज्ञाका पालन करना।

विहायविष्णुकैङ्कर्यं कैङ्कर्यं वैष्णवस्य च।
विनश्येत स नरः प्राज्ञः रागादिप्रेरितो यदि॥
(प्रपन्नामृत ६५/३१)

जिस प्रकार बुद्धिमान पुरुष भी विषयोंमें आसक्ति रखनेसे विनष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार विष्णु और वैष्णवोंका दासत्व त्याग करनेसे मनुष्यमात्र विनाशको प्राप्त होता है।

वैष्णवानामनुष्ठाने नोपायमतिमुन्नयेत्।
उपेयमेव सततं उन्नयेत सुमहामनाः॥
(प्रपन्नामृत ६५/३२)

वैष्णवसेवामें 'उपाय-बुद्धि' को छोड़कर बुद्धिमान व्यक्ति सर्वदा 'उपेय-बुद्धि' करेंगे। जो यह विचार रखते हैं कि वैष्णवसेवाके द्वारा अन्य कोई फल भी प्राप्त होता है, उनकी इस प्रकारकी बुद्धिको 'उपाय-बुद्धि' कहते हैं। और जो यह विचार रखते हैं कि बहुत सुकृतियोंके फलसे ही वैष्णवोंकी सेवा प्राप्त होती है, उनकी इस बुद्धिको ही 'उपेय-बुद्धि' कहते है।

पुष्प-चन्दन-ताम्बुल द्रव्यादिषु सुगन्धिषु।
वासनारुचिकार्याणि कदाचिन्नैव कारयेत्॥
(प्रपन्नामृत ६५/२८)

पुष्प, चन्दन, ताम्बुल आदि सुगन्धी-द्रव्योंको अपनी भोगवासनारूप रुचिकर कार्योंमें कभी भी व्यवहार नहीं करना चाहिये। अर्थात् भक्तोंको भक्ति प्रवृत्तिके रुचिकर कार्योंमें केवल भगवान्के निर्माल्यके रूपमें पुष्प, चन्दन, ताम्बुल इत्यादिका व्यवहार करना चाहिये, अपने भोगके लिए नहीं।

श्रुत्वा न विस्मयं गच्छेद्देवतान्तर कीर्तनम्।
विष्णोर्वा वैष्णवानाञ्च नामसङ्कीर्तनानि च॥
(प्रपन्नामृत ६५/४५)

अन्य देवताओंका कीर्त्तन सुनकर आश्चर्यचकित नहीं होना। विष्णु और वैष्णवोंका नामसङ्कीर्त्तन करनेवाले भक्त–पुरुषोंको देखकर आनन्दित ना होना अपराध है।

वैष्णवानाञ्च जन्मानि निद्रालस्यानि यानि च।
दृष्ट्वा तान्यप्रकाश्यानि जनेभ्यो न वदेत क्वचित्॥
(प्रपन्नामृत ६५/५०)

वैष्णवोंके जन्म, निद्रा, आलस्य आदिको गुप्त रखना चाहिये। वैष्णवोंमें ये व्यवहार देखकर भी किसीसे उनकी चर्चा नहीं करनी चाहिये।

यदि प्रणमते पूर्वं दासोहं इति वैष्णवः।
अनादरे कृते तस्मिन् अपचारो महान् भवेत्॥
(प्रपन्नामृत ६५/४९)

वैष्णव यदि 'मैं दास हूँ'—इस प्रकार कहकर पहले प्रणाम करते हैं, तो उनका अनादर करनेसे महान अपराध होता है।

माञ्च भागवतैः सार्द्धं साम्यबुद्धिं न कारयेत्।
प्राकृतानाञ्च संस्पर्शं प्राप्तः प्रामादिकाद यदि।
स्नातः सचैलः सहसा वैष्णवाङ्घ्रि जलं पिबेत्॥
(प्रपन्नामृत ६५/५५)

स्वयंको वैष्णवोंके समान नहीं समझना चाहिये। यदि प्राकृत लोगोंका अचानक स्पर्श हो जाये, तो वस्त्रके सहित स्नान करके उसी समय वैष्णवोंका चरणामृत पान करना चाहिये।

प्रसादे पावने विष्णोः सर्वपापहरे हरेः।
कदाचिदपि चोच्छिष्टं प्रतिपत्तिं न कारयेत्॥
(प्रपन्नामृत ६५/६२)

समस्त पापोंको हरण करनेवाले भगवान् श्रीहरिके पवित्र प्रसादमें कदापि उच्छिष्ट बुद्धि नहीं करनी चाहिये।

देहाभिमानिना सार्द्धं सहवासं न कारयेत्।
श्रीवैष्णवानां चिह्नानि धृत्वापि विषयातुरैः।
तैः सार्द्धं वञ्चकजनैः सहवासं न कारयेत्॥
(प्रपन्नामृत ६५/६५-६७)

देहमें आत्माभिमान रखनेवाले व्यक्तियोंका सङ्ग नहीं करना चाहिये। विषयोंमें आसक्त ऐसे वञ्चक व्यक्ति यदि समस्त वैष्णव-चिह्न भी धारण करे, तो भी उनका सङ्ग नहीं करना चाहिये।

वैष्णवेन तिरस्कारः कृतोर्हि भवतां यदि।
अपकारं स्मृतिं तस्मादमत्वा मौनतो वसेत्॥
(प्रपन्नामृत ६५/७४)

यदि वैष्णवलोग तिरस्कार करें, तो भी उनके अनिष्टका विचार न करके मौन धारण कर लेना चाहिये।

श्रीमद्भागवतार्चनं भगवतः पूजा विधेरुत्तमम्।
श्रीविष्णोरवमाननाद् गुरुतरं श्रीवैष्णवोल्लङ्घनम्।
तीर्थादच्युतपादजाद् गुरुतरं तीर्थं तदीयाङ्घ्रिजम्।
तस्मान्नित्यमतन्त्रितो भवसतां तेषां समाराधने॥
(प्रपन्नामृत ६५/८६)

वैष्णवोंकी पूजा ही भगवान्‌की उत्तम रीतिसे पूजा-विधि है, विष्णुके अपमानकी अपेक्षा वैष्णवोंका उल्लङ्घन गुरुतर (घोर-अपराध) है, वैष्णवोंका चरणामृत विष्णु-चरणामृतसे उत्तम है—यह जानकर आलस्यसे रहित होकर विष्णुके समान ही वैष्णवोंकी आराधनामें तत्पर होओ।

विशिष्टाद्वैत आम्नाय—

नीचे श्रीरामानुजार्यकी ऊर्ध्वतन गुरुपरम्परा (श्रीनारायणसे) एवं अधस्तन शिष्य-परम्परा दी जा रही है—

[नोट—नीचे जिस विशिष्टाद्वैत आम्नायका उल्लेख किया जा रहा है, उसमें सबसे पहले तामिलनाम फिर क्रमशः संस्कृतनाम,

आविर्भाव स्थान, आविर्भाव काल, नक्षत्र, वार एवं खृष्टाब्द (ईसवी) लिखा गया है।]

(१) पेरुमाल एम्बारुमान (तामिल नाम), श्रियःपति अथवा श्रीमन्नारायण (पर या अन्तर्यामि स्वरूप) (संस्कृत नाम), धाम—वैकुण्ठ, नित्यकाल विराजित; (२) श्रीनारायण—व्यूह, विभव और अर्चा रूपमें अनादिकालसे प्रपञ्चमें अवतीर्ण; (३) पेरिया पिराट्टि (ता) श्री अथवा लक्ष्मी (सं), वैकुण्ठ और प्रपञ्चमें नित्यकाल अवस्थित; (४) मन्मगल नाप्पिन्नाई इत्यादि (ता), भूदेवी, लीलादेवी इत्यादि (सं), वैकुण्ठ और प्रपञ्चमें नित्यकाल विराजित; (५) सिनाई मुदालियार इत्यादि (ता), विष्वकसेन, अनन्त, गरुड़ इत्यादि (सं), वैकुण्ठ और प्रपञ्चमें नित्य विराजित; (६) पयगइ आलोयार (ता), सरयोगी या कासार मुनि (सं), काञ्ची—आविर्भाव स्थान, ८६२९०० द्वापराब्द, श्रवणा नक्षत्र, मङ्गलवार, ईसा पूर्व ४२०२ (आविर्भावकाल); (७) पूदत्तआलोयार (ता), भूतयोगी (सं), महाबलिपुरम्, ८६२९०० द्वापराब्द, धनिष्ठा, बुधवार, ईसा पूर्व ४२०२ (आविर्भाव); (८) पे आलोयार (ता), भ्रान्तयोगी (सं), मयलापुर, मयूरपुरी, चेन्नई (स्थान), ८६२९०० द्वापराब्द, शतभिषा, बृहस्पतिवार, ईसा पूर्व ४२०२ (आविर्भाव); (९) तिरुमड़िसाइप्पिवान (ता), भक्तिसार (सं), तिरुमड़िसाई अथवा महीसार पुनामेलिसे दो मील पश्चिम (स्थान), ८६२९०० द्वापराब्द, मघा, मङ्गलवार, ईसा पूर्व ४२०२ (आविर्भाव); (१०) मधुरकविगल (ता) मधुरकवि (सं) तिरुक्कलूर-तिनेभेल्लिसे १९ मील (स्थान), ८८३८७८ द्वापराब्द, चित्रा, शुक्रवार; (११) नम्मा आलोयार, मारण इत्यादि (ता), पराङ्कुश, शठकोप, बकुलाभरण इत्यादि (सं), आलोयार तिरुनगरी तिनेभेल्लिसे १८ मील (स्थान), १ कल्यब्द, विशाखा, शुक्रवार, ईसा पूर्व ३१०२ (आविर्भाव); (१२) कुलशेखर आलोयार (ता), कुलशेखर (सं), तिरुभञ्जिक्कोलाम—मालयालम (स्थान), २७ कल्यब्द, पुनर्वसु, बृहस्पतिवार, ईसा पूर्व ३०७५ (आविर्भाव); (१३) पेरिया

आलोयार (ता), विष्णुचित्त (सं), श्रीविल्लिपूत्तूर (स्थान), ४६ कल्यब्द, स्वाती, रविवार, ईसा पूर्व ३०५६ (आविर्भाव); (१४) अण्डाल (ता), गोदादेवी (सं), श्रीविल्लिपूत्तूर, ९७ कल्यब्द, पूर्वफाल्गुनि, मङ्गलवार, ईसा पूर्व ३००५ (आविर्भाव); (१५) तोण्डाराड़िप्पोड़ि आलोयार (ता), भक्ताङ्घ्रिरेणु (सं), मण्डगुड़ि—जिला त्रिचिनपल्ली, २८८ कल्यब्द, ज्येष्ठा, मङ्गलवार ईसा पूर्व २८१४ (आविर्भाव); (१६) तिरुप्पान आलोयार (ता), प्राणनाथ, योगिवाह, मुनिवान (सं), उरायुर—त्रिचिनपल्लीके निकट, ३४२ कल्यब्द, रोहिणी, बुधवार, ईसा पूर्व २७६० (आविर्भाव); (१७) तिरुमङ्गई आलोयार इत्यादि (ता), परकाल इत्यादि चतुष्कवि (सं), तिरुनगरी—शियालीके पास, ३९७ कल्यब्द, कृत्तिका, बृहस्पतिवार, ईसा पूर्व २७०६ (आविर्भाव); (१८) नड़मुनिगल (ता), नाथयोगी अथवा नाथमुनि (सं), वीरनारायणपुरम् या काटूमान्नार कोभिल—दक्षिण आर्कट जिला, अनुराधा, बुधवार, ९१६ ईसवीमें जब इनके पौत्र आलवन्दारने जन्म-ग्रहण किया, तब वे प्रकट थे। पौत्रकी शैशवावस्थामें इन्होंने प्रपञ्च-जगत्को त्याग किया था; (१९) उज्जकोण्डर (ता), पुण्डरीकाक्ष (सं), तिरुभल्लरई—त्रिचिनापल्लीसे १० मील उत्तर दिशामें, ३९२७ कल्यब्द, चित्रा, शुक्रवार, ८२६ ईसवी; (२०) मनाक्कल नम्बि (ता), वाममिश्र (सं), मनक्कल-त्रिचिनपल्लीसे ७ मील पूर्व दिशामें, ३९७० कल्यब्द, मघा, बुधवार, ८७० ईसवी; (२१) आलवन्दार (ता) यामुनाचार्य (सं) कुप्पाङ्गुलि—काटूमान्नार कोभिलसे १ मील, ४०१७ कल्यब्द, उत्तराषाढ़ा, शुक्रवार ९१६ ईसवी; (२२) तिरुवराङ्गाप्पारुमाल आराइयार (ता), श्रीरङ्गनाथगायक (सं), श्रीरङ्गम, ४०५८ कल्यब्द, अनुराधा, ९५७ ईसवी; (२३) पेरिया नम्बि (ता), महापूर्ण (सं), श्रीरङ्गम, ४०९८ कल्यब्द, ज्येष्ठा, बुधवार, ९९८ ईसवी; (२४) तिरुकोट्टियुर नम्बि (ता), गोष्ठीपूर्ण (सं), तिरुकोट्टियूर—मादुरा जिला, ४०८८ कल्यब्द, रोहिणी ९८७ ईसवी; (२५) तिरुमलय अण्डान (ता), मालाधर (सं), आजगर तिरुमलय—मादुरा जिला

४०८९ कल्यब्द, धनिष्ठा, ९८८ ईसवी; (२६) तिरुक्वाच्चि नम्बि (ता) काञ्चीपूर्ण (सं), पुनामेलि, ४११० कल्यब्द, मृगशिरा, १०१० ईसवी; (२७) एम्बारुमानार, उदईयावर या ईलाई आलोयार (ता) रामानुज, भाष्यकार यतीन्द्र, शेष, यतिराज, इत्यादि (सं), श्रीपरमवत्तुर, ४११८ कल्यब्द, आर्द्रा, बृहस्पतिवार, १०१७ ईसवी; (२८) आनन्दालभान (ता), अनन्तसूरी (सं), सिरुपुत्तूर या किरणगढ़—श्रीरङ्गपत्तमके निकट महीशूर, ४१५४ कल्यब्द, चित्रा, शुक्रवार, १०५३ ईसवी; (२९) कूरत्तालभान (ता), कूरनाथ या कूरेश (सं), कुराम—काञ्चीपुरमके निकट, ४१३१ कल्यब्द, हस्ता, रविवार, १०३१ ईसवी; (३०) मुदालियाण्डान (ता), दाशरथि (सं), पाच्छाप्पारुमाल कोभिल—पुनामेलिके निकट, ४१३४ कल्यब्द, पुनर्वसु, सोमवार, १०३३ ईसवी, (३१) एम्बार (ता) गोविन्ददेशिक या गोविन्दजिया (सं), मधुरमङ्गलम्, ४१२६ कल्यब्द, पुनर्वसु, १०२६ ईसवी; (३२) पेरिया भट्टर या भट्टर (ता), भट्टार्य या पराशर भट्टार्य (सं), श्रीरङ्गम, ४१७५ कल्यब्द, अनुराधा, १०७४ ईसवी; (३३) नाञ्जीयार (ता), निगमान्त योगी, वेदान्त मुनि या वेदान्तवेद्य (सं) शृङ्गेरी—महीशूर, ४१५४ कल्यब्द, उत्तरफाल्गुनी, १०५४ ईसवी; (३४) नम्बिलाई (ता), जगदाचार्य, कलिवैरिदास या सूक्तिमहार्णव (सं), नम्बूर या आरियामङ्गलम्-त्रिचिनपल्लीके निकट, ४२२८ कल्यब्द, कृत्तिका, ११२७ ईसवी; (३५) पेरिया आच्चानविल्लाई (ता), कृष्णसमाह्वय (सं), सेङ्गान्नूर—कुम्भकोणमके निकट, ४२६० कल्यब्द, रोहिणी, ११५९ ईसवी; (३६) बड़कुट्टिरुभिधिप्पिल्लाई (ता), कृष्णपादपादाब्ज (सं), श्रीरङ्गम, ४२६० कल्यब्द, स्वाती, ११५९ ईसवी; (३७) उलाग्रारियान् (ता), लोकाचार्य, जगदाचार्य (सं) श्रीरङ्गम, ४३१४ कल्यब्द, श्रवणा १२१३ ईसवी; (३८) तिरुभयमड़िप्पिल्लई या तिरुमलय आलोयार (ता), श्रीशैलेश (सं) आलोयार तिरुनगरी, ४४०८ कल्यब्द, विशाखा, १३०७ ईसवी; (३९) मनओयाल या मामुनिगाल या पेरिया जियार (ता), रम्यजामात्रि, सौम्यजामात्रि, विशदवाक्शिखामणि,

यतीन्द्रप्रवण, वरयोगी, वरवरमुनि, इत्यादि (सं), आलोयार तिरुनगरी, ४४७१ कल्यब्द, मूलानक्षत्र, शुक्रवार, १३७० ईसवी, (४०) तुप्पिल पिल्लाई (ता), वेदान्तचार्य या वेदान्तदेशिक (सं), तुप्पिल–काञ्चीके निकट, ४३६९ कल्यब्द, श्रवणा, १२६८ ईसवी; (४१) नाईनार आचारियार (ता), वरदाचार्य (सं), तुप्पिल, ४४१७ कल्यब्द, रोहिणी, १३१६ ईसवी।

पृष्ठ संख्या ६१ की पादटीका।

ग्रामके निकट पहुँचकर उन्होंने अपने धनी शिष्य यज्ञेशके घर अपने दो शिष्योंको भेजकर उसे यह संवाद दिया कि श्रीरामानुजाचार्य अपने शिष्योंके सहित यहाँ पधारे हैं और आज वे तुम्हारे घरपर अतिथि होंगे। यह सुनते ही यज्ञेश अत्यन्त प्रसन्न होकर बिना कुछ उत्तर दिये अपने घरके भीतर गया और श्रीरामानुजाचार्यके ठहरने, उनके प्रसाद पाने आदिकी व्यवस्था करनेमें इतना मग्न हो गया कि उसे द्वारपर खड़े अपने गुरुभ्राताओंका स्मरण ही नहीं रहा। बाहर द्वारपर श्रील रामानुजाचार्यके दोनों शिष्य उसकी बहुत देर तक प्रतीक्षा करनेके उपरान्त श्रीरामानुजाचार्यके समीप लौटकर कहने लगे—“गुरुदेव! हमलोगोंने उसे आपके आनेका संवाद दिया, तो वह बिना कुछ कहे घरके भीतर चला गया, फिर बाहर ही नहीं निकला। बहुत देर प्रतीक्षा करनेके बाद हम लौट आये।”

यह सुनकर श्रीरामानुजाचार्यने उनसे कहा—“वरदाचार्य दरिद्र है। इसलिए मैं यज्ञेशके घर प्रसाद पाकर ही वरदाचार्यके घर जाना चाहता था, परन्तु अब कोई दूसरा उपाय नहीं है। अब हम सभी लोग इसी समय वरदाचार्यके घर चलेंगे।” तत्पश्चात् श्रीरामानुजाचार्य अपने शिष्यों सहित वरदाचार्यजीके घरपर पहुँचे और द्वार खट–खटाया, किन्तु उस समय वरदाचार्य स्वयं कुछ भिक्षा माँगनेके लिए बाहर गये थे तथा उनकी पत्नी घरमें अकेली थी। द्वारपर खट–खट सुनकर उसने समझा कि सम्भवतः उसके पति आये हैं। किन्तु फटे हुए कपड़ोंसे किसी प्रकार अपने शरीरको ढककर जैसे ही उसने द्वार खोला, तब अपने गुरुदेव सहित गुरुभ्राताओंको देखकर वह बड़ी लज्जित हुई। श्रीरामानुजाचार्य यह देखकर सबकुछ समझ गये और उन्होंने द्वारपर खड़े–खड़े ही अपनी चादर उसकी ओर फेंक दी।

वरदाचार्यकी पत्नी उस चादरको लपेटकर अपने गुरुदेवके निकट आयी और उन्हें दण्डवत् प्रणाम किया एवं उनसे भीतर आनेके लिए प्रार्थना की।

श्रीरामानुजाचार्य अपने शिष्योंके साथ उसके घरके भीतर आकर बैठ गये। अब वह चिन्ता करने लगी कि—"मैं अपने गुरुदेव और गुरुभ्राताओंके आदर-सत्कारकी व्यवस्था किस प्रकार करूँ?" तभी उसे स्मरण हुआ कि पास ही एक धनी बनिया उसके प्रति कुदृष्टि रखता है और वह बारम्बार कुछ धन आदिका लोभ देकर उसके सतित्वको नष्ट करना चाहता है। तब उसने निश्चय किया कि—"यदि यह शरीर गुरुदेव और वैष्णवोंकी सेवामें नहीं लगेगा, तो इस शरीर और सतित्वकी क्या आवश्यकता है? अतः मैं अपने शरीरको बेचकर भी अपने गुरुदेव और वैष्णवोंकी सेवा करूँगी।" ऐसा सोचकर वह उस धनी बनियेके पास पहुँची और उससे कहा—"आज हमारे गुरुदेव अपने अनेक शिष्योंके साथ कृपाकर हमारे घरपर पधारे हैं, मैं उनकी सेवाके पश्चात् तुम्हारा मनोऽभीष्ट अवश्य पूर्ण करूँगी, किन्तु तुम मुझे उनकी सेवाके लिए समस्त सामग्री प्रदान कर दो।" वह बनिया यह सुनकर बहुत प्रसन्न हुआ और उसने जो माँगा, वह समस्त सामग्री उसने ब्राह्मणीके साथ उसके घर भिजवा दी।

सती-साध्वी वह ब्राह्मण पत्नी उस सामग्रीके साथ अपने घरमें आयी और अत्यन्त प्रसन्न होकर उसने नाना प्रकारका स्वादिष्ट नैवेद्य तैयारकर अपने गुरुदेव एवं सभी वैष्णवोंको प्रसाद खिलाया। तत्पश्चात् उसने किसी प्रकार उनके विश्राम करनेकी व्यवस्था कर दी। इतनेमें वरदाचार्य भिक्षाकर घर वापस लौटे। जब वे भीतर आये तो अपने गुरुदेव और वैष्णवोंको देखकर बड़े प्रसन्न हुए। फिर वे चिन्ता करने लगे—"आज तो मुझे भिक्षा भी कुछ नहीं मिली, अब गुरुदेवकी सेवा किस प्रकार होगी?" इस प्रकार चिन्ता करते-करते वे अपनी पत्नीके पास आये और उससे कहा—"हम दरिद्र हैं, अतः गुरु-वैष्णवोंकी सेवा-सत्कार किस प्रकार करेंगे?" तब वरदाचार्यकी पत्नीने कहा—"इसकी सारी व्यवस्था हो गयी है, आप कुछ भी चिन्ता न करें।" वे आश्चर्यचकित होकर बोले—"तुमने किस प्रकार सारी व्यवस्था कर दी?" तब ब्राह्मणीने बतलाया—"वह धनी बनिया मेरे ऊपर कुदृष्टि रखता था। मैंने आज तक दृढ़तापूर्वक उसका विरोध किया।

किन्तु आज मैंने सोचा कि अत्यन्त सौभाग्यसे हमें गुरु-वैष्णवोंकी सेवाका सुयोग मिला है, अतः इस शरीरको बेचकर भी गुरु-वैष्णवोंकी सेवा करनी चाहिये। ऐसा सोचकर मैं उस बनियेके पास गयी और मैंने कहा कि मुझे तुम्हारा प्रस्ताव स्वीकार है। अभी हमारे गुरुदेवकी सेवाके लिए मुझे जिन-जिन वस्तुओंकी आवश्यकता है, आप मुझे वे सब वस्तुएँ दे दीजिये। उस बनियेने प्रसन्न होकर सारी सामग्री घरमें भिजवा दी और मैंने घरमें आकर रसोई बनाकर गुरुदेव एवं सभी वैष्णवोंको प्रसाद खिला दिया है, वे अब विश्राम कर रहे हैं।"

यह सुनकर उसका पति बहुत ही आश्चर्यचकित हुआ। दैववश श्रील रामानुजाचार्य भी यह सब बात सुन रहे थे। उन्होंने वरदाचार्यको अपने पास बुलाकर कहा कि—"हे वरदाचार्य! निकट रहनेवाले बनियेको थोड़ा मेरा प्रसाद पहुँचा देना।" सायंकालके पश्चात् जब रातमें श्रीरामानुजाचार्य और सभी वैष्णव सो गये, तब वरदाचार्य अपनी पत्नीके साथ उस बनियेके घरमें गये। ब्राह्मण पत्नी श्रीरामानुजाचार्यके पात्रसे कुछ उच्छिष्ट प्रसाद अपने हाथोंमें लेकर गयी थी। वह अकेली बनियेके घरके भीतर गयी और उसके पति द्वारपर ही खड़े रहे। ब्राह्मणीने पहले उसे अपने गुरुजीका प्रसाद दिया। बनियेने प्रसन्नतापूर्वक श्रीरामानुजका उच्छिष्ट प्रसाद ग्रहण किया। प्रसाद ग्रहण करते ही उसका हृदय परिवर्त्तित हो गया और उसने रोते-रोते उस सती-साध्वी ब्राह्मणीके चरणोंमें गिरकर प्रणाम किया और कहा—"देवी! आप मेरे अपराधोंको क्षमा कर दीजिये, आप साधारण नहीं है। आपके गुरुदेवका प्रसाद पाकर मेरा हृदय परिवर्त्तित हो गया, मैं भी आपके गुरुदेवके चरणोंमें शरणागत होना चाहता हूँ।" यह कहकर वह भी उस ब्राह्मण-पत्नीके साथ श्रीरामानुजाचार्यके पास आया और उनके चरणोंमें शरणागत होकर उनसे मन्त्र-दीक्षा ग्रहणकर वैष्णव हो गया। इस प्रकार वरदाचार्यकी पत्नीकी गुरु-निष्ठासे उस धनाढ्य बनियेकी दुर्बुद्धि दूर हो गयी।

पृष्ठ संख्या ६५ की पादटीका।

श्रीरङ्गममें धनुर्धर नामक एक अत्यन्त बलवान मल्ल रहता था। सभी लोग उससे भयभीत रहते थे। वह एक वेश्याके रूपके प्रति इतना आसक्त था कि सर्वदा उसका मुख ही देखता रहता था। यदि वह वेश्या कहीं

जाती, तो वह उसकी ओर मुख करके पीछेकी ओर उल्टा चलता था। भयके कारण कोई भी उसका प्रतिवाद नहीं करता था।

एक दिन वह वेश्या श्रीरङ्गनाथजीके मन्दिरमें दर्शन करनेके लिए आयी। धनुर्धरने उसी प्रकारसे उस वेश्याकी ओर मुखकरके देखते हुए उल्टे चलकर मन्दिरमें प्रवेश किया। जब वह वेश्या ठाकुरजीके मन्दिरके सामने दर्शन करनेके लिए पहुँची, तब धनुर्धर मन्दिरके द्वारपर मन्दिरकी ओर पीठ करके खड़ा हो गया और उसका मुख देखने लगा। मन्दिरका द्वार खुलनेका समय हो गया। किन्तु भयके कारण कोई भी धनुर्धरसे कुछ नहीं कह सका और द्वार नहीं खुल पाया। जब यह समाचार श्रीरामानुजाचार्यके पास पहुँचा तो वे तुरन्त वहाँपर उपस्थित हुए और उन्होंने धनुर्धरसे कहा—"भाई! तुम मन्दिरके द्वारसे हट जाओ और यहाँ आकर भगवान्‌के श्रीविग्रहका दर्शन करो।" धनुर्धरने कहा—"इस पत्थरकी मूर्त्तिमें क्या है? जरा मेरी सङ्गिनीका मुख तो देखो, यह कितनी सुन्दर है। यदि तुम इसे देखोगे, तो उस मूर्त्तिको देखनेकी तुम्हारी इच्छा नहीं होगी।" श्रीरामानुजाचार्य बोले—"यदि तुमने भगवान्‌के श्रीविग्रहका दर्शन किया तो फिर इस स्त्रीका मुख दर्शन करनेकी तुम्हारी इच्छा पूर्णतया दूर हो जायेगी।" धनुर्धरने कहा—"यह असम्भव है।" श्रीरामानुजाचार्यने कहा—"ठीक है, यदि तुम ऐसा सोचते हो कि यह असम्भव है, तो तुम परीक्षा करके देखो। तुम वहाँसे हटकर यहाँ मेरे पास आओ।"

श्रीरामानुजाचार्यके कहनेपर वह वहाँसे हटकर उनके निकट आ गया। मन्दिरके कपाट खुले और खुलते ही श्रीरामानुजाचार्यने उसके सिरके ऊपर अपना हाथ रख दिया। श्रीरामानुजाचार्यका स्पर्श पाकर भगवान् श्रीरङ्गनाथजीके मुख-कमल और अङ्ग-प्रत्यङ्गका दर्शन करते ही वह एकदम मुग्ध हो गया। वह अपने नेत्रोंको श्रीविग्रहके दर्शनसे हटा नहीं सका। अब तो वह उस वेश्याके मुखको भी भूल गया और श्रीरामानुजाचार्यके चरणोंमें गिरकर उनके शरणागत हो गया। इसके पश्चात् मन्दिरके कपाट बन्द हो गये। फिर उस मल्लने श्रीरामानुजाचार्यके चरणोंमें क्षमा माँगी और उनसे मन्त्र दीक्षाके लिए प्रार्थना की। श्रीरामानुजाचार्यने उस महाबली धनुर्धरको दीक्षा-मन्त्र दिया और वह धुरन्धर मल्ल वैष्णवधर्ममें दीक्षित होकर धनुर्दासके नामसे प्रसिद्ध हो गया। श्रीरामानुजाचार्यकी अत्यधिक प्रीतिके कारण अब श्रीरङ्गमके बड़े-बड़े ब्राह्मण-पण्डित भी उसका सम्मान करने

लगे। उसके विचार और आचार सभी वैष्णवोचित हो गये। श्रीरामानुजकी ऐसी महिमा देख-सुनकर वह महिला भी श्रीरामानुजाचार्यके शरणागत हो गयी। श्रीलरामानुजाचार्यने उसे भी मन्त्र प्रदान करके अपनी शिष्याके रूपमें अङ्गीकार किया। बादमें श्रीधनुर्दास तथा वह महिला विधिवत् प्रणय-सूत्रमें बँध गये। विधिवत् गृहस्थधर्मका पालन करते हुए प्रतिदिन श्रीरामानुजाचार्यके प्रवचन सुनना और श्रीविग्रहका दर्शन करना और अन्य समस्त वैष्णवोंको सम्मान करना ही अब उन दोनोंका प्रधान कार्य हो गया।

श्रीरामानुजाचार्य प्रतिदिन कावेरी नदीमें स्नान करनेके लिए जाते थे। वे स्नानके लिए जाते समय अपने ब्राह्मण और त्यागी शिष्योंके कन्धेपर हाथ रखकर घाटकी सीढ़ियोंसे नीचे उतरते थे और कावेरीके जलमें स्नान करनेके पश्चात् केवल धनुर्दासके कन्धेपर भार देकर ऊपर चढ़ते थे। यह देखकर श्रीरामानुजाचार्यके कुछ त्यागी ब्राह्मण शिष्योंके हृदयमें ईर्ष्या उत्पन्न होने लगी। वे धनुर्दासको नीचा दिखलानेकी चेष्टा करने लगे। श्रीरामानुजाचार्यसे यह बात सहन नहीं हुई। एक दिन उन्होंने अपने त्यागी ब्राह्मण शिष्योंको बुलाया और उनसे कहा—"आज मैं रातके समय बहुत देर तक धनुर्दाससे भागवत-कथा (हरिकथा) कहूँगा। अधिक रात होनेपर तुम धनुर्दासके घर जाकर उसके घरसे सोनेके अलङ्कार, रुपये-पैसे और जो भी बहुमूल्य वस्तुएँ हों, वह सब चुराकर यहाँ मठमें लौट आना। धनुर्दास मेरे पासमें बैठा रहेगा और उसकी स्त्री भी सो रही होगी, इसलिए तुम्हें पकड़े जानेका कोई भय नहीं है।

उस दिन रातके समय श्रीरामानुजाचार्य धनुर्दासको हरिकथा और भक्तिके सिद्धान्त सुनाने लगे और वह तन्मय होकर श्रवण करने लगा। बहुत रात हो गयी, तो श्रीरामानुजके कुछ त्यागी शिष्य लोग धनुर्दासके घरमें पहुँचे। धनुर्दास तो मठमें ही था और उन्होंने देखा कि उसकी स्त्री भी घोर निद्रामें सोयी हुई है। उन्होंने घरका सारा बहुमूल्य सामान चुराकर एक पोटलीमें बाँध दिया। धनुर्दासकी पत्नीके अङ्गोंमें सोनेके अलङ्कार थे। उन्होंने किसी प्रकारसे उसके गलेका हार और एक हाथके अलङ्कारोंको तो उतार लिया, किन्तु नीचेके हाथमें सोनेके जो अलङ्कार थे, उसे वे नहीं ले सके। धनुर्दासकी पत्नी यद्यपि जगी हुई थी, तथापि उसने मन-ही-मन विचार किया कि "गुरुभाई अवश्य ही किसी विशेष कारणसे यह कार्य कर रहे हैं, हो सकता है उन्हें मेरे दूसरे हाथमें पहने हुए अलङ्करोंकी भी

आवश्यकता होगी"—ऐसा सोचकर उसने जान-बूझकर जैसे ही करवट बदली, तभी वे सब भयभीत होकर वहाँसे वे जो कुछ एकत्रित कर चुके थे, उसीको लेकर भाग गये। मठमें श्रीरामानुजाचार्य अभी तक धनुर्दासको हरिकथा सुना रहे थे। चोरी करके आनेवाले शिष्योंने किसी प्रकारसे श्रीरामानुजाचार्यको सङ्केतसे बतला दिया कि हमलोग इनका सब कुछ चुराकर ले आये हैं।

उस समय श्रीरामानुजाचार्यने धनुर्दाससे कहा कि बहुत रात हो गयी, अब तुम घर जाओ और हम भी विश्राम करेंगे। धनुर्दास आनन्दित होकर घरमें लौट आया। इधर श्रीरामानुजाचार्यने अपने कुछ ब्राह्मण भक्तोंको धनुर्दासके पीछे-पीछे भेजकर कहा कि धनुर्दासके घर पहुँचनेपर उसके घरमें जो वार्त्तालाप हो, उसे तुमलोग सुनकर आना। धनुर्दासने घर पहुँचकर देखा कि उसकी पत्नी जाग रही थी और उसके लिए प्रतीक्षा कर रही थी। धनुर्दासने जब पूछा कि अभी तक क्यों जाग रही हो? उसने बतलाया—"बड़े सौभाग्यकी बात है कि जब आप गुरुजीके पास थे, तो हमारे कुछ गुरुभाई हमारे घरमें आये और जो कुछ घरमें था, सब कुछ एकत्रित कर लिया। फिर वे मेरे पास आये, मैं यहाँपर सो रही थी। उन्होंने मेरे गलेका हार, ऊपरी हाथका कङ्कन, अङ्गुठी, अङ्गद इत्यादि सब कुछ ले लिया। मैंने सोचा कि क्या अच्छा होता कि ये लोग मेरे नीचेवाले हाथके भी अलङ्कार ले लेते। इसलिए मैंने धीरेसे करवट बदली। इतनेमें वे लोग भयभीत होकर यहाँसे चले गये।" धनुर्दासने कहा—"तुमने बहुत भूल की। यदि बिना करवट लिये ही हाथको आगे फैला देती, तो आसानीसे वे उसे भी ले जा सकते थे। जो हुआ सो अच्छा हुआ। आजसे हमलोग निश्चिन्त होकर भगवान्‌का भजन करेंगे। अब तक हमारा घर धन-सम्पत्तिसे भरा-पूरा था। हममें अभिमान आनेकी आशङ्का थी। अब निर्धन होकर सम्पूर्ण रूपसे, सारी चेष्टाओंसे हमलोग भगवान्‌का भजन कर सकेंगे और गुरुजीकी सेवा करेंगे।"

श्रीरामानुजाचार्यके त्यागी शिष्य उनकी परस्परकी बातोंको सुनकर मठमें लौटे और उस वार्त्तालापको श्रीरामानुजााचार्य और उनके अन्य त्यागी शिष्योंको सुनाया। श्रीरामानुजाचार्यने कहा—"देखो! वे दोनों किस प्रकार निस्पृह हैं? संसारके धन-सम्पदके प्रति उनकी कोई भी आसक्ति नहीं है। तुमलोग उनका सब कुछ चुरा कर ले आये और उन्हें इसका तनिक

भी खेद नहीं। यही वैष्णवता है।" दूसरे दिन जब उन त्यागी शिष्योंने स्नान करनेके पश्चात् अपनी-अपनी डोर-कौपीन सुखानेके लिए रखे, तब श्रीरामानुजाचार्यने एक का इधर, दूसरेका उधर; उसका इधर, इसका उधर, उलटफेर करके रखवा दिया।

जब वे सूखे वस्त्रोंमें अपना-अपना डोर-कौपीन ढूँढ़ने लगे तो उनमें परस्पर विवाद होने लगा। एकने कहा—"मेरा डोर-कौपीन तुमने क्यों ले लिया?" दूसरेने कहा—"जो तुमने लिया, वह मेरा है, तुमने क्यों ले लिया?" इस प्रकारसे वे सभी लड़ने-झगड़ने लगे। श्रीरामानुजाचार्यने सबको बुलाया और कहा—"देखो, धनुर्दासका सब कुछ चले जानेपर भी, उसे इसके लिए तनिक भी खेद नहीं हुआ, अपितु उसे बहुत ही आनन्द हुआ। और तुमलोगोंको डोर-कौपीन मैंने ही दिये हैं। मैंने केवल इधर-का-उधर उलट-फेर करवा दिया और इतनेसे ही तुम सब लोग परस्पर लड़ने-झगड़ने लगे। बताओ, तुम लोगोंकी महिमा अधिक है अथवा उसकी महिमा अधिक है?" यह सुनकर वे बड़े लज्जित हुए। वे धनुर्दासके चरणोंमें गिर पड़े और उसके प्रति बड़ा स्नेह रखने लगे।
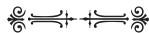
आचार्य श्रीमत्पूर्णप्रज्ञ (श्रीमन्मध्वाचार्य)

संक्षिप्त जीवन-चरित्र—उडुपी क्षेत्रसे सात मील पूर्व-दक्षिण-कोणमें पापनाशिनी नदीके तटपर 'विमानगिरि' नामक एक ऊँचा पर्वत विराजमान है। प्राचीन कालमें भगवान्‌के शक्त्यावेशावतार श्रीपरशुरामजीने शिलाखण्डको भेदकर इस पर्वतके चारों ओर परशुतीर्थ, धनुस्तीर्थ, बाणतीर्थ और गदातीर्थ नामक चार कुण्डोंका निर्माण किया था। विमानगिरिके शिखरपर श्रीपरशुरामजी द्वारा स्थापित योगमायाका एक विशाल मन्दिर है, जहाँ आज भी योगमायादेवी वैष्णव-ब्राह्मणोंके द्वारा नित्य पूजित हो रही हैं। विमानगिरिसे प्रायः एक मील पूर्व-दिशामें श्रीपरशुरामजीके द्वारा स्थापित इन चार तीर्थोंमेंसे एक धनुस्तीर्थ विराजमान है। इस धनुस्तीर्थका निकटस्थ प्रदेश ही 'पाजकाक्षेत्र' के नामसे प्रसिद्ध है। वर्त्तमान कालमें कुछ लोग 'पाजका' शब्दका अर्थ इस प्रकार करते हैं—"पाति इति 'प', न जायते इति 'अज', पश्चासो अजश्चेति पाजः, पाजात् कं (जलं) यस्मिन् तत् पाजकम्" अर्थात् उत्पत्तिसे रहित भगवान् विष्णुके अवतार श्रीपरशुराम द्वारा जिस क्षेत्रमें जल अर्थात् धनुस्तीर्थ आदि प्रकाशित हुआ है, उसीका नाम 'पाजकाक्षेत्र' है। यह पाजकाक्षेत्र पापनाशिनी नदीके तटपर अवस्थित है।

प्राचीन कालमें रामभोज नामक एक राजा अहिछत्र प्रदेशसे एक सौ बीस ब्राह्मणोंको उनके कुटुम्बसहित परशुरामक्षेत्रमें ले आये थे। उन ब्राह्मणोंने वहाँ पहुँचकर विभिन्न स्थानोंमें अपने गृहादिका निर्माण किया और वहींपर वास करने लगे। उन्हीं एक सौ बीस ब्राह्मणोंमेंसे जो कुछेक ब्राह्मण ग्रामके मध्यभागमें अपने गृहका निर्माणकर वास करने लगे, वे ही 'मध्यगेह' नामसे प्रसिद्ध हुए। इस प्रकार जिन ब्राह्मणोंने 'पूगवन', 'लिकुचवन' के मध्यभागमें

गृह निर्माण किया था, वे उस स्थानके नामानुसार 'पूगवन', 'लिकुचवन' और उनके अधःस्तन वंशधर मध्यगेह-वंश, पूगवन-वंश, लिकुचवन-वंश आदि भिन्न-भिन्न नामोंसे जाने जाते हैं। 'मध्यगेह' शब्दको कन्नड़ भाषामें 'नड्डुन्तिल्लाय' कहा जाता है—नड्(मध्य)+ अन्त(स्थ)+इल्लाय(गृहवान्)=मध्यस्थ गृहवान्। इस पाजकाक्षेत्रमें मध्यगेह-वंशमें उत्पन्न वेद-वेदाङ्गमें कुशल सदाचारपरायण नारायण भट्ट नामक एक निर्धन ब्राह्मण वास करते थे।[१] वे अपनी सहधर्मिणी वेदवती (या वेदविद्या) देवीके साथ पाजकाक्षेत्रमें वास करते हुए परशुराम पीठस्थ अपने कुलदेवता शेषशायी भगवान् श्रीविष्णुकी आराधना करते थे। वेदवतीके गर्भसे एक-एक करके दो पुत्रोंने जन्म लिया, किन्तु वे शीघ्र ही मृत्युको प्राप्त हो गये। तब उस ब्राह्मण-दम्पत्तिने पुत्र-सुखसे वञ्चित होकर, अमर-पुत्र प्राप्त करनेकी कामनासे बारह वर्ष तक केवल दुग्ध पानकर कठोर तपस्या की। श्रीशेषशायी भगवान् उनकी इस कठोर तपस्यासे प्रसन्न होकर उन्हें उचित फल प्रदान करनेके लिए उन्मुख हुए।

इसी समय सनातनधर्मक्षेत्र भारतवर्षमें सर्वत्र ही विशुद्ध भगवत्-उपासनाका भीषण अभाव उपस्थित हुआ। प्रच्छन्न-बौद्धवादरूपी नास्तिक-मायावाद जीवोंको उनके नित्यधर्म—विष्णुभक्तिसे अत्यन्त दूरकर मायाके अन्धकारकी ओर ले जा रहा था। जब-जब धर्मकी हानि होती है, तब-तब सत्त्वतनु भगवान् श्रीविष्णु स्वयं अवतीर्ण होकर अथवा किसी महत्तम जीवमें अपनी शक्तिका आवेश कराकर उसके द्वारा जगत्का कल्याण करवाते हैं। प्रच्छन्न-बौद्धवादरूपी अन्धकारको भारतके गगनसे दूर करनेके लिए तथा जीवित होते हुए भी मृतकके समान जीवोंमें पुनः प्राणोंका सञ्चार करनेके लिए भगवान् विष्णुकी इच्छासे मुख्यवायु

---

[१] श्रीमध्वशिष्य श्रीहृषीकेशतीर्थके द्वारा रचित 'अनुमध्वचरित' में यही नाम पाया जाता है। परन्तु 'मध्वविजय' ग्रन्थमें यह नाम नहीं है, केवल 'मध्यगेह' नाम है।

जगत्में अवतीर्ण होनेके लिए प्रस्तुत हुए। जिस प्रकार पूर्वकालमें सत्तरहवें त्रेतायुगमें केशरीपत्नी अञ्जनाका आश्रय लेकर महावीर बजरङ्गबली हनुमानजी भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके माहात्म्यका प्रचार करनेके लिए जगत्में अवतीर्ण हुए थे और जिस प्रकार अट्ठाइसवें द्वापरयुगमें पाण्डुपत्नी कुन्तीका आश्रय लेकर वैष्णवश्रेष्ठ श्रीभीमसेन जगत्में अवतीर्ण हुए थे, उसी प्रकार अट्ठाइसवें कलियुगमें भगवान् वेदव्यास द्वारा रचित निखिल शास्त्रोंके द्वारा प्रतिपाद्य यथार्थ तत्त्वोंका सज्जनोंको उपदेश देनेके लिए पाजकाक्षेत्रवासी मध्यगेह-कुलोत्पन्न नारायण भट्टकी सहधर्मिणी वेदवतीका आश्रय लेकर मुख्यवायु जगत्में अवतीर्ण हुए।

श्रीनारायण भट्टने अपने पुत्रका नाम 'वासुदेव' रखा। वासुदेवके आविर्भावकालके सम्बन्धमें मतभेद देखा जाता है। तत्त्ववादियोंका कहना है कि श्रीमध्वाचार्यके साक्षात् शिष्य श्रीहृषीकेशतीर्थने 'महाभारत-तात्पर्य' धृत वचनसे श्रीमन्मध्वाचार्यके आविर्भावकालके विषयमें जो निर्देश दिया है, वही स्थिर सिद्धान्त है। महाभारतके शान्तिपर्वमें मोक्ष धर्ममें श्रीभीष्म-पितामहने पञ्च-पाण्डवोंसे कहा था कि कलियुगके चार हजार वर्ष बीतनेपर पाण्डवोंका पुनः इस जगत्में आविर्भाव होगा। श्रीभीष्म-पितामहकी इस उक्तिका अवलम्बन कर 'भारत-तात्पर्य-निर्णय' में इस प्रकार देखा जाता है—

"चतुःसहस्रे त्रिशतोत्तरे गते संवत्सराणान्तु कलो पृथिव्याम्।
जातः पुनः विप्रतनुः स भीमो दैत्यैर्निगूढं हरितत्त्वमाहि॥"

"कलियुगके ४३०० वर्ष बीत जानेपर पृथ्वीपर पुनः भीमसेन विप्रवंशमें अवतीर्ण होकर जगत्में दैत्योंके द्वारा आच्छादित विष्णुतत्त्वका पुनः प्रचार करेंगे।"

श्रीभीष्म-पितामहके इस वचनके आधारपर श्रीमन् मध्वाचार्यके साक्षात् शिष्य, अष्टमठोंमेंसे अन्यतम 'पलमार' नामक आदि मठके मूल मठाधीश, श्रीहृषीकेशतीर्थने स्वरचित 'अनुमध्वचरित' ग्रन्थमें इस प्रकार लिखा है—

त्रिशताब्दोत्तरचतुःसहस्त्राब्देभ्य उत्तरे।
एकोनचत्वारिंशाब्दे विलम्बिपरिवत्सरे॥

आश्वीज-शुक्लदशमी-दिवसे भुवि पावने।
पाजकाख्ये शुचिक्षेत्रे दुर्गया चाभिवीक्षिते।
जातो मध्याह्न-बेलायां बुधवारे मरुत्तनुः।
भूसुरेन्द्रोपनीतो यः ततः एकादशाब्दके॥

सौम्ये जग्राह भगवान् तुरीयाश्रममुत्तमम्।
मध्वनामा जिगायायं वादिनो वादकौशली।
एकोनाशीतिवर्षाणि नीत्वा मानुषदृष्टिगः।
पिङ्गलाब्दे माघशुद्धनवम्यां बदरीं ययो॥

श्रीहृषीकेशतीर्थका विचार ग्रहण करनेपर श्रीमध्वाचार्यका आविर्भाव-काल ४३३९ कल्यब्दमें निर्णीत होता है। वर्त्तमान कालमें तत्त्ववादी-पञ्जिकाके मतानुसार ५०२९ कल्यब्द चल रहा है। इस पञ्जिकाके मतानुसार श्रीभीमसेनके गदाके प्रहारसे दुर्योधनके गिर जाने और मृत्यु होनेपर महाराज श्रीयुधिष्ठिरके राज्यके आरम्भकालसे ही कलियुगाब्दकी गणना होती है। श्रीवासुदेवका आविर्भावकाल श्रीहृषीकेशतीर्थके विचारानुसार ४३३९ कल्याब्द स्थिर होनेपर वर्त्तमान[१] कालसे ६९० वर्ष पहले मध्वाचार्यका आविर्भाव हुआ था—ऐसा जाना जाता है। अनुमध्वचिरतमें श्रीहृषीकेशतीर्थने लिखा है कि श्रीनारायण भट्टके पुत्र वासुदेव पाजकाक्षेत्रमें ४३३९ कलियुगाब्द विलम्बि वत्सरमें आश्विन मासकी शुक्ला दशमी तिथि (विजया दशमी) को बुधवारके दिन मध्याह्नकाल (दोपहर) में आविर्भूत हुए थे। श्रीकृष्ण-स्वामी आयार और डा॰ बुकाननने श्रीमध्वाचार्यका आविर्भावकाल ११२१ शकाब्द निर्णीत किया है, किन्तु कुछ लोग उनके इस निर्णयके विरुद्ध प्रमाण देते हैं। अद्मार मठके पद्मनाभाचार्यने स्वरचित Life and Teachings of

---

[१] प्रस्तुत ग्रन्थमें जिस किसी भी स्थानपर 'वर्त्तमान' शब्दका प्रयोग दिखायी पड़े, वहाँ उसका अर्थ वर्ष १९२७ समझना चाहिये।

Madhva नामक ग्रन्थमें भिन्न मतको स्थापित किया है। अष्ठमठके वर्त्तमान तत्त्ववादियोंमें पुनः अधिकांश ही श्रीहृषीकेशतीर्थके मतको ही उपयुक्त मानते हैं।

श्रीवासुदेवने शैशवकालसे ही अत्यन्त आश्चर्यजनक लीलाओंको प्रकाशकर अपने बन्धु-बान्धवोंको विस्मित कर दिया था। थोड़े समयमें ही वर्णमालाका अभ्यास कर लेनेपर आठवें वर्षमें बालक वासुदेवका उपनयन संस्कार हुआ। उपनयन संस्कारके पश्चात् बालक वासुदेव वेदाध्ययन करनेके लिए पाजकाक्षेत्रसे प्रायः तीन कोस पश्चिम दिशामें अवस्थित दण्डतीर्थ[१] नामक स्थानमें पूगवन-कुलोत्पन्न एक ब्राह्मणके निकट वेदाध्ययन करनेके लिए गये।

किन्तु वहाँ रहकर वासुदेव अपने सहपाठियोंके साथ नाना प्रकारकी क्रीड़ामें ही मग्न रहते थे। वेदादि-शास्त्रोंके अध्ययनमें उनकी कोई रुचि नहीं दिखायी देती थी। अध्यापक महोदयने वासुदेवको सब समय क्रीड़ामें ही मग्न देखकर एक दिन उन्हें बहुत डाँट लगायी। वासुदेवने तत्क्षणात् अध्यापकके समीप अध्ययन किये हुए और अध्ययन नहीं किये हुए समस्त वेद-वेदाङ्गका अनर्गल (बिना रुके) उच्चारणकर अध्यापकको अत्यन्त विस्मित कर दिया। इस प्रकार थोड़े समयमें ही वासुदेव निखिल वेद अध्ययन समाप्तकर घरमें लौटे। एक दिन वासुदेव हाथमें एक छड़ी धारणकर पिताके निकट आकर बोले—"पिताजी! मैंने अध्ययन समाप्त कर लिया है। अब मैं मायावादका खण्डनकर जगत्में वैष्णव-सिद्धान्तका प्रचार करूँगा।" नारायण भट्ट अपने बालकके मुखसे इस प्रकारकी बात सुनकर बोले—"यदि तुम्हारे समान एक साधारण बालक मायावादका खण्डनकर जगत्में शुद्ध वैष्णव-सिद्धान्तका प्रचार करनेमें समर्थ हो, तो तुमने अपने हाथमें जो छड़ी पकड़ी हुई है, उसके लिए भी एक विशाल

---

[१] धून। श्रीकृष्णपुर मठके २८ वें अधस्तन मठाधीशका नाम श्रीविद्याधीशतीर्थ है। उन्होंने इसी स्थानपर 'दण्डतीर्थ मठ' नामक एक मठकी स्थापना की है।

वृक्षके रूपमें परिणत होना असम्भव नहीं है।" अर्थात् नारायण भट्टके कहनेका तात्पर्य था कि जिस प्रकारसे सूखी हुई छड़ीकी विशाल सजीव वृक्षके रूपमें परिणति पूर्णतया असम्भव है, उसी प्रकार बालक वासुदेवके लिए भी प्रबल मायावादका खण्डन करके जगत्में विशुद्ध वैष्णव-सिद्धान्तका प्रचार करना बिल्कुल असम्भव है। पिताजीकी यह बात सुनकर वासुदेवने कहा—"पिताजी! भगवत्-शक्तिके प्रभावसे इस सूखी छड़ीकी जिस प्रकार महान वृक्षके रूपमें परिणति बिल्कुल असम्भव नहीं है, उसी प्रकार मेरे जैसे बालकके लिए भी मायावादका खण्डनकर जगत्में वैष्णव-सिद्धान्त स्थापन करना असम्भव नहीं है।" इतना कहकर वासुदेवने अपने हाथमें पकड़ी हुई सूखी छड़ीको मिट्टीमें गाड़ दिया और देखते-ही-देखते वह तुरन्त ही एक महान वट-वृक्षके रूपमें परिणत हो गयी। आज भी पाजकाक्षेत्रमें यह महान वट-वृक्षराज विराजित होकर श्रीमध्वाचार्यकी अलौकिक क्षमताकी स्मृति दर्शकोंके हृदयमें जाग्रत करता है।

पिता नारायण भट्ट वासुदेवका बाल्यकालसे ही वैष्णवधर्मके प्रचार एवं मायावाद-खण्डनके प्रति असामान्य उत्साह और प्रबल आत्मविश्वास देखकर समझ गये कि मेरा पुत्र भविष्यमें गृहस्थ-धर्ममें आसक्त नहीं होगा। अतः उन्होंने अपने पुत्र वासुदेवका विवाह करके उसे गृह-शृङ्खलामें आबद्ध करनेके लिए मन-ही-मन सङ्कल्प कर लिया। किन्तु बुद्धिमान वासुदेव माता-पिताके इस उद्देश्यको समझ गये। जिनका हृदय जगत्के मायाबद्ध जीवोंका संसारबन्धन खोलनेके लिए सदा उत्कण्ठित रहता है, जो निखिल भक्तिविरुद्ध शास्त्रोंका तिरस्कारकर जगत्में वैष्णव-सिद्धान्तकी स्थापनाके लिए भगवान् विष्णुके द्वारा निर्दिष्ट—विष्णुशक्तिके द्वारा आविष्ट हैं, उन पुरुषकेशरीको जगत्में ऐसा कौन है, जो बाँध सके?

साधारण लौकिक विचारसे सभी विषयोंमें माता-पिताकी अनुमति ग्रहण करना आवश्यक है। कुछ लोग कहते हैं कि

माता–पिताकी अनुमतिके बिना धर्म आदिका अनुष्ठान या संन्यासादि आश्रम ग्रहण करना भी विशेष दोषपूर्ण होता है। इस प्रकारके विचारवाले व्यक्ति कहते हैं कि शङ्कराचार्य आदि लोकमान्य पुरुषोंने जिस किसी प्रकारसे भी हो, माता–पिताकी अनुमति प्राप्त करके ही संन्यासवेश धारण किया था। किन्तु इस प्रकारके विचार सम्पूर्ण प्राकृत और कृष्ण–बहिर्मुख भोगी सम्प्रदायके लोगोंकी अपनी भोगमूलक धारणओं द्वारा ही पुष्ट हैं—इसे हम श्रीवासुदेवके आचरणमें प्रमाणित रूपसे देखते हैं।

छोटे–से–छोटे जीवसे लेकर ब्रह्मा तक कृष्णबहिर्मुख जीवमात्र ही स्वयं हरिभजनसे रहित होकर मात्सर्य और विषय–भोगबुद्धिके कारण दूसरोंके हरिभजनमें बाधा डालते हैं। माता–पिता और पुत्रके बीचमें, पुत्र और माता–पिताके बीचमें, पति और पत्नीके बीचमें, भाई–भाईके बीचमें, स्वजन और स्वजनमें, बन्धु और बान्धवोंमें एक–दूसरेके प्रति भोगबुद्धि निरन्तर नदीके स्रोतकी भाँति प्रवाहित होती रहती है। अतएव जब इनमेंसे कोई व्यक्ति हरिभजनमें अग्रसर होनेका प्रयास करता है, तब उसके सम्बन्धी यह समझने लगते हैं कि उनके भोगकी वस्तु चिरकालके लिए भगवान्के भोगके लिए अर्पित होने जा रही है। अतः 'मेरे मुखका ग्रास दूसरेने निकाल लिया है'—यह सोचकर उस हरिभजनोन्मुख व्यक्तिके हरिभजनमें बाधा प्रदान करते हैं, यह अत्यन्त स्वाभाविक ही है। जगत्में कुछ माता–पिता स्वयंको 'भक्त' होनेका अभिमानकर अपने पुत्रको यह प्रतिज्ञापत्र (आश्वासन) देते हैं कि वे उसके भगवद्भजनमें विघ्नकारी नहीं हैं। ऐसा व्यवहार वे तब तक करते हैं, जब तक कि वे अपने पुत्रको अपने अधीन रखकर अपनी सेवामें नियुक्तकर उसका भोग कर सकते हैं। किन्तु जब वे यह समझ जाते है कि हमारा पुत्र अब हमारे भोगकी वस्तु न होकर श्रीकृष्णका भजन करके श्रीकृष्णका भोग्य, श्रीकृष्णका नैवेद्य, श्रीकृष्णकी सेवाका उपकरण होनेके लिए अग्रसर हो रहा है, तब

वे ऐसे पुत्रके हरिभजनमें बाधा प्रदान करनेके लिए स्वर्ग और धरतीको एक करनेसे भी पीछे नहीं हटते।

ऐसा नहीं है कि केवल पुत्रके प्रति ही माता-पिताका ऐसा व्यवहार लक्षित होता है, जहाँ पुत्र अपना स्वरूप भूलकर स्वयंको किसीका पुत्र मानकर अभिमान करता है, वहाँ ऐसा पुत्र भी हरिभजनोन्मुख माता-पिताके हरिभजनमें बाधा प्रदान करनेके लिए सब प्रकारसे प्रयास करता है। पति-पत्नी, स्वजन-बन्धु आदि अभिमानमें भी इसी प्रकार भोग-विलासके वैचित्र्यका ताण्डव नृत्य इस जगत्में देखा जाता है। परम बुद्धिमान वासुदेव इन सब बातोंको भलीभाँति जानते थे, इसलिए उन्होंने माता-पिता, स्वजन, बन्धु-बान्धव किसीसे किसी प्रकारकी अनुमतिकी अपेक्षा न कर अथवा उन्हें अपना सङ्कल्प न बतलाकर बारह वर्षकी आयुमें ही श्रीरजतपीठपुरमें श्रीअच्युतप्रेक्षसे संन्यास ग्रहण किया।

रजतपीठपुरके माध्व-सम्प्रदायके अनुगत जनोंके मतके अनुसार हंसरूपी नारायणसे चतुर्मुख ब्रह्मा, ब्रह्मासे चतुःसन, चतुःसनसे दुर्वासा, दुर्वासासे परतीर्थयति, परतीर्थसे सत्यप्रज्ञ, सत्यप्रज्ञसे प्राज्ञतीर्थ शिष्य-परम्परामें विष्णु-उपासनामें दीक्षित हुए।

'मणिमञ्जरी' ग्रन्थके लेखक श्रीमध्वके शिष्य त्रिविक्रमाचार्यके पुत्र नारायण पण्डित कहते हैं कि श्रीशङ्कराचार्यके देहत्यागके समय पद्मपादादि शङ्करके शिष्योंने शङ्करके निकट उपस्थित होकर जब उनसे अपने-अपने कर्त्तव्यकी जिज्ञासा की तब शङ्कराचार्यने अपने शिष्योंको जगत्में केवलाद्वैतवाद मतको प्रतिष्ठित करनेका आदेश दिया। श्रीशङ्कराचार्यने यह भी कहा कि केवलाद्वैतवादके प्रबल शत्रुस्वरूप द्वैत-सिद्धान्तके पण्डित प्राज्ञतीर्थ यतिको जिस किसी भी उपायसे हो, केवलाद्वैतमतमें नहीं ला पानेसे जगत्में केवलाद्वैतवादका नित्य-निरन्तर प्रचार होना सम्भव नहीं है। गुरुके इस आदेश और अभिप्रायको जानकर पद्मपाद आदि शिष्यगण प्राज्ञतीर्थको जिस किसी भी प्रकारसे केवलाद्वैतमतमें लानेके लिए विविध प्रकारकी चेष्टाएँ करने लगे। उस समय प्राज्ञतीर्थ यति

नन्दीग्रामस्थ किसी एक मठके मठाधीशके रूपमें अधिष्ठित रहकर अच्युतप्रेक्ष नामक शिष्यके द्वारा सेवित हो रहे थे। केवलाद्वैतवादियोंने प्राज्ञतीर्थ यतिको अपने मतमें लानेके लिए उनके मठमें आग लगा दी और बहुत-से द्वैत-सिद्धान्तपूर्ण ग्रन्थोंको नष्ट कर दिया। यहाँ तक कि उन्होंने प्राज्ञतीर्थ यतिसे उनका दण्ड-कमण्डलु छीनकर बलपूर्वक उनके मस्तकपर केवलाद्वैतवादियोंकी भाँति त्रिपुण्ड्रादि धारण करा दिया एवं उन्हें 'सोऽहं' मन्त्र जप करनेका आदेश दिया। प्राज्ञतीर्थने केवलाद्वैतवादियोंके द्वारा इस प्रकारका अत्याचार किये जानेपर बाह्य रूपसे तो उनके आचार-व्यवहारको ग्रहण कर लिया, किन्तु भीतरसे वे विष्णु-उपासनासे बिन्दुमात्र भी विचलित नहीं हुए।

अच्युतप्रेक्ष भी केवलाद्वैतवादियोंकी वञ्चना करनेके लिए एवं भविष्यकालमें केवलाद्वैतवादियोंके कल्याण करनेके लिए अपने गुरुके आचरणका अनुसरणकर (अर्थात् बाहरसे केवलाद्वैतमतको ग्रहणकर) भीतरसे विष्णु-उपासनामें नियुक्त रहे। पाजकाक्षेत्रमें श्रीनारायण भट्टके गृहमें मुख्यवायु वासुदेवके आविर्भावके पश्चात् अच्युतप्रेक्षादिके हृदयमें स्वतः ही निर्भीकता और आनन्दका सञ्चार हुआ। तब अच्युतप्रेक्ष रजतपीठपुरके अनन्तेश्वर मन्दिरमें आकर शेषशायी विष्णुकी आराधना करने लगे। नारायण भट्टके पुत्र श्रीवासुदेवने दस वर्षकी आयुमें श्रीअच्युतप्रेक्षके निकट रजतपुरमें अनन्तेश्वर मन्दिरमें आकर एक वर्ष तक अच्युतप्रेक्षकी सेवाके छलसे उनके समक्ष द्वैत-सिद्धान्तोंका कीर्त्तन किया और बारह वर्षकी आयुमें (श्रीहृषीकेशतीर्थके विचारसे ४३५० कलियुगाब्दमें सौम्य सम्वत्सरमें) संन्यास आश्रम ग्रहण किया। संन्यास ग्रहण करनेके पश्चात् वासुदेव 'आनन्दतीर्थ' या तत्पर्याय 'मध्व' नामसे प्रसिद्ध हुए। श्रीमन्मध्वाचार्यके द्वारा रचित 'भारत-तात्पर्य-निर्णय' में 'मध्व' शब्दकी व्याख्या एक श्लोकमें इस प्रकार की गयी है।

मध्वित्यानन्द उद्दिष्टः वरिति ज्ञानमुच्यते।
मध्व आनन्दतीर्थस्यात् तृतीया मारुतीतनुः॥

'मधु' शब्दके द्वारा आनन्दका बोध होता है और 'व' द्वारा ज्ञान कथित हुआ है। 'तीर्थ' शब्दका अर्थ ज्ञान है इसलिए 'मध्व' शब्दका अर्थ आनन्दतीर्थ है। आनन्दतीर्थ तृतीय मारुती तनु अर्थात् वायुके तृतीय अवतार हैं। आज तक श्रीमध्वाचार्य-सम्प्रदायके अधःस्तन शिष्य श्रीमध्वाचार्यका परिचय प्रदान करते हुए ऐसा ही लिखते या उच्चारण करते है—

"स्वस्ति श्रीमतपरमहंस परिव्राजकाचार्यवर्यत्वाद्यनेक-गुणगणालङ्कृत-पदवाक्य-प्रमाणपारावार-पारङ्गतसर्वतन्त्रस्वतन्त्र-श्रीमद्भैष्मी-सत्यभामा-समेत-श्रीगोपाल-कृष्णपादपद्माराधक-श्रीमद्वैत-वैष्णव-सिद्धान्त-प्रतिष्ठापनाचार्य-श्रीमदानन्दतीर्थापर-नामक-श्रीमन्मध्वाचार्याः।"

उडुपीके आठों मठों और श्रीमन्मध्वाचार्यके अनुगत समस्त मठोंके आचार्योंके नामोंके पहले इसी प्रकार सम्प्रदाय-वैभव-गौरव लिखनेकी पद्धति आज भी प्रचलित है।

श्रीवासुदेव श्रीअच्युतप्रेक्षसे लगभग बारह वर्षकी आयुमें संन्यास ग्रहण करनेके पश्चात् 'श्रीमध्वाचार्य' के नामसे विख्यात हुए। संन्यास ग्रहण करके श्रीमध्वने आचार्यका कार्य अर्थात् 'आचार' एवं 'प्रचार' आरम्भ किया। श्रीमन्मध्वने अपने सदाचारके द्वारा अपने गुरुदेवको भी विस्मित कर दिया था। उन्होंने सर्वत्र विष्णुभक्तिके प्रचारके लिए अभियान आरम्भ कर दिया। श्रीमन्मध्वने वासुदेव नामक एक तार्किक पण्डितको शास्त्रोंके अनुकूल विचारोंसे पराजितकर उससे 'जयपत्रिका' ग्रहण की। इसी प्रकार वे 'बुद्धिसागर', 'वादिसिंह' आदि प्रचण्ड मायावादी तार्किकोंके अपसिद्धान्तोंका शास्त्रयुक्तिके द्वारा खण्डनकर सात्वत-भक्तोंके विशेष श्रद्धाके पात्र हुए। कुछ समयके पश्चात् श्रीमध्वाचार्यने श्रीरामेश्वरका दर्शन करनेकी अभिलाषाके छलसे दक्षिण देशमें भ्रमण करते-करते अनन्तशयन क्षेत्र (त्रिवेन्द्रम) में आगमन किया।

श्रीमन्मध्वाचार्यने अनन्त-शयन-मन्दिरमें वेदान्त-सूत्रकी-व्याख्याके समय श्रीशङ्कराचार्यको[१] शास्त्रार्थमें पराजित किया। क्रमशः उन्होंने रामेश्वरका दर्शन करके श्रीरङ्गम आदि प्रसिद्ध क्षेत्रोंमें विरोधी-मतवादियोंके विचारोंका खण्डन किया। तत्पश्चात् पयस्विनीनदीके तटपर साङ्ग वेदज्ञ-ब्राह्मणोंकी सभामें वैष्णव-विरोधी स्मार्त्तमत और मायावादी विचार (अद्वैतवाद) का खण्डनकर वे 'सर्वज्ञ यति' के नामसे प्रसिद्ध हुए। वहाँसे श्रीमन्मध्वाचार्य अपने कुछेक शिष्योंके साथ श्रीबदरिकाश्रमके निकट आये और वहाँ अपने शिष्योंको स्वरचित गीता-भाष्यका उपदेश करने लगे।

किसी एक समय जब श्रीमध्वाचार्यके शिष्य बदरिकाश्रमके निकट किसी एक स्थानपर उनसे गीता-भाष्यका श्रवण कर रहे थे, तब उन्होंने देखा कि आकाशमार्गमें एक अपूर्व तेजपुञ्जः विचरण करते-करते श्रीमध्वाचार्यकी मुखज्योतिके साथ मिल गया। श्रीमन्मध्वाचार्य समझ गये कि श्रीवेदव्यास उन्हें महाबदरीमें

---

[१] पण्डित श्रीनारायण भट्ट आदि प्रमुख श्रीमध्वाचार्य-सम्प्रदायी जनोंका कहना है कि श्रीमन्मध्वाचार्यके आविर्भावके पहले एक बार केरल देशके अन्तर्गत कालाडि गाँवमें शङ्कराचार्यका जन्म हुआ था। पुनः श्रीमन्मध्वाचार्यके प्रकट-कालमें कुम्भकोणके समीप कुदुपुस्तर गाँवमें शङ्कराचार्यने द्वितीय बार जन्म-ग्रहण किया। इसका 'शङ्करविजय' ग्रन्थमें उल्लेख हुआ है। जिस स्थानपर शङ्कराचार्यका द्वितीय बार जन्म हुआ था, उस स्थानपर शङ्कराचार्य-सम्प्रदायका 'कामकोटि मठ' आज भी वर्त्तमान है। जिस समय श्रीमन्मध्वाचार्य श्रीरामेश्वर क्षेत्रमें आकर श्रोताओंके निकट द्वैत-सिद्धान्तके अनुसार ब्रह्मसूत्रकी व्याख्या कर रहे थे, उसी समय शङ्कराचार्य कुदुपुस्तर गाँवसे रामेश्वर आये और उन्होंने कहा कि अपने भाष्यकी रचना किये बिना मध्वाचार्यको ऐसे द्वैत-सिद्धान्तमूलक ब्रह्मसूत्रका अर्थ प्रचार करनेका अधिकार नहीं है। तब श्रीमन्मध्वाचार्यने श्रीशङ्कराचार्यसे कहा कि ऐसा विचार अप्रमाणिक है। यदि आपमें सामर्थ्य हो तो मेरे (मध्व) द्वैत-सिद्धान्तके विचारोंका प्रतिवाद करें। शङ्कराचार्य द्वारा स्वकपोलकल्पित भाष्यका अवलम्बनकर श्रीमन्मध्वाचार्यके द्वैत-सिद्धान्तका प्रतिवाद करनेपर श्रीमन्मध्वाचार्यने शास्त्रोंके अकाट्य प्रमाण और युक्तिओंके द्वारा शङ्कराचार्यके विचार और सिद्धान्तकी असङ्गति और असारताका प्रदर्शनकर उन्हें पराजित कर दिया और सर्वत्र द्वैत-सिद्धान्तकी विजयभेरी (दुन्दुभी) की घोषणा करते रहे।

बुला रहे हैं, इसलिए वे अकेले ही श्रीव्यासदेवके आश्रमपर पहुँचे और श्रीवेदव्यासके चरणकमलोंके निकट बैठकर उनसे निखिल वेद-वेदान्त-सूत्र-महाभारत-भागवत शास्त्रके व्यासाभिमतानुयायी श्रौत-तात्पर्य, सिद्धान्तसार और उपदेशावलीको प्राप्त किया। तत्पश्चात् श्रीमन्मध्वाचार्यने श्रीनर-नारायण आश्रममें जाकर श्रीमन्नारायणका दर्शन किया एवं श्रीवेदव्यास और श्रीनर-नारायणकी आज्ञा लेकर वे पुनः अपने शिष्योंके निकट लौट आये। इसके पश्चात् अपने शिष्योंके साथ हिमालय पर्वतसे उतरकर द्वारका, कुरुक्षेत्र, नैमिषारण्य, प्रयाग, काशी, गया आदि विष्णु तीर्थोंमें विचरण करते-करते वे वहाँके पण्डितोंकी सभाओंमें उनके कुसिद्धान्तोंको खण्डनकर अपने वैदिक-सिद्धान्तको स्थापित करने लगे। बदरिकाश्रमसे 'आनन्द मठ' लौटते समय श्रीमन्मध्वाचार्यने ब्रह्मसूत्रके भाष्यकी रचना समाप्त की। उनके सङ्गी तथा उनके शिष्य सत्यतीर्थने इस सूत्र-भाष्यको लिखा। ऐसा कहा जाता है कि श्रीमन्मध्वाचार्यने अपने सूत्र-भाष्यमें इक्कीस दुर्भाष्योंका[१] खण्डन करके स्वसिद्धान्तका स्थापन किया है।

श्रीमन्मध्वाचार्य बदरीकाश्रमसे गञ्जामके गोदावरी प्रदेशमें आये। वहाँ शोभन भट्ट और स्वामी शास्त्री नामक दो विद्वानोंसे उनका मिलन हुआ। परवर्ती कालमें ये दोनों ही मध्व-सम्प्रदायकी परम्परामें पद्मनाभतीर्थ और नरहरितीर्थके नामसे प्रसिद्ध हुए।

पुनः उडुपीमें लौटकर श्रीमन्मध्वाचार्यने एक दिन समुद्रस्नानके लिए जाते समय मार्गमें ही पाँच अध्यायोंमें श्रीकृष्णस्तोत्रकी रचना की। समुद्रके तटपर बैठकर उन्होंने देखा कि एक नौका बालुमें

[१] विवज दवजम—सुमध्वविजयकाव्यके नवम सर्गके सोलहवें श्लोककी टीकामें इन इक्कीस भाष्योंका नाम देखा जाता है, जैसे—(१) भारती विजय, (२) सम्विदानन्द या सच्चिदानन्द, (३) ब्रह्मघोष, (४) तानद, (५) उद्वर्त या उद्धत, (६) विजय, (७) रुद्रभट्ट, (८) वामन, (९) यादव प्रकाश, (१०) रामानुज, (११) भर्तृप्रपञ्च, (१२) द्रविड़, (१३) ब्रह्मदत्त, (१४) भास्कर, (१५) पिशाच, (१६) वृत्तिकार, (१७) विजयभट्ट, (१८) विष्णुक्रान्त, (१९) वादीन्द्र, (२०) माधवदासक और (२१) सङ्कर।

अटक गयी है। उसका नाविक[१] बहुत चेष्टा करनेपर भी नाना प्रकारके द्रव्योंसे भरी हुई अपनी नौकाको तनिक भी हिला-डुला नहीं पा रहा। यह देखकर श्रीमन्मध्वाचार्य वहींसे अपने हाथोंको नौकाको चलानेकी मुद्रामें हिलाने लगे, उनके इस प्रकार मुद्रा-प्रदर्शन करनेमात्रसे ही नाविककी नौका बालुसे निकलकर चलने लगी। वह नाविक समुद्रके तटपर बैठे उन श्रेष्ठ संन्यासीके ऐसे अद्भुत ऐश्वर्यको देखकर विस्मित हो गया एवं उनके इस उपकार तथा अपने हृदयकी कृतज्ञताको जतानेके लिए वह नौकासे उतरकर उनसे कुछ द्रव्य ग्रहण करनेके लिए विशेष अनुरोध करने लगा। उसके अनुरोधपर श्रीमन्मध्वाचार्यने द्वारकाके गोपी सरोवरसे लाये हुए एक बड़े गोपीचन्दनके टुकड़ेकी अभिलाषा व्यक्त की। उस गोपीचन्दन खण्डको समुद्रके तटसे अपने वासस्थानपर लाते समय मार्गमें ही बड़भण्डेश्वर[२] नामक स्थानमें वह टूट गया और उसमेंसे एक अपूर्व सुन्दर भुवनमोहन बालकृष्णकी मूर्त्ति निकली।

इस मूर्त्तिके एक हाथमें दधिमन्थन-दण्ड और दूसरे हाथमें मन्थन करनेकी रस्सी थी। श्रीकृष्णकी इस श्रीमूर्त्तिको पाकर श्रीमध्वाचार्यने अपने 'द्वादश-स्तोत्र' के शेष सात अध्यायोंकी रचना उसी दिन ही की। जब तीस बलवान व्यक्ति भी उस श्रीकृष्ण-मूर्त्तिको उठानेमें अक्षम हो गये, तब हनुमान, भीमसेन या

[१] उडुपीसे सात कोस दक्षिणमें स्थित अदमार गाँवके अन्तर्गत 'यरमल' देशके नाविक—उनका नाम था मैन।

[२] ऐसी किम्वदन्ती है कि द्वापरके अन्तमें श्रीकृष्णके पौत्र वज्रनाभने व्रजमण्डलमें श्रीकृष्णकी जिन प्रधान तीन मूर्त्तियोंकी प्रतिष्ठा की थी, उनसे भी बहुत पहले श्रीकृष्णके प्रकटकालमें स्वयं श्रीकृष्णके द्वारा ही द्वारकामें इस बालकृष्णकी श्रीमूर्त्ति स्थापित हुई थी। श्रीकृष्णकी प्रकटलीला समाप्त होनेपर श्रीअर्जुनने द्वारकामें समुद्रके तटपर गोपी सरोवरमें उस मूर्त्तिकी स्थापना की। कालके प्रभावसे वह श्रीमूर्ति जगत्-वासियोंके नेत्रोंके सामनेसे अदृश्य हो गयी। कलिकालमें श्रीमन्मध्वाचार्य श्रीकृष्णके द्वारा प्रेरित होकर स्नानके लिए समुद्रके तटपर आये और द्वारकासे आ रही एक नाविककी नौकासे बृहत् गोपीचन्दन खण्डके बीचमेंसे वही श्रीकृष्ण-मूर्त्ति श्रीमध्वाचार्यके सम्मुख प्रकट हुई।

परव्योममें स्थित सर्वव्यापी वायुके अवतार श्रीमन्मध्वाचार्य स्वयं उस बालकृष्ण-मूर्त्तिको उठाकर अपने मठमें ले आये और गोपीचन्दनसे लिप्त उस श्रीकृष्ण-मूर्त्तिको उडुपीमें स्थित एक विशाल सरोवरमें स्नान कराकर उडुपीमें ही उसकी प्रतिष्ठा की। श्रीमन्मध्वाचार्यने स्वप्रतिष्ठित श्रीबालकृष्णकी पूजाका प्रवर्त्तन किया और अपने सिद्धान्तके प्रचारकी इच्छासे अपने आठ ब्रह्मचारी शिष्योंको संन्यास प्रदानकर उनके ऊपर श्रीकृष्ण-मूर्त्तिकी सेवाका दायित्व और शास्त्र अध्यापनका दायित्व सौंप दिया।

तदनन्तर एक गृहस्थ शिष्यको संन्यास देकर उसे 'पद्मनाभ तीर्थ' नाम प्रदान किया। आठ संन्यासी शिष्योंमेंसे प्रत्येकके लिए श्रीकृष्णकी सेवाका समय दो वर्ष निर्धारित किया और बाकी समयमें उन्हें शास्त्र-प्रचार आदि करनेका निर्देश दिया। श्रीमन्मध्वाचार्यके आठ संन्यासी शिष्योंके नाम इस प्रकार हैं—(१) श्रीहृषीकेशतीर्थ, (२) श्रीनरहरितीर्थ, (३) श्रीजनार्द्दनतीर्थ, (४) श्रीउपेन्द्रतीर्थ, (५) श्रीवामनतीर्थ, (६) श्रीविष्णुतीर्थ, (७) श्रीरामतीर्थ और (८) श्रीअधोक्षजतीर्थ। इन आठ संन्यासी शिष्योंमेंसे विष्णुतीर्थके विषयमें श्रीमन्मध्वाचार्यके पूर्वाश्रमके कनिष्ठ भ्राता श्रीहृषीकेशतीर्थने स्वरचित 'अनुमध्वचरित' में लिखा है कि श्रीविष्णुतीर्थ आज तक भी सुब्रह्मण्य क्षेत्रके अन्तर्गत कुमारधारा पर्वतपर भगवद्भजन कर रहे हैं। श्रीमन्मध्वाचार्यने उडुपी क्षेत्रसे प्रायः पच्चीस कोस दक्षिणमें कटतिल क्षेत्रमें स्वरचित सभी ग्रन्थोंको ताम्रपत्रपर अङ्कितकर उसी स्थानपर ही भूमिमें गाड़ दिया और उसके ऊपर नवनीतधर ताम्रमयी श्रीकृष्ण-मूर्त्ति स्थापित की। यह स्थान 'व्यासतीर्थ' नामसे प्रसिद्ध है। ऐसी किम्वदन्ती सुनी जाती है कि इसी पीठके ऊपर आज भी एक काला सर्प सदैव विराजमान होकर मिट्टीमें गड़ी हुई श्रीमन्मध्वाचार्यकी ग्रन्थावलीकी रक्षा कर रहा है।

यह 'व्यासतीर्थ' प्रतिदिन श्रीमध्वाचार्यके परम्परामें आनेवाले संन्यासी और ब्रह्मचारियोंके द्वारा पूजित होते हैं। श्रीमध्वाचार्यके अनुयायी संन्यासी इस व्यासतीर्थकी श्रीकृष्ण-मूर्त्तिको स्पर्श करके

पूजा कर सकते हैं, किन्तु ब्रह्मचारी श्रीकृष्ण-मूर्त्तिको स्पर्श नहीं कर सकते, अतः वे दूरसे ही पूजा करते हैं। ऐसा कहा जाता है कि प्रतिदिन पूजाके समय वह काला सर्प वहाँसे दूर हट जाता है। किन्तु किसी प्रकारसे पूजामें त्रुटि होनेपर या अनाचार होनेपर वह काला सर्प वहाँ आकर उपस्थित हो जाता है, एवं पूजकके द्वारा विनम्र प्रार्थना और सदाचारसे पूजा करनेकी प्रतिज्ञा श्रवण करनेपर ही पुनः उस स्थानको छोड़कर चला जाता है। इसी स्थानपर 'कटतिल मठ' नामक एक मठ भी स्थापित हुआ है। श्रीहृषीकेशतीर्थने भविष्यवाणी की थी कि कलिके प्रभावसे जब मायिक शास्त्रसमूह अत्यन्त प्रबल और मध्वशास्त्रसमूह लुप्त हो जायेंगे, तब श्रीमध्वाचार्यके शिष्य श्रीविष्णुतीर्थ कटतिल क्षेत्रमें स्थित व्यासतीर्थ-कुण्डसे श्रीमन्मध्व-रचित ताम्रपत्रमें लिखे गये ग्रन्थोंका उद्धारकर उनके द्वारा असत्-मतोंका खण्डनकर पुनः जगत्में मध्वशास्त्रका प्रचार करेंगे।

द्वितीय बार बदरिकाश्रमके लिए यात्रा करनेपर श्रीमन्मध्वाचार्यको महाराष्ट्र राज्यके भीतरसे होकर जाना पड़ा। उस समय महादेव नामक वहाँका एक राजा जनसाधारणके उपकारके लिए अपने लोगोंके द्वारा एक पुष्करिणी (सरोवर) खुदवा रहा था। राजाके आदेशके अनुसार उसके कर्मचारियोंने श्रीमन्मध्वाचार्यको उनके शिष्योंके सहित मिट्टी खुदवानेके कार्यमें बलपूर्वक नियुक्त करनेका प्रयास किया। किन्तु श्रीमन्मध्वाचार्य अपने प्रभावसे राजाको ही उस कार्यमें नियुक्त करके स्वयं अपने शिष्योंको लेकर आगे बढ़ चले। गाङ्गप्रदेशके एक ओर हिन्दु राज्य और दूसरी ओर मुसलमान राज्य था। जिस समय श्रीमन्मध्वाचार्य गाङ्गप्रदेशमें पहुँचे, उस समय इन दोनों राज्योंमें परस्पर भीषण विवाद चल रहा था, जिसके कारण नदी पार करनेके लिए नौका भी नहीं मिलती थी। नदी बहुत विस्तृत (चौड़ी) थी और विरोधी सैनिकोंने नदी पार करनेपर प्रतिबन्ध लगा रखा था।

श्रीमन्मध्वाचार्य और उनके शिष्योंने उस विकट स्थितिमें एक दूसरेका हाथ पकड़कर नदीको तैरकर पार तो कर लिया, किन्तु उनके तटपर पहुँचते ही विरोधी सैनिकोंने उन्हें सताना आरम्भ कर दिया। श्रीमन्मध्वाचार्यने राजाकी अवमानना की थी, इसलिए वे स्वयं राजाके समक्ष उपस्थित हुए तथा उन्होंने अपनी परिस्थितिका वर्णन किया। मुसलमान राजा उनकी सौम्य मूर्त्तिका दर्शनकर और उनके मधुर वचनोंको सुनकर इतना मुग्ध हो गया कि उसने अपना आधा राज्य उन्हें देनेकी इच्छा प्रकट की। किन्तु श्रीमन्मध्वाचार्यने उसे स्वीकार नहीं किया। आगे चलते-चलते मार्गमें डकैतोंने उनपर आक्रमण किया, किन्तु महाबली श्रीमन्मध्वाचार्यने अनायास ही उन सभीका विनाश कर डाला। कुछ आगे जानेपर सत्यतीर्थपर एक बाघने आक्रमण कर दिया, किन्तु श्रीमन्मध्वाचार्यने बलपूर्वक उस बाघको मारकर दूर फेंक दिया। तत्पश्चात् श्रीबदरिकाश्रममें पहुँचकर उन्होंने श्रीव्यासदेवका साक्षात् दर्शन लाभ किया और उनसे अष्टमूर्त्ति (आठ) शालग्राम प्राप्त किये। उसके बाद ही श्रीमन्मध्वाचार्यने 'महाभारत-तात्पर्य' की रचना की।

इस प्रकार श्रीमन्मध्वाचार्यके अलौकिक पाण्डित्य और भगवत्-आनुगत्यकी ख्याति भारतमें सर्वत्र फैल गयी। इसके कारण शृङ्गेरी मठाधीश शङ्कराचार्य बड़े उद्विग्न और चिन्तित हो गये। शङ्कर-मतावलम्बी अपनी प्रतिष्ठाको नष्ट होते देखकर श्रीमध्वाचार्यके प्रति हिंसा करनेकी योजना बनाने लगे। वे मध्व-मतावलम्बियोंको समाजसे बहिष्कृत और मध्वमतको अवैदिक और शास्त्र-विरोधी सिद्ध करनेका प्रयास करने लगे। शृङ्गेरी मठके मठाधीश पद्मतीर्थने पुण्डरीकाक्ष-पुरी नामक एक शङ्कर-मतावलम्बी पण्डितको लेकर श्रीमन्मध्वाचार्यके साथ शास्त्रार्थ कराया और श्रीमध्वाचार्यके द्वारा संगृहीत एवं रचित ग्रन्थोंको भी चोरी करवा लिया। इस घटनासे श्रीमन्मध्व और उनके शिष्योंको बहुत कष्ट हुआ। परन्तु काम्बतीर्थके निकट स्थित कुम्बल देशके राजा श्रीजयसिंहकी सहायतासे श्रीमन्मध्वाचार्यको वे ग्रन्थ पुनः प्राप्त हो गये।

विष्णुमङ्गल निवासी लिकुचवंशी विख्यात पण्डित त्रिविक्रमाचार्यको शास्त्रयुक्तिके द्वारा वाद-विवादमें पराजितकर श्रीमन्मध्वाचार्यने उसे अपने शिष्यके रूपमें ग्रहण किया। पण्डित त्रिविक्रमाचार्यके पुत्र कविवर श्रीनारायणाचार्य ही 'सुमध्वविजय' और 'मणिमञ्जरी' ग्रन्थोंके रचयिता हैं।

श्रीपूर्णप्रज्ञ (श्रीमध्वाचार्य) के शारीरिक बलकी भी कोई सीमा नहीं थी। 'कड़ञ्जरी' नामक एक महाबलवान पुरुष अपनेको तीस व्यक्तियोंके समान बलधारी समझकर बहुत ही अभिमान करता था। श्रील मध्वाचार्यने अपने पैरके अङ्गुठेको भूमिमें लगाकर कड़ञ्जरीसे उसे हिलानेके लिए कहा, किन्तु वह अपने सम्पूर्ण बलका प्रयोग करनेपर भी उसे टससे मस नहीं कर सका।

एक समय कादुर जिलेके मुद्गेरी गाँवमें नदी अपने तटको तोड़कर बहुत-से भूभागको नष्ट कर रही थी। अतः नदीके वेगको कम करनेके लिए हजारसे भी अधिक व्यक्ति एक साथमें मिलकर एक विशाल शिला लानेकी चेष्टा कर रहे थे। जब बहुत प्रयास करनेपर भी वे सफल नहीं हुए और उन्हें वह शिला बीच मार्गमें ही छोड़नी पड़ी। तब महाबली श्रीमध्वाचार्यने एक हाथसे अनायास ही उस शिलाको उठाकर ठीक स्थानपर ले जाकर स्थापित कर दिया। इसलिए आज भी वहाँ उस विशाल शिलापर लिखा है—'श्रीमध्वाचार्यैरेकहस्तेन आनीय स्थापित शिला।'

तृतीय मारुती तनु श्रीमध्वाचार्यकी शास्त्र-सिद्धान्तमें पारदर्शिताके विषयमें सुनकर देवता तक भी विस्मित और परम प्रसन्न हुए थे। एक दिन रुद्रादि सभी प्रमुख देवता आकाश मार्गसे रजतपीठपुरमें श्रीअनन्तेश्वर मन्दिरके सम्मुख उपस्थित हुए। श्रीमन्मध्वाचार्य उस समय मन्दिरमें अपने शिष्योंके निकट 'ऐतेरेयोपनिषद' की व्याख्या कर रहे थे। देवतागण श्रील मध्वाचार्यकी व्याख्या करनेके कौशलको देखकर विशेष आनन्दित हुए और वे श्रील मध्वाचार्यके ऊपर मन्दार-पारिजातादि दिव्य पुष्पोंकी वर्षा करने लगे। [पुष्पोंसे उनकी देह ढक गयी, जब कुछ क्षणके बाद शिष्योंने पुष्प हटाये

तो श्रीमन्मध्वाचार्य वहाँ नहीं थे। इस प्रकार] श्रीमध्वाचार्य अपने शिष्योंके सामने ऐतेरेयोपनिषद्-भाष्यकी व्याख्या करते-करते माघी शुक्ला नवमी तिथिमें अनन्तेश्वर मन्दिरमें ही अप्रकट हो गये। श्रीमन्मध्वाचार्य ७९ वर्ष तक जगत्में प्रकट रहे। श्रीमन्मध्वाचार्य-सम्प्रदायके विख्यात पण्डिताचार्य वादिराजस्वामीने 'सरसभारतीविलास' ग्रन्थमें लिखा है कि श्रीमन्मध्वाचार्य अदृश्य रूपमें उडुपी और प्रकट रूपमें बदरिकाश्रममें अभी भी विराजमान हैं। अश्वत्थामा, बलि, व्यास, हनुमान, विभीषण, कृप और परशुराम—ये लोग वैवस्वत-मनन्वतर तक पृथ्वीपर निवास करनेके बाद प्रपञ्चसे अतीत नित्यधाममें प्रविष्ट होंगे। श्रीमन्मध्वाचार्य भी उनके साथ वैवस्वत-मन्वन्तरके अन्त तक बदरिकाश्रममें निवासकर वायुके रूपमें (नित्यधाममें) प्रविष्ट होंगे। श्रीहृषीकेशतीर्थके मतानुसार श्रीमन्मध्वाचार्य ४४१८ कल्याब्दकी पिङ्गल संवत्सरीय माघी शुद्धा नवमीको उडुपीसे अदृश्य होकर बदरिकाश्रममें चले गये।

श्रीमन्मध्वाचार्यने जगत्में द्वैत-सिद्धान्तका प्रचार करनेके लिए अनेक ग्रन्थोंकी रचना तथा मठादि स्थापितकर वहाँ सेवा-पूजाकी व्यवस्था की। श्रीजयतीर्थके द्वारा रचित 'ग्रन्थमालिका-स्तोत्र' में श्रीमन्मध्वाचार्यके द्वारा रचित जिस ग्रन्थावलीका नाम प्राप्त हुआ है, वह निम्नलिखित है—(१) गीता-भाष्यम्, (२) सूत्र-भाष्यम्, (३) अनुव्याख्यानम्, (४) अनु-भाष्यम्, (५) गीता-तात्पर्य-निर्णयः, (६) ऐतरेय-भाष्यम्, (७) बृहदारण्यक-भाष्यम्, (८) छान्दोग्य-भाष्यम्, (९) तैत्तिरीय-भाष्यम्, (१०) काठक-भाष्यम्, (११) आथर्वण-भाष्यम्, (१२) माण्डुक-भाष्यम्, (१३) ईशावास्य-भाष्यम्, (१४) तलवकार-भाष्यम्, (१५) षट्प्रश्न-भाष्यम्, (१६) ऋग्-भाष्यम्, (१७) तत्त्वसंख्यानाम्, (१८) तत्त्वविवेकः, (१९) तत्त्वोद्योतः, (२०) मायावादखण्डनम्, (२१) मिथ्यात्वानुमानखण्डनम्, (२२) उपाधि-खण्डनम्, (२३) कथा-लक्षणम्, (२४) प्रमाण-लक्षणम्, (२५) कर्मनिर्णयः, (२६) विष्णु-तत्त्व-निर्णयः, (२७) न्यायविवरणम्, (२८) कृष्णामृतमहार्णवः, (२९) तन्त्रसारः, (३०) सदाचार-स्मृतिः,

(३१) द्वादश-स्तोत्रम्, (३२) नृसिंह-नख-स्तुति, (३३) जयन्ती-निर्णयः, (३४) श्रीकृष्ण-गद्यम्, (३५) श्रीमन्महाभारत-तात्पर्य-निर्णयः, (३६) श्रीभागवत-तात्पर्य-निर्णयः, (३७) यमकभारतम्, (३८) यति प्रवणकल्पः। 'बत्तीस अक्षर परिमितका एक ग्रन्थ'—इस प्रकार गणना करनेपर श्रीमन्मध्वाचार्यके द्वारा रचित ग्रन्थोंकी संख्या प्रायः ३२००० सहस्त्र निर्द्धारित होती है। यथा 'ग्रन्थमालिक-स्तोत्र' में वर्णित है—

त्रिंशत्सहस्त्रं द्व्यधिकमधिकं कृष्णतुष्टिदम्।
एतेषां पाठमात्रेण मध्वेशः प्रीयते हरिः॥

श्रीकृष्णको आनन्द प्रदान करनेवाले इन ३२,००० ग्रन्थोंका पाठ करनेमात्रसे ही श्रीमन्मध्वाचार्यके ईश श्रीहरि प्रसन्न होते हैं।

श्रीमध्व-सम्प्रदायकी गुरुपरम्परा और मठादिका परिचय—यह पहले ही कहा जा चुका है कि श्रीमन्मध्वाचार्यने अपने द्वारा प्रतिष्ठित श्रीबालकृष्णकी नित्यपूजा और अपने सिद्धान्तका प्रचार करनेके लिए अपने आठ ब्रह्मचारी शिष्योंको संन्यास प्रदान करके उनके ऊपर श्रीकृष्ण-मूर्त्तिकी सेवा और शास्त्र-अध्यापनका दायित्व सौंपा था। एक गृहस्थ शिष्यको भी उन्होंने संन्यास प्रदान कर द्वैत-सिद्धान्तके प्रचार-कार्यमें नियुक्त किया था। श्रीमध्वाचार्यके उक्त शिष्य जिन्होंने गृहस्थ आश्रम परित्यागकर श्रीमद् आनन्दतीर्थपादसे यति धर्म स्वीकार कर संन्यासवेश ग्रहण किया था, वे माध्व-गौड़ीय गुरुपरम्परामें श्रीमध्वके अधःस्तन श्रीपद्मनाभतीर्थके नामसे प्रसिद्ध हैं। 'श्रीगौरगणोद्देश-दीपिका' के रचयिता [श्रीकविकर्णपूर] ने और 'श्रीगोविन्दभाष्य' के रचयिता [श्रील बलदेव विद्याभूषण प्रभु] ने भी हमारी गुरु-परम्परामें श्रीपद्मनाभतीर्थको श्रीमद् आनन्दतीर्थपादका शिष्य बतलाया है। श्रीपद्मनाभतीर्थ उडुपी क्षेत्रके उत्तरादि मठके मूल मठाधीश थे। श्रीमन्मध्वाचार्यके अन्य आठ शिष्य उडुपी गाँवमें स्थित आठ मठोंके मूल मठाधीशके रूपमें विराजमान होकर श्रीकृष्णमूर्त्तिकी पूजा-सेवादि करते थे। इन आठ मठोंमें

दो-दो मठ मिलकर 'द्वन्द-मठ' के नामसे प्रसिद्ध हुए। इन द्वन्द-मठोंमेंसे एक मठके मठाधीश सेवा कार्य करते थे और दूसरे मठके मठाधीश उनके सहयोगी होते थे।

शुद्ध-द्वैत आम्नाय (गुरुपरम्परा)—(१) हंसरूपी-विष्णु, (२) चतुर्मुख ब्रह्मा, (३) सनकमुनि, (३) सनन्दन, (३) सनत्सुजात, (३) सनत्कुमार, (४) दुर्वासा, (५) ज्ञाननिधितीर्थ, (५) गरुड़वाहनतीर्थ, (५) कैवल्यतीर्थ, (५) ज्ञानेशतीर्थ, (५) परतीर्थ, (६) सत्यप्रज्ञ, (७) प्राज्ञतीर्थ, (८) अच्युतप्रेक्ष, (९) श्रीमद्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रीमद्द्वैत-मत-प्रतिष्ठापक-श्रीमुख्यप्राण-तृतीयावतार श्रीमतपरमहंस-कुलतिलक-सर्वज्ञचूड़ामणि श्रीमद्आनन्दातीर्थाभिध श्रीमन्मध्वाचार्यपाद, (१०) श्रीपद्मनाभतीर्थ, (१०) श्रीहृषीकेशतीर्थ, (१०) श्रीनरहरितीर्थ, (१०) श्रीजनार्द्दनतीर्थ, (१०) श्रीउपेन्द्रतीर्थ, (१०) श्रीवामनतीर्थ, (१०) श्रीविष्णुतीर्थ (मध्वशिष्य और वासुदेवानुज), (१०) श्रीरामतीर्थ, (१०) श्रीअधोक्षजतीर्थ।

(१०) श्रीपद्मनाभतीर्थ (उड़ुपीक्षेत्रमें स्थित उत्तरादि मठके मूल मठाधीश) ११२० शक, (१०) नरहरि ११२७ शक, (१०) माधव ११३६ शक, (११) अक्षोभ्य ११५९ शक, (१२) जयतीर्थ ११६७ शक, (१३) विद्याधिराज ११९० शक, (१४) कवीन्द्र १२५५ शक, (१५) वागीश १२६१ शक, (१६) रामचन्द्र १२६९ शक, (१७) विद्यानिधि १२९८ शक, (१८) श्रीरघुनाथ १३६६ शक, (१९) रघुवर्य १४२४ शक, (२०) रघुत्तम १४७१ शक, (२१) वेदव्याघ्र १५१७ शक, (२२) विद्याधीश १५४१ शक, (२३) वेदनिधि १५५३ शक, (२४) सत्यव्रत १५५७ शक, (२५) सत्यनिधि १५६० शक, (२६) सत्यनाथ १५८२ शक, (२७) सत्याभिनव १५९५ शक, (२८) सत्यपूर्ण १६२८ शक, (२९) सत्यविजय १६४८ शक, (३०) सत्यप्रिय १६५९ शक, (३१) सत्यबोध १६६६ शक, (३२) सत्यसन्ध १७०५ शक, (३३) सत्यवर १७१६ शक, (३४) सत्यधर्म १७१९ शक, (३५) सत्यसङ्कल्प १७५२ शक, (३६)

सत्यसन्तुष्ट १७६३ शक, (३७) सत्यपरायण १७६३ शक, (३८) सत्यकाम १७८५ शक, (३९) सत्येष्ट १७९३ शक, (४०) सत्यपराक्रम १७९४ शक, (४१) सत्यवार १८०१ शक, (४२) सत्यधीर १८०८ शक।

(१३) विद्याधिराजतीर्थका एक और शिष्य, (१४) राजेन्द्र १२५४ शक, (१५) विजयध्वज, (१६) पुरुषोत्तम, (१७) सुब्रह्मण्य, (१८) व्यासराय १४७०-१५२० शक। इस मठकी परम्पराक्रममें इसके पश्चात् वर्त्तमान समय तक और भी उन्नीस अथवा बीस जन श्रीमाधवतीर्थ हुए हैं।

(१६) रामचन्द्रतीर्थके एक अन्य शिष्य, (१७) विबुधेन्द्र १२१८ शक, एवं उनके एक शिष्य, (१८) जितामित्र १३४८ शक, (१९) रघुनन्दन, (२०) सुरेन्द्र, (२१) विजयेन्द्र, (२२) सुधीन्द्र, (२३) राघवेन्द्र १५४५ शक। इस परम्पराक्रममें इसके पश्चात् वर्त्तमान समय तक पन्द्रह अथवा सोलह माधवतीर्थ और हुए हैं।

श्रीपद्मनाभतीर्थ, श्रीनरहरितीर्थ और श्रीमाधवतीर्थ, श्रीमध्वाचार्यके ये तीन प्रधान शिष्य क्रमशः ११२०, ११२७, ११३६ शकाब्दमें उत्तरादि मठके मठाधीश हुए थे, परन्तु ये तीनों ही गुरुभ्राता हैं।

(१०) श्रीहृषीकेशतीर्थ (श्रीपलमार मठके मूल मठाधीश एवं साक्षात् श्रीमध्व-शिष्य), (११) विद्यामूर्त्ति, (१२) श्रीनिधि, (१३) विद्येश, (१४) श्रीवल्लभ, (१५) जगद्भूषण, (१६) रामचन्द्र, (१७) विद्यानिधि, (१८) राघवेन्द्र, (१९) रघुनन्दन, (२०) विद्यापति, (२१) रघुपति, (२२) रघुनाथ, (२३) रघुत्तम, (२४) रामचन्द्र, (२५) रघुवर्य, (२६) रघुपुङ्गव, (२७) रघुवर, (२८) रघुप्रवीर, (२९) रघुभूषण, (३०) रघुरत्न, (३१) रघुप्रिय, (३२) रघुमान्य (वर्त्तमान पलमार मठके मठाधीश)।

(१०) श्रीनरहरितीर्थ (श्रीअदमार मठके मूल मठाधीश एवं साक्षात् श्रीमध्व-शिष्य), (११) कमलेक्षण, (१२) रामचन्द्र, (१३) विद्याधीश, (१४) विश्वपति, (१५) विश्वेश, (१६)

वेदनिधि, (१७) वेदराज, (१८) विद्यामूर्त्ति, (१९) वैकुण्ठराज, (२०) विश्वराज, (२१) वेदगर्भ, (२२) हिरण्यगर्भ, (२३) विश्वाधीश, (२४) वादीन्द्र, (२५) विद्यापति, (२६) विबुधपति, (२७) वेदवल्लभ, (२८) वेदवन्द्य, (२९) विद्येश, (३०) विबुधवल्लभ, (३१) विबुधवन्द्य, (३२) विबुधवर्य, (३३) विबुधन्द्रे, (३४) विवधाधिराज, (३५) विबुधप्रियतीर्थ (वर्त्तमान अदमार मठके मठाधीश एवं वर्त्तमान उडुपीके मठाधीशोंमें एक विशेष पण्डित)।

(१०) श्रीजनार्द्दनतीर्थ (कृष्णापुर मठके मूल मठाधीश एवं साक्षात् श्रीमध्व-शिष्य), (११) श्रीवत्साङ्क, (१२) वागीश, (१३) लोकेश, (१४) लोकनाथ, (१५) विद्याराज, (१६) विश्वाधिराज, (१७) विश्वाधीश, (१८) विश्वेश, (१९) विश्ववन्द्य, (२०) विश्वराज, (२१) धरणीधर, (२२) धराधर, (२३) प्रज्ञान, (२४) तपोतीर्थ, (२५) सुरेश्वर, (२६) सुरेश, (२७) विश्वपुङ्गव, (२८) विश्ववल्लभ, (२९) विश्वभूषण, (३०) यादवेन्द्र, (३१) प्रज्ञानमूर्त्ति, (३२) विद्याधिराज, (३३) विद्यावल्लभ, (३४) विबुधेन्द्र, (३५) विद्यानिधि, (३६) विद्यासमुद्र, (३७) विद्याधीश, (३८) विद्यापूर्ण (ये वर्त्तमानमें कृष्णापुर मठके मठाधीश हैं)।

(१०) श्रीउपेन्द्रतीर्थ (पुत्तिगे मठके मूल मठाधीश एवं साक्षात् श्रीमध्व-शिष्य), (११) कवीन्द्र, (१२) यादवेन्द्र, (१३) धरणीधर, (१४) दामोदर, (१५) रघुनाथ, (१६) श्रीवत्साङ्क, (१७) गोपीनाथ, (१८) रङ्गनाथ, (१९) लोकनाथ, (२०) रमानाथ, (२१) श्रीवल्लभ, (२२) श्रीनिवास, (२३) श्रीनिधि, (२४) गुणनिधि, (२५) आनन्दनिधि, (२६) तपोनिधि, (२७) यादवेन्द्र, (२८) कवीन्द्र, (२९) राघवेन्द्र, (३०) विबुधेन्द्र, (३१) सुरेन्द्र, (३२) भुवनेन्द्र, (३३) योगीन्द्र, (३४) सुमतीन्द्र, (३५) सुरीन्द्र, (३६) सुज्ञानेन्द्र (ये वर्त्तमानमें पुत्तिगे मठके मठाधीश हैं)।

(१०) श्रीवामनतीर्थ (शीरुरु मठके मूल मठाधीश एवं साक्षात् श्रीमध्व-शिष्य), (११) वासुदेव, (१२) वेदगम्य, (१३) वेदव्यास,

(१४) महीश, (१५) वेदवेद्य, (१६) कृष्णतीर्थ, (१७) राघव, (१८) सुरेश, (१९) वेदभूषण, (२०) वेदनिधि, (२१) श्रीधर, (२२) राघवोत्तम, (२३) लक्ष्मीनारायण, (२४) विश्वभूषण, (२५) त्रैलोक्यपावन, (२६) लक्ष्मीकान्त, (२७) यादवेन्द्र, (२८) कवीन्द्र, (२९) लक्ष्मीनारायण, (३०) लक्ष्मीपति, (३१) लक्ष्मीधर, (३२) लक्ष्मीराण, (३३) लक्ष्मीमोहन, (३४) लक्ष्मीप्रिय, (३५) लक्ष्मीवल्लभ, (३६) लक्ष्मीसमुद्र, (३७) लक्ष्मीन्द्र (वर्त्तमान मठाधीश)।

(१०) श्रीविष्णुतीर्थ (सोदे मठके मूल मठाधीश, साक्षात् श्रीमध्व-शिष्य और श्रीमध्वाचार्यके पूर्व आश्रमके अनुज भ्राता), (११) वेदव्यासए (१२) वेदवेद्य, (१३) परेश, (१४) वामन, (१५) वासुदेव, (१६) वेदव्यास, (१७) वराह, (१८) वेदाङ्ग, (१९) विश्ववन्द्य, (२०) विश्वतीर्थ, (२१) विठ्ठल, (२२) वरदराज, (२३) वागीश, (२४) वादिराज (ये तत्त्ववादी-सम्प्रदायमें द्वितीय मध्वाचार्यके नामसे विख्यात हैं। श्रीमन्मध्वाचार्यके बाद मध्व-सम्प्रदायमें इनके समान शास्त्रविद् पण्डित और कोई नहीं हुए।), (२५) वेदवेद्य, (२६) विद्यानिधि, (२७) वेदनिधि, (२८) वरदराज, (२९) विश्वाधिराज, (३०) वेदवन्द्य, (३१) विश्ववेद्य, (३२) विश्वनिधि, (३३) विश्वाधीश, (३४) विश्वेश, (३५) विश्वप्रिय वृन्दावनाचार्य, (३६) विश्वाधीश, (३७) विश्वेन्द्र (सोदे मठके वर्त्तमान मठाधीश)।

(१०) श्रीरामतीर्थ (काणुरु मठके मूल मठाधीश एवं साक्षात् श्रीमध्व-शिष्य), (११) रघुनाथ, (१२) रघुपति, (१३) रघुनन्दन, (१४) यदुनन्दन, (१५) विश्वनाथ, (१६) वेदगर्भ, (१७) वागीश, (१८) यदुपति, (१९) विश्वपति, (२०) विश्वमूर्त्ति, (२१) वेदपति, (२२) वेदराज, (२३) विद्याधीश, (२४) विबुधेश, (२५) वारिजाक्ष, (२६) विश्वेन्द्र, (२७) विबुधवन्द्य, (२८) विद्याधिराज, (२९) विश्वराज, (३०) विबुधप्रिय, (३१) विद्यासागर, (३२) वासुदेव, (३३) विद्यापति, (३४) वामन, (३५) विद्यानिधि, (३६) विद्यासमुद्र (काणुरु मठके वर्त्तमान मठाधीश)।

(१०) श्रीअधोक्षजतीर्थ (पेजावार मठके मूल मठाधीश एवं साक्षात् श्रीमध्व-शिष्य), (११) कमलाक्ष, (१२) पुष्कराक्ष, (१३) अमरेन्द्र, (१४) विजय, (१५) महेन्द्र, (१६) विजयध्वज, (१७) दामोदर, (१८) वासुदेव, (१९) वादीन्द्र, (२०) वेदगर्भ, (२१) अनुप्रज्ञ, (२२) विश्वप्रज्ञ, (२३) विश्वेश्वर, (२४) विश्वभूषण, (२५) विश्ववन्द्य, (२६) विश्वाधिराज, (२७) विश्वमूर्त्ति, (२८) विश्वपति, (२९) विश्वनिधि, (३०) विश्वाधीश, (३१) विश्वाधिराज, (३२) विश्वबोध, (३३) विश्ववल्लभ, (३४) विश्वप्रिय, (३५) विश्ववर्य, (३६) विश्वराज, (३७) विश्वमनोहर, (३८) विश्वज्ञ, (३९) विश्वमान्य (पेजावरके वर्त्तमान मठाधीश)।

शुद्ध-द्वैत-सम्प्रदायके मठसमूह—

(१) पलमार मठ, (२) अदमार मठ—द्वन्द्व मठद्वय (अर्थात् युगलमठ),
(३) कृष्णापुर मठ, (४) पुत्तिगे मठ—द्वन्द्व मठद्वय (अर्थात् युगलमठ),
(५) शीरुरु मठ, (६) सोदे मठ—द्वन्द्व मठद्वय (अर्थात् युगलमठ),
(७) काणुरु मठ, (८) पेजयार मठ—द्वन्द्व मठद्वय (अर्थात् युगलमठ),
(९) उत्तरादि मठ।

इसके अतिरिक्त श्रीमध्वाचार्यके गुरुदेव श्रीअच्युतप्रेक्षके द्वारा स्थापित (१०वाँ) 'भण्डारिक मठ', इस मठके किसी अधस्तनके द्वारा स्थापित (११वाँ) 'भीमसेतु मठ', श्रीमन्मध्वशिष्य श्रीपद्मनाभतीर्थके द्वारा स्थापित (१२) 'श्रीबादराय मठ', श्रीमन्मध्वशिष्य श्रीनरहरितीर्थके द्वारा स्थापित (१३) 'श्रीनरहरि तीर्थ मठ', श्रीमध्वशिष्य श्रीमाध्वतीर्थके द्वारा स्थापित (१४) 'मज्जिगेहल्ली मठ', श्रीअक्षोभ्यतीर्थके द्वारा स्थापित (१५) 'अक्षोभ्यतीर्थ मठ', अक्षोभ्यतीर्थकी शिष्य-परम्परामें किसीके द्वारा स्थापित (१६) 'व्यासराय मठ' और (१७) 'मन्त्रालय मठ' स्थापित हुआ है। उडुपीके मूल आठ मठोंमेंसे एक

सोदे मठके मूल मठाधीश विष्णुतीर्थके द्वारा स्थापित (१८) 'सुब्रह्मण्य मठ', पेजया मठके अधोक्षजतीर्थकी शिष्य-परम्परामें किसीके द्वारा स्थापित (१९) 'चित्रापुर मठ' आदि द्वैत-सम्प्रदायके अनेक मठ आज भी उडुपी और उसके निकटवर्त्ती स्थानोंमें स्थित हैं।

श्रीकृष्ण मठमें श्रीमन्मध्वाचार्यके द्वारा स्थापित 'बालकृष्णकी मूर्त्ति', पलमार मठमें—'श्रीरामविग्रह', अदमार मठमें—'चतुर्भुज कालीय-मर्द्दन श्रीकृष्ण,' पुत्तिका अथवा पुत्तिगे मठमें—'विट्ठल देव', शीरुरु मठमें—'विट्ठलदेव', सोदे मठमें—'श्रीवराह देव', काणुरु मठमें—'श्रीनृसिंहदेव', पेजया मठमें—'विट्ठल देव', उत्तरादि मठमें—'श्रीरामचन्द्र' आदि विग्रह पूजित होते हैं।

श्रीमन्मध्वाचार्यकी शिष्य परम्पराके आचार्योंके पाण्डित्यका प्रभाव—आचार्य श्रीमत्पूर्णप्रज्ञ आनन्दतीर्थ (श्रीमध्वाचार्य) ने जगत्में विष्णु-विरोधी मतवादोंका खण्डन तथा मायावादको निरस्त करनेके लिए शुद्धद्वैत-मत प्रतिपादक बहुत-से ग्रन्थोंकी रचना की है। उनके अप्रकट होनेके पश्चात् भी उनकी शिष्य-परम्परामें आये आचार्योंने श्रीविष्णुकी सर्वश्रेष्ठता प्रतिपादक एवं मायावादी अपसिद्धान्तका खण्डन करनेवाले बहुत-से ग्रन्थोंका प्रकाशन किया है। सर्वसाधारणमें इन ग्रन्थोंका प्रचार नहीं होनेपर भी और इन समस्त ग्रन्थोंका प्रकाशन नहीं होनेपर भी श्रीमध्व-सम्प्रदायकी पण्डित-मण्डलीमें इन सब ग्रन्थोंका अभी भी पठन-पाठन होता है। श्रीमध्व-सम्प्रदायके ऐकान्तिक वैष्णवगण अन्य सम्प्रदायके ग्रन्थोंके अनुशीलनका विशेष आदर नहीं करते। मध्व-सम्प्रदायके ऐकान्तिक लोग अपने सम्प्रदायमें स्थित व्यक्तियोंके अतिरिक्त अन्य लोगोंके निकट अपने सम्प्रदायके विषयमें प्रचार करनेके इच्छुक नहीं हैं।

श्रीमध्व-सम्प्रदायमें परवर्त्तिकालमें 'दासकूट' और 'व्यासकूट' नामक दो विभाग परिलक्षित होते हैं। साधारणतः दासकूट-सम्प्रदायके अन्तर्गत आनेवाले भक्त संस्कृत ग्रन्थ इत्यादि की आलोचना

करनेकी अपेक्षा कीर्त्तन-भजन आदिमें अधिक रुचि रखते है। दासकूट-सम्प्रदायके लोगोंको भजनानन्दी भी कहा जा सकता है। दासकूट-सम्प्रदायके लोग अपने सम्प्रदायके शास्त्र-सिद्धान्तोंसे भलीभाँति अवगत होनेपर भी भजन इत्यादिमें ही अधिक रुचि रखते हैं। दासकूट-सम्प्रदायके बहुत-से ग्रन्थ हैं जो उनकी मातृभाषा कन्नड़में रचित हैं, इनमेंसे अधिकांश ग्रन्थ पद्यात्मक हैं। श्रीकनकदास आदि मध्व-सम्प्रदायके बहु-सम्मानित व्यक्ति इस दासकूट-सम्प्रदायके अन्तर्गत प्रसिद्ध हैं।

व्यासकूट-सम्प्रदायमें स्थित अनेक व्यक्तियोंने भी कन्नड़ भाषामें बहुत-से ग्रन्थोंकी रचना की है। जैसे—श्रीवादिराज स्वामीने व्यासकूट-सम्प्रदायके विशिष्ट और विख्यात पण्डित होकर भी कन्नड़ भाषामें बहुत-से भजनादि-विषयक ग्रन्थोंकी भी रचना की है। व्यासकूट-सम्प्रदायके लोगोंको गोष्ठानन्दी भी कहा जा सकता है अर्थात् वे संस्कृत भाषामें अपने सम्प्रदायके विचार और ग्रन्थोंका अध्ययन एवं अध्यापन किया करते हैं। मध्व-शिष्य परम्परामें प्रसिद्ध पण्डित-आचार्योंके नाम और उनके द्वारा रचित ग्रन्थावलीकी तालिका नीचे दी जा रही है। हमलोगोंका साम्प्रदायिक परिचय श्रीमध्व-सम्प्रदायके अन्तर्गत होनेपर भी हम गौड़ीय वैष्णव अपने पूर्वगुरु श्रीमध्वमुनि अथवा उनके सम्प्रदायके विषयमें बहुत कम ही जानते हैं। हमारे सम्प्रदायकी पूर्व गुरु-परम्परामें उड़ुपी क्षेत्रके उत्तरादि मठके श्रीपद्मनाभतीर्थ, श्रीनरहरितीर्थ और श्रीजयतीर्थ विशेष विख्यात पण्डिताचार्य थे।

(१) श्रीपद्मनाभ तीर्थ (उत्तरादि मठके मठाधीश एवं श्रीमध्वचार्यके शिष्य) के द्वारा रचित ग्रन्थ—'सन्याय-रत्नावली'।

(२) श्रीनरहरितीर्थ (उत्तरादि मठके मठाधीश एवं श्रीमध्वाचार्यके शिष्य) के द्वारा रचित ग्रन्थावली—श्रीमध्वके द्वारा रचित ग्रन्थोंकी संक्षिप्त टीका। (आजकल यह सब टीकाएँ कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होती, परन्तु श्रीजयतीर्थपादके ग्रन्थोंमें इन सब टीकाओंका उल्लेख पाया जाता है।)

(३) श्रीजयतीर्थ (उत्तरादि मठके मठाधीश, अन्य नाम 'टीकाचार्य') के द्वारा रचित ग्रन्थ—(१) न्यायसुधा, (२) तत्त्व-प्रकाशिका, (३-१२) दश-प्रकरण टीका, (१३) षट्प्रश्न टीका, (१४) ईशावास्य-टीका, (१५) गीताभाष्य-टीका, (१६) गीता-तात्पर्य-निर्णय-टीका, (१७) भागवत-तात्पर्य टीका, (१८) ऋग्भाष्य-टीका, (१९) न्याय-विवरण-टीका, (२०) प्रमाण-पद्धति, (२१) वादावली।

श्रीजयतीर्थपादका 'न्यायसुधा' मध्व-सम्प्रदायका एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। कोई चाहे कितना भी बड़ा पण्डित क्यों न हो, मध्व-न्याय (श्रीमध्वाचार्य द्वारा प्रस्तुत न्याय) में विशेष रूपसे पारदर्शिता नहीं रहनेपर इस ग्रन्थके गूढ़ विषयको समझनेमें वह समर्थ नहीं हो सकता। श्रीमध्व-सम्प्रदायमें किसका कितना पाण्डित्य है, यह जाननेके लिए इस सम्प्रदायके लोग और कोई प्रश्न न करके केवल यही पूछते हैं—"महाशय! आपने कितनी बार सुधाका पान किया है?" जिसने जितनी अधिक बार न्यायसुधाका पाठ किया है, मध्व-सम्प्रदायके विचारके अनुसार वे उतने ही बड़े पण्डित हैं। आज भी विद्वत्-समाजमें यह उक्ति प्रसिद्ध है—'सुधा' पठनीय है, 'वसुधा' पालनीय है। 'न्यायसुधा' ग्रन्थ एक बार मुद्रित हुआ था, किन्तु आजकल यह प्राप्त नहीं होता।

(४) त्रिविक्रम पण्डिताचार्य (गृहस्थ, श्रीमन्मध्वाचार्यके शिष्य) के द्वारा रचित ग्रन्थ—(१) तत्त्वप्रदीपः, (२) सूत्रभाष्य टीका, (३) वायु-स्तुतिः, (४) विष्णुस्तुतिः, (५) ऊषाहरणकाव्यम्।

(५) नारायण पण्डिताचार्य (त्रिविक्रम पण्डिताचार्यके पुत्र, गृहस्थ) के द्वारा रचित ग्रन्थमाला—(१) मध्वविजयः, (२) सुमध्वविजय-टीका—भावप्रकाशिका, (३) अनुमध्वविजयः, (४) मणिमञ्जरी, (५) नृसिंहस्तुतिः, (६) शिवस्तुतिः, (७) नयचन्द्रिका, (८) संग्रहरामायणम्।

(६) श्रीविजयध्वजतीर्थ (पेजावर मठके संन्यासी, श्रीमध्वसे सप्तम अधःस्तन) ने श्रीमन्मध्वाचार्य द्वारा रचित भागवत-तात्पर्यकी व्याख्यास्वरूप 'पदरत्नावली' टीकाकी रचना की है। श्रीविजयध्वज-

तीर्थने अपनी भागवत-टीकाके मङ्गलाचरणमें गुरुप्रणामके माध्यमसे अपनी गुरुपरम्पराका इस प्रकार प्रदर्शन किया है। यथा—

"चरणनलिने दैत्यारातेर्भवार्णवोत्तरसत्तरीम्।
दिशतु विशदां भक्तिं मह्यं महेन्द्रतीर्थयतीश्वरः॥

भवसागरसे परे एवं ब्रह्मज्योतिके समीप श्रेष्ठतम वैकुण्ठधाममें श्रीवैकुण्ठनाथके चरणकमलोंमें मेरे श्रीगुरुदेव श्रीमहेन्द्रतीर्थ यतीश्वर मुझे शुद्धाभक्ति प्रदान करें।

आनन्दतीर्थविजयतीर्थौ प्रणम्य मस्करिवरवन्द्यौ।
तयोः कृतिं स्फुटमुपजाव्य प्रवाचम् भागवत-पुराणम्॥"

श्रेष्ठ संन्यासियों द्वारा वन्दनीय श्रीआनन्दतीर्थ यति और श्रीजयतीर्थ यतिको प्रणाम करके उनके द्वारा रचित ग्रन्थोंको स्पष्ट रूपमें जीवन स्वरूप बनाकर श्रीमद्भागवतपुराणका वर्णन कर रहा हूँ।

(७) व्यासतीर्थ (व्यासराय मठके संन्यासी, ये माध्व-गौड़ीय-सम्प्रदायकी गुरुपरम्परामें श्रीमन्मध्वसे चतुर्दश अधःस्तन हैं। इनके शिष्य श्रीलक्ष्मीपतितीर्थ हैं और लक्ष्मीपतितीर्थके अनुगत श्रीमाधवेन्द्र पुरी हैं।) इनके द्वारा रचित ग्रन्थ—(१) न्यायामृतम्, (२) तात्पर्य-चन्द्रिका, (३) तर्कताण्डवः, (४) भेदोज्जीवनम्, (५-७) खण्डन-त्रयमन्दारमञ्जरी, (८) तत्त्वविवेक-मन्दारमञ्जरी।

श्रीव्यासतीर्थ द्वारा रचित 'न्यायामृत' ग्रन्थ वैदान्तिक समाजमें परम-शक्तिशाली, प्रतिपक्षके समस्त विचारों और सिद्धान्तोंका खण्डन करनेवाला, पाशुपतास्त्रके तेजको भी निस्तेज करनेवाला, परम तेजवान विष्णुभक्तोंकी रक्षा करनेवाला और परम प्रीतिप्रद साक्षात् विष्णुके हाथमें सुदर्शनके समान शोभायमान है। सुदर्शनचक्रके समान इस 'न्यायामृत' ग्रन्थराजकी अत्याश्चर्यमयी प्रभाकी कणिका मात्रसे ही मायावादी-सम्प्रदाय निस्तेज हो गया। 'न्यायामृत' इतना गूढ़ रहस्यवाला ग्रन्थ है कि मायावादी-सम्प्रदायके श्रेष्ठ पण्डित भी इस ग्रन्थकी दुर्ज्ञेयताको स्वीकार करनेके लिए बाध्य हुए हैं।

अद्वैतवादी श्रीमधूसूदन सरस्वतीने सुदर्शनचक्रतुल्य 'न्यायामृत' ग्रन्थके विचारोंका खण्डन करनेके लिए 'अद्वैतसिद्धि' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ लिखा, तथापि वे न्यायामृतके दार्शनिक सिद्धान्तोंका लेशमात्र भी खण्डन नहीं कर सके। इसका प्रमाण श्रीमधुसूदन सरस्वतीके अद्वैतसिद्धि ग्रन्थके खण्डनस्वरूप मध्व-सम्प्रदायके श्रीरामाचार्यतीर्थके द्वारा रचित 'तरङ्गिणी' ग्रन्थमें विशेष रूपसे दिखायी देता है। 'तरङ्गिणी' का खण्डन करनेके प्रयास-स्वरूप केवलाद्वैतवाद-सम्प्रदाय द्वारा जो 'ब्रह्मानन्दीय' नामक ग्रन्थ लिखित हुआ है, वह भी सुदर्शनचक्ररूपी 'न्यायामृत' ग्रन्थराजके अत्यद्भुत वैष्णव-तेजके सामने सम्पूर्ण रूपसे म्लान हो गया है। इसका प्रमाण भी 'ब्रह्मानन्दी' ग्रन्थके खण्डनस्वरूप मध्व-सम्प्रदायके 'वनमालामिश्रीय' नामक ग्रन्थराजमें स्पष्ट रूपसे दिखायी देता है। यदि कोई इस पञ्चभङ्गीकी[१] एक साथ आलोचना करें, तो वे हमारे पूर्वाचार्य श्रीव्यासतीर्थकी अलौकिक पाण्डित्य-प्रतिभा, सुदार्शनिक विचार-प्रणाली, अभूतपूर्व सद्युक्तिजाल और विरोधी मतवादको खण्ड-विखण्ड करनेकी अद्वितीय क्षमताको देखकर अत्यन्त विस्मित और आनन्दित होंगे, इसमें बिन्दुमात्र भी सन्देह नहीं है।

(८) **श्रीवादिराजतीर्थ**—ये श्रीमन्मध्वाचार्यसे सोदे मठकी शिष्य परम्परामें षोड़श अधःस्तन अर्थात् सोलहवें आचार्य हैं। श्रीमध्वाचार्यके बदरीविजयके प्रायः तीन सौ वर्षोंके बीचमें ही श्रीवादिराजतीर्थका अभ्युदयकाल है। ये मध्व-सम्प्रदायमें 'द्वितीय-मध्वाचार्य' के नामसे विख्यात हैं। वैष्णव-सिद्धान्त-प्रचार और अवैष्णव मतको पराजित करनेमें इनके जैसा असीम शक्तिशाली पुरुष मध्व-सम्प्रदायमें श्रीमध्वाचार्यके पश्चात् कोई दूसरा प्रकट नहीं हुआ। रजतपीठपुरसे प्रायः तेरह कोस उत्तरमें 'हुविनकेर' नामक गाँवमें किसी एक दरिद्र ब्राह्मणके घरमें इनका जन्म हुआ था। सोदे मठके वागीशतीर्थ नामक संन्यासी इस बालककी अतिशय सौम्य और परम लावण्यमयी मूर्त्ति देखकर विशेष आकृष्ट हुए और उन्होंने

[१] न्यायामृत, अद्वैतसिद्धि, तरङ्गिणी, ब्रह्मानन्दीय और वनमालामिश्रीय।

इस ब्राह्मण पुत्रको अपने शिष्यके रूपमें स्वीकार किया। तत्पश्चात् इन्हें संन्यास देकर 'श्रीवादिराजतीर्थ' नाम प्रदान किया। सोदे मठमें चली आ रही पूर्वगुरु-परम्पराकी रीतिके अनुसार श्रीवराहदेवकी पूजामें नियुक्त होनेपर भी श्रीवादिराजतीर्थ श्रीविष्णुकी हयग्रीव-मूर्त्तिके प्रति ही विशेष रूपसे आकृष्ट थे। भगवान् श्रीहयग्रीवके प्रति इनकी इतनी प्रीति थी कि इनकी प्रीतिके कारण भगवान् श्रीहयग्रीव इनके पृष्ठ भागसे इनकी दोनों भुजाओंपर अपने दोनों चरणयुगल स्थापनकर इनके मस्तकके ऊपर रखे मधुसे पके हुए चनोंका भोजन करते थे और भोजनके पश्चात् प्रतिदिन कुछ अवशिष्ट रखकर अदृश्य हो जाते थे। श्रीवादिराजकी उपासना, पूजा और भक्ति आदिसे प्रसन्न होकर भगवान् श्रीहयग्रीव इन्हें प्रतिदिन इसी प्रकार दर्शन दिया करते थे।

यद्यपि श्रीवादिराजस्वामी सभी कुतार्किकोंका खण्डन करते थे, किन्तु शैव-सिद्धान्त और जैन मतका खण्डन करनेके लिए वे विशेष प्रतिज्ञाबद्ध थे। इन्होंने एक प्रकाण्ड जैन संन्यासीको शास्त्रार्थमें पराजितकर जयचिह्नके रूपमें उस संन्यासीका किरीट (मुकुट), वेत्र (छड़ी) इत्यादि ले लिया था। ये किरीट और वेत्र आज भी उत्तर कन्नड़ जिलेके सोदा ग्राममें त्रिविक्रम-मन्दिरके निकट श्रीवादिराज यतिकी समाधि मण्डपमें सुरक्षित हैं। सोदा ग्राममें वादिराजस्वामीने त्रिविक्रम-देवालय और प्राण-देवालय नामक दो मन्दिरोंकी प्रतिष्ठा तथा 'धवलगङ्गा' नामक एक सरोवरका निर्माण किया था। वादिराजस्वामीने रजतपीठपुरसे आरम्भकर प्रदक्षिणाके आकारमें भारत भूमिपर स्थित सभी क्षेत्र, नदी, पर्वत, देवालयादिमें विचरण किया तथा समस्त स्थानोंके परिचयके साथ अपने भारत-भ्रमणका वृत्तान्त एक ग्रन्थके रूपमें लिपिबद्ध किया। यह ग्रन्थ पद्यात्मक है एवं 'तीर्थप्रबन्ध' के नामसे विख्यात है। इस 'तीर्थप्रबन्ध' में अनेक उत्कृष्ट कथाएँ पायी जाती हैं।

श्रीवादिराजस्वामीने श्रीमध्वाचार्यके द्वारा प्रतिष्ठित अनेक साम्प्रदायिक आचार एवं पद्धतियोंका पुनः प्रवर्त्तन और परिवर्धन

आदि किया। इन्होंने अपने सम्प्रदायके मतानुसार श्रीकृष्ण-देवालयकी सेवाको भलीभाँति चलानेके लिए रजतपीठपुरमें एक विशेष समितिका निर्माण किया। विशेषतः श्रीमध्वाचार्यकी शिष्य-परम्परामें कुछ पीढ़ी पश्चात् अनेक शिष्य अपने सम्प्रदायिक शास्त्रोंके प्रचारमें किञ्चित् उदासीन हो गये थे। श्रीवादिराजस्वामीने विशेष रूपसे स्वप्रदेशके जनसाधारणमें मध्व-सिद्धान्तका प्रचार करनेके लिए भगवत्-माहात्म्य और शास्त्र-सिद्धान्तोंको सन्निविष्टकर प्राकृत-कर्णाटक-पद्यादिकी रचना की—एवं ये पद्यादि सदैव आलोचनाका विषय हो सकें, इसके लिए इन्होंने श्रीकृष्ण-देवालयमें एक 'हरिनाम-सङ्कीर्त्तन-सम्प्रदाय' का गठनकर प्रतिदिन इन पद्योंके गान एवं सङ्कीर्त्तनकी व्यवस्था की। श्रीमध्व-सम्प्रदायके अनुयायी लोगोंका कहना है कि श्रीवादिराजस्वामीने मध्व-सम्प्रदायके प्रत्येक देवमन्दिरमें 'हरिनाम-सङ्कीर्त्तन' की विशेष रूपसे व्यवस्था की थी। रजतपीठपुरमें आज भी दासकूटीय मध्व-सम्प्रदायके अनुयायी वादिराजस्वामी द्वारा रचित कर्णाटक भगवत्-कीर्त्तन-पद्यादिका पाठ और कीर्त्तन करते हैं।

श्रीवादिराजस्वामीने ही श्रीमध्वाचार्य द्वारा विरचित द्वादश स्तोत्रका तान, लय एवं स्वरके साथ सङ्कीर्त्तन करनेका प्रचार किया। श्रीमध्व-सम्प्रदायके लोगोंमें यह किम्वदन्ती है कि वादिराज-स्वामीने दिग्विजयकर स्वर्णका प्रचुर संग्रह किया था। इतने अधिक परिमाणमें स्वर्ण संग्रह हुआ था कि समग्र श्रीकृष्णदेवालयको स्वर्णमण्डित कर देनेपर भी स्वर्णका अभाव नहीं होता। वादिराजस्वामीने श्रीकृष्णदेवालयको स्वर्ण द्वारा परिमण्डित करनेकी इच्छा भी की, किन्तु श्रीकृष्णदेवने इन्हें स्वप्नमें आदेश दिया कि कलिकालमें स्वर्णमन्दिरका निर्माण अनर्थकारी है, क्योंकि उससे भगवत्-विरोधी, लोभी, दस्यु जैसे पाषण्डकुलके लोगोंकी दृष्टि मन्दिरपर पड़ सकती है। वादिराजस्वामीने स्वप्नमें यह आदेश प्राप्तकर अपने सङ्कल्पको छोड़ दिया और अपने द्वारा संग्रहीत स्वर्णको श्रीकृष्ण-देवालयके उत्तरभागकी भूमिमें गाड़कर उसके ऊपर नागकी

प्रतिष्ठा कर दी। उस स्थानपर आज भी सुब्रह्मण्य पूजित हो रहे हैं। इस प्रकार वादिराजस्वामीने बहुत-से व्यक्तियोंको मध्व-सम्प्रदायके अन्तर्गत शिष्य बनाया और अनेक ग्रन्थोंकी रचनाकर उन शास्त्रोंका प्रचार किया। उनके द्वारा रचित ग्रन्थोंकी तालिका नीचे दी जा रही है—

(१) युक्तिमल्लिका, (२) सुधाटिप्पनी, (३) तत्त्वप्रकाशिका-टिप्पनी, (४) समग्र-महाभारतटीका-लक्षालङ्कारः, (५) सरसभारती-विलासः, (६) पाषण्डमतखण्डनम्, (७) अधिकरणनामावलिः, (८) महाभारत-तात्पर्य-निर्णय-टीका, (९) रुक्मिणीशविजय-काव्यम्, (१०) तीर्थप्रबन्धः, (११) जैनमतखण्डनम्।

(९) श्रीराघवेन्द्रतीर्थ (मन्त्रालयमठके संन्यासी), इनके द्वारा रचित ग्रन्थावली—(१) सुधा-परिमल, (२) तत्त्वप्रकाशिकाभावदीपः, (३) तन्त्रदीपिका, (४) मन्त्रार्थमञ्जरी, (५) पुरुषसूक्तटीका, (६-१५) दशोपनिषतखण्डार्थः, (१६) गीताविवृतिः, (१७-२६) दशप्रकरण-टीकाटिप्पनी, (२७) पद्धतिटिप्पनी।

(१०) श्रीविश्वपतितीर्थ (पेजावरमठके संन्यासी)—इनके द्वारा रचित ग्रन्थावली—(१) मध्वविजयटीका, (२) मणिमञ्जरीटीका, (३) तीर्थप्रबन्धटीका, (४) रुक्मिणीशविजयटीका, (५-९) पञ्चस्तुति-टीका, (१०) संग्रहरामायणटीका, (११) रामसन्देशटीका।

(११) यदुपति आचार्य (गृहस्थ), इनके द्वारा रचित ग्रन्थ—(१) सुधाटिप्पनी।

(१२) रामाचार्य (गृहस्थ); इनके द्वारा रचित ग्रन्थ—(१) न्यायामृत टीका-तरङ्गिनी।

(१३) श्रीनिवासतीर्थ (गृहस्थ); इनके द्वारा रचित ग्रन्थावली—(१-१०) दशप्रकरणटिप्पनी, (११) न्यायामृतटिप्पनी, (१२) सुधा-टिप्पनी, (१३) तैत्तिरीयटीका।

श्रीमध्वाचार्यके आविर्भावके कालका निर्णय—श्रीमन्मध्वाचार्यके आविर्भावकालके विषयमें एक मत नहीं है। इस विषयमें प्रथमतः छह मूल प्रमाण उद्धृत किये जा रहे हैं।

(१) श्रीभाण्डारकार द्वारा देखी गयी पूर्व मठकी तालिका और वायुपुराण प्रमाण। भाण्डारकार कहते हैं कि बार्हस्पत्य वर्ष निरूपणके अतिरिक्त मठकी अति प्राचीन तालिकामें शकाब्दिका उल्लेख नहीं है। एकके पश्चात् एक मठ तालिकाकी गणनाके द्वारा अनुमानसे ही शकवर्षादिका निरूपण किया गया है। अधमार मठाधीशके सामने श्रीपद्मनाभ आचार्यने वर्त्तमान उडुपी-पीठके पण्डितोंकी सभामें वायुपुराण और अन्यान्य अप्रमाणिक उद्धृत श्लोकादिसे जानकारी दी है कि विलम्बी वर्षमें श्रीमध्वाचार्यका जन्म हुआ। वायुपुराणके श्लोकके अर्थके अनुसार माघी-शुक्ला-सप्तमी, विलम्बी वर्षमें आचार्यका जन्म हुआ। किन्तु दूसरे श्लोकके मतके अनुसार उसी वर्षमें विजया-दशमीके दिन उनका जन्म हुआ।

(२) उडुपीके आठ मठोंके मठाधीशों और उत्तराढ़ि मूल मठके तीर्थस्वामीजीकी मठ तालिका। सतकथा नामक कानाड़ी भाषामें भीम राय, स्वामी राय द्वारा लिखित ग्रन्थ जो धारवाड़के प्रसाद राघव यन्त्रसे मुद्रित हुआ है। इस तालिकामें श्रीमध्वका अभ्युदयकाल विलम्बी वर्ष १०४० शकाब्द लिखित है। श्रीमध्वाचार्य-सम्प्रदायके अनुयायी विद्वान लोग इस मठ तालिकाका विशेष सम्मान करते हैं और इस प्रमाणके विषयमें उन्हें कोई भी सन्देह नहीं है।

(३) श्रीमध्वाचार्यने स्वरचित महाभारत-तात्पर्य-निर्णय ग्रन्थमें अपने आविर्भावकालके विषयमें दो स्थानोंमें कुछ उल्लेख किया है। यथा—

प्रायशो राक्षसाश्चैव त्वयि कृष्णत्वमागते।
शेषा यास्यन्ति तच्छेषा अष्टाविंशे कलौ युगे।
गते चतुःसहस्राब्दे तमोगास्त्रिशतोत्तरे॥
(१०० म० ता० नि० ९म अध्याय)

चतु:सहस्त्रे त्रिशतोत्तरे गते सम्वतसराणान्तु कलौ पृथिव्यां।
जातः पुनर्विप्रतनुः स भीमो दैत्यैनिगूढ़ं हरितत्वमाह॥
(१३१ म॰ ता॰ नि॰ ३२वाँ अध्याय)

महाभारत–तात्पर्य–निर्णयके इन दोनों स्थानोंपर जिस कालका उल्लेख किया गया है, उसके अनुसार ४३०० कल्याब्द बीत जानेपर अर्थात् चतुश्चत्वारिंशकलि (४४ कलि शताब्दी) में श्रीमध्वमुनिका आविर्भावकाल निरूपण होता है। शताब्दीके प्रारम्भमें ही उनका उदयकाल है, इस बातका कहीं निर्देश नहीं है। विलम्बी वर्षमें उनका जन्म हुआ, इस बातका भाण्डारकरके द्वारा देखी गयी पूर्व मठकी तालिकामें उल्लेख है। ऐसा देखा जाता है पूर्व मठकी तालिका द्वारा निरूपित शक एवं 'स्मृत्यर्थसागर' में लिखे शकमें परस्पर भेद होनेपर भी बादमें दोनोंने ही विलम्बीका आश्रय लेकर शकका निर्धारण किया है। दक्षिण देशमें बार्हस्पत्य वर्षका प्रचलन पहलेसे ही था और शकादि क्रमशः पीछेसे लिखे गये हैं। इसलिए ४३०० कल्याब्दको शकमें परिणत करके ही श्रीकृष्णस्वामी आयार और दक्षिण कानारा जिलेके म्यानुयेल ग्रन्थमें ११२१ शकाब्द अर्थात् ४३०० कल्याब्द वर्षमें श्रीमध्वाचार्यका आविर्भाव स्थिर किया है। डा॰ बुकानने १७९९ ईसवी अर्थात् १७२१ शकाब्दमें महीशूर, कानाड़ा एवं म्यालेवार (वर्त्तमान केरल) राज्यके अनेक स्थानोंमें भ्रमण करते हुए उड़ुपीकी पण्डित–मण्डलीके साथ परामर्श करके आचार्यका जन्मकाल ११२१ शकाब्दमें निर्धारित किया है। बुकाननका कोई अपना मूल प्रमाण नहीं है।

(४) श्रीमच्छलारि–स्मृति नामक ग्रन्थसे श्रीगोपीनाथ राउने अपने 'दक्षिणापथे श्रीवैष्णवधर्मका लघु इतिहास' ग्रन्थके द्वितीय गवेषणा खण्डमें श्रीमध्वके उदयकाल–ज्ञापक इन दो श्लोकोंको उद्धृत्त किये हैं—

कलौ प्रवृत्ते बौद्धादि मतं रामानुजं तथा।
शके ह्येकोनपञ्चाशदधिकाब्दे सहस्रके॥

निराकर्तुं मुख्यवायुःसम्मत स्थापनाय च।
एकादशशते शाके विंशताष्टयुगे गते॥

कलियुगके प्रारम्भमें बौद्धादि मत प्रचलित हुआ। श्रीरामानुजाचार्यका मत १०४९ शकाब्दमें स्थापित हुआ तथा मायावादका खण्डन करनेके लिए तथा वास्तविक मतको स्थापित करनेके लिए मुख्यवायुके अवतार श्रीमन्मध्वाचार्य ११२८ शकाब्दमें आविर्भूत हुए।

कृष्णाके तटवर्त्ती वाइक्षेत्र निवासी बालाचार्यके पुत्र उद्धवाचार्यने श्रीमत्पूर्णप्रज्ञ (श्रीमध्वाचार्य) द्वारा रचित सर्वमूल ग्रन्थकी भूमिकामें इस प्रकार लिखा है—

'उत्सन्नाम्नायां पुनर्निरूपायितुं रौप्यपीठे सुपीठे मध्यगेह सुगेहे आविरास भगवान् दशशततमशकशतके श्रीमत पूर्णप्रज्ञः सुप्रज्ञः। उक्तमेतच्छलारि नृसिंहाचार्यकृत-स्मृत्यर्थ सागरे।' श्रीनृसिंहाचार्यके मतानुसार ११०० शकाब्द ही श्रीमध्वाचार्यका आविर्भावकाल है।

(५) श्रीनरहरितीर्थके तीन प्रस्तर-पटलोंके पुरातत्व विभागके द्वारा संगृहीत प्रमाणोंके अनुसार ११८६ शकाब्दसे १२१५ शकाब्द तक श्रीनरहरितीर्थस्वामी कलिङ्गराज्यके शिशुराजके अभिभावक रहे। श्रीपुरुषोत्तमतीर्थके संन्यासी शिष्य श्रीआनन्दतीर्थसे श्रीनरहरितीर्थने दीक्षा ग्रहण की। श्रीआनन्दतीर्थ व्यासदेवके विपथगामी अनुचरोंको दण्डके द्वारा सन्मार्गमें ले आये। श्रीआनन्दतीर्थके वचनोंका पालन करनेसे जीव श्रीहरिके चरणकमलोंको प्राप्त कर लेते हैं। श्रीआनन्दतीर्थके वचन श्रीविष्णुको अत्यन्त प्रिय हैं एवं उनके श्रीचरणकमलोंको प्रदान करनेमें सक्षम है। यह शिलालिपि १२०३ शकाब्दमें अङ्कित की गयी थी। अध्यापक किलहर्णने इस प्रस्तर-पटलकी तिथि २९ मार्च, १२८१ ईसवी निर्धारित की है। यह कूर्माचलके चिकाकोलमें एवं सिंहाचल मन्दिरके दोनों पटल और श्रीनरहरितीर्थके वहाँ रहनेका काल निर्धारित करता है।

(६) विद्यारण्य भारतीने १२६८ शकाब्दमें विजयनगरके राजासे अपने शृङ्गगिरी मठके लिए भूसम्पत्ति प्राप्त की थी। वे श्रीमन्मध्वाचार्यके चतुर्थ शिष्य अक्षोभ्यके समसामयिक थे।

असिना तत्त्वमसिना परजीव प्रभेदिना।
विद्यारण्यमरण्यानीमक्षोभ्यमुनिरच्छिनत् ॥

वेदान्तदेशिकका प्रकटकाल तेरहवीं शक शताब्दी था और वे विजयनगरके राजाके अनुरोधसे विद्यारण्य और अक्षोभ्यके विचारोंके मीमांसक हुए थे। वेदान्तदेशिक-वैभव-प्रकाशिका ग्रन्थमें इस घटनाका उल्लेख है। 'जयतीर्थ विजय' नामक ग्रन्थमें जयतीर्थके साथ विद्यारण्यतीर्थके साक्षात्कारका उल्लेख है। विद्यारण्यने अपने ग्रन्थोंमें जयतीर्थके भाष्यको उद्धृत किया है। इसलिए विद्यारण्य, जयतीर्थ, अक्षोभ्य और वेदान्तदेशिक समकालीन थे।

इन प्रमाणोंके अनुसार हम संक्षेपमें यह समझते हैं कि श्रीमध्वाचार्यका आविर्भावकाल इस प्रकारसे है—

(१) शकाब्द १०४०, ११०० या ११६० विलम्बी वर्ष।

(२) शकाब्द १०४०।

(३) ११२१ शकाब्दके पश्चात् किसी एक वर्षमें।

(४) शकाब्द ११००।

(५) नरहरितीर्थने १२०३ शकाब्दके पूर्व श्रीमध्वसे संन्यास ग्रहण किया था और १२१५ शकाब्दके बाद उनके मठमें रहे थे। इस विषयमें तीन प्रस्तर-पटल प्रमाण है।

(६) इस प्रकार भिन्न-भिन्न समयकी तालिकाओंसे जाना जाता है कि विद्यारण्य, मध्वशिष्य अक्षोभ्य और वेदान्तदेशिक त्रयोदश शक शताब्दीके मध्यभागमें वर्त्तमान थे।

श्रीमध्वाचार्यके आविर्भावके विषयमें इतिहासके इन प्रमाणोंमेंसे कौन-से प्रमाणको स्वीकार करना कर्त्तव्य है, इस विषयमें एक शुद्ध मीमांसा होना उचित है।

सभी प्रमाणोंका अनुशीलन करनेपर यह दिखलायी पड़ता है कि प्रथम प्रमाण और अन्य प्रमाणोंमें परस्पर विरोध दिखायी

देनेपर भी वह अन्य पाँचों प्रमाणोंका पोषण करता है। प्रथम प्रमाणके साथ अन्य किसी प्रमाणका विरोध नहीं है।

द्वितीय प्रमाणको स्वीकार करनेसे यद्यपि प्रथम प्रमाणके साथ कोई विरोध नहीं होता है, तथापि तृतीयसे षष्ठ इन चारों प्रमाणोंको छोड़ना होगा। तृतीय प्रमाणको शुद्ध मानकर ग्रहण करनेपर द्वितीय और चतुर्थ प्रमाणका त्याग करना पड़ेगा।

चतुर्थ प्रमाणको स्वीकार करनेपर प्रथम प्रमाणके साथ विरोध न होनेपर भी द्वितीय, तृतीय, पञ्चम और षष्ठ प्रमाणोंका त्याग करना पड़ेगा।

पञ्चम प्रमाणको शुद्ध कहनेसे यद्यपि प्रथम, तृतीय और षष्ठ प्रमाणके साथ विरोध नहीं होता, तथापि द्वितीय और चतुर्थ प्रमाणोंका त्याग करना पड़ेगा।

षष्ठ प्रमाणको शुद्ध कहनेसे यद्यपि प्रथम, तृतीय और पञ्चम प्रमाणके साथ विरोध नहीं होता, तथापि द्वितीय और चतुर्थ प्रमाणोंका त्याग करना पड़ेगा।

इन प्रमाणोंमें प्रत्येक प्रमाण ही भिन्न-भिन्न पक्षोंकी विरुद्ध युक्तियोंके ऊपर किस प्रकार आक्रमण योग्य है, इसकी भी पर्यालोचना करना आवश्यक है। श्रीमध्वाचार्यके स्वरचित ग्रन्थमें प्रस्तर-पटल या फिर प्रथम प्रमाणमें उक्त विलम्बी वर्षका उल्लेख नहीं है। पूर्व मठकी तालिकामें शकका उल्लेख न होनेसे, स्मृत्यर्थसागर नामक प्रसिद्ध स्मृतिमें लिखित शकके साथ पार्थक्य होनेसे, श्रीमन्मध्वाचार्यके स्वलिखित कालके साथ पार्थक्य होनेसे, प्रस्तर-पटलका मिथ्यत्व सिद्ध नहीं होनेसे एवं ऐतिह्यके विरुद्ध होनेसे अर्थात् इन पाँच कारणोंसे शक १०४० श्रीमध्वाचार्यका आविर्भावकाल है यह सिद्ध नहीं होता। श्रीमध्व-लिखित तात्पर्य-निर्णय ग्रन्थमें दो स्थानोंमें कालका जो वर्णन किया गया है, उसके प्रक्षिप्त होने (बादमें जोड़ेजाने) की सम्भावना होनेके कारण अथवा अर्थान्तर योग्यताके क्रमसे ४३०० कल्याब्द लोककथित विलम्बी वर्ष नहीं होनेसे और सूक्ष्म अध्ययन करनेपर लेखकके

कालके विषयमें यथार्थ उपलब्धि नहीं होनेसे उसे प्रमाणके रूपमें ग्रहण नहीं किया जा सकता।

यदि स्मृत्यर्थसागर ग्रन्थके रचनाकाल अर्थात् लोककथित विलम्बी वर्षमें श्रीमध्वका जन्म हुआ यह मानकर अनुमानसे ११०० शकाब्दके विलम्बी वर्षको श्रीमध्वाचार्यका जन्मकाल मानें, तो प्रस्तर-पटलका मिथ्यत्व सिद्ध नहीं होनेसे एवं मध्व-लिखित तात्पर्य-निर्णय कालके साथ उसका विरोध होनेसे इतिहासके साथ सामञ्जस्यके अभाववशतः इसे सत्य रूपमें ग्रहण नहीं किया जा सकता। पञ्चम प्रमाणके विरोधमें विचार करें तो प्रस्तर-पटल ही एकमात्र प्रमाण दिखायी देता है और प्रस्तर-पटलकी भाषाके प्राकृत अर्थके विपर्यय होनेकी सम्भावना रहनेसे उसे निर्विवादी ध्रुव सत्यके रूपमें ग्रहण नहीं किया जा सकता। ऐतिह्यमें नाना प्रकारकी सापेक्षकता होनेके कारण उसमें नाना प्रकारके भ्रमके प्रवेश करनेकी सम्भावना रहती है, इसलिए उसे भी ध्रुव सत्य नहीं कहा जा सकता। जैसे भी हो, इन प्रमाणोंपर अविश्वास करनेकी नाना प्रकारकी युक्ति होनेपर भी इन प्रमाणोंकी निरपेक्ष भावसे आलोचना करनेपर यही सिद्ध होता है कि श्रीमध्वाचार्यने ११६० शकाब्दमें विलम्बी वर्षमें जन्म-ग्रहण किया था। यही जन्मकाल नव्य मठ तालिका या स्मृत्यर्थ-सागरके प्रमाणोंका विरोधी होनेपर भी अन्य चार प्रकारोंके प्रमाणोंका विरोधी नहीं है।

पक्षान्तरमें १०४० और ११०० शकाब्द—ये दोनों पक्ष श्रीमध्वाचार्यकी निज लेखनीके प्रतिकूल हैं। ११६० शकाब्दको आचार्यका जन्मकाल माननेसे अन्य चार प्रमाण उसका समर्थन करते हैं। किन्तु १०४० और ११०० शकाब्दके पक्षमें केवल प्रथम प्रमाणमें विलम्बी वर्षके उल्लेखके अतिरिक्त अन्य कोई निरपेक्ष प्रमाण नहीं देखा जाता। ११६० शकाब्द विलम्बी वर्ष है। श्रीमध्व-लिखित ११२१ शकाब्दके पश्चात् ११६० शक। यदि ११६० शकमें श्रीमध्वाचार्यका जन्म मानें तो उनके द्वारा

१२०३ शकमें नरहरितीर्थको संन्यास देनेकी बात तर्कसङ्गत बैठती है और उनसे संन्यास ग्रहण करनेवाले अक्षोभ्यतीर्थ, विद्यारण्य और वेदान्तदेशिकके समसामयिक होनेमें कोई विरोध नहीं है। इतिहास और प्रस्तर-पटलके अभावमें पूर्व-पूर्व विलम्बी वर्षोंपर निर्भर करना स्वाभाविक है और इन दो प्रमाणोंकी सहायता होनेसे ११६० शकाब्दको ही निश्चित रूपसे श्रीमध्वाचार्यका जन्मकाल कहा जा सकता है।

श्रीमध्व वायुके तृतीय अवतार—आचार्य श्रीमत् पूर्णप्रज्ञपादने श्रीब्रह्मसूत्रके द्वितीय अध्यायके चतुर्थ पादके त्रयोदश सूत्रके—(ॐ! पञ्चवृत्तिर्मनोवद्व्यपदिश्यते॥ ॐ॥)—भाष्यमें वायुरूपके विषयमें जिन सभी प्रमाण वाक्योंको उद्धृत किया है, उनसे जाना जाता है कि विद्युत्-लोकमें या वायुलोकमें प्रधान वायु या मुख्य प्राण विराजमान है। ये मुख्य प्राण पाँच प्रकारके हैं—(१) प्राण, (२) अपान, (३) व्यान, (४) उदान और (५) समान। 'भारती' नामक देवीके गर्भसे उत्पन्न पाँच पुत्र भी 'प्राण', 'अपान', 'व्यान', 'उदान' और 'समान' के नामसे विख्यात हैं। मुख्य प्राण वायुके इन पाँच पुत्रोंमें अन्यतम प्राण ही 'नासिका वायु' के नामसे जानी जाती है। यह 'नासिका वायु' ही अष्टदिक्पालोंमें अन्यतम दिगाधिपति है। इसी 'नासिका वायु' से अनन्त वायुओंकी उत्पत्ति हुई है। इन वायुओंमें उनचास वायु प्रधान हैं। पहले जिन मुख्य प्राणसे उत्पन्न प्राण, अपानादि पाँच वायुओंका उल्लेख किया गया है, वे ही प्रधान वायुके नित्य अवतार हैं अर्थात् ये ही सभी युगोंमें प्रधान वायुके अवतारके रूपमें प्रसिद्ध हैं। इसके अतिरिक्त किसी विशेष युगमें प्रधान वायुके तीन प्रधान अवतारोंकी बात सुनी जाती है।[१] जैसे—त्रेतायुगमें हनुमान, द्वापरयुगमें श्रीभीमसेन एवं कलियुगमें

[१] प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान—ये सभी मुख्य प्राणके दास हैं। कौण्डिन्य श्रुतिमें कहा गया है—'इनमें मुख्य प्राण ही सम्राट है।' यह युक्ति वायुपुराणमें उक्त है—'प्राण, अपान आदि सभी मुख्य प्राणके दास हैं, क्योंकि मुख्य प्राण सबको शान्त कर देता है अर्थात् जब मुख्य प्राण शरीरसे चला

श्रीमध्वाचार्य। इस प्रकार श्रीमध्वाचार्य प्रधान वायु या मुख्य प्राणके तृतीय अवतार हैं। इस सम्बन्धमें श्रीमन्मध्वाचार्यपादने स्वरचित 'महाभारत-तात्पर्य-निर्णय', 'सूत्रभाष्य', 'तैत्तिरीयभाष्य', 'ऐतरेय-भाष्य', 'अनुव्याख्यान' आदि बहुत-से ग्रन्थोंमें स्वयं ही उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त तत्त्ववादी-सम्प्रदायके अधःस्तन शिष्य-परम्पराके आचार्योंने विशेषतः 'द्वितीय-मध्वाचार्य' के नामसे प्रसिद्ध श्रीवादिराजस्वामीने स्वरचित 'युक्तिमल्लिका' ग्रन्थके फलसौरभमें ४९८-७२० श्लोकोंमें श्रीमध्वाचार्यके वायुके तृतीय अवतार होनेके सम्बन्धमें अनेकानेक वेदवाक्योंका प्रमाण देकर उनकी मध्वपर व्याख्या और विचार प्रदर्शित किया है। यहाँ संक्षेपमें श्रीमन्मध्वाचार्य वायुके अवतार हैं, इस सम्बन्धमें कतिपय वेदोंके प्रमाण और वाक्य-तात्पर्य व्याख्यासहित दिये जा रहे हैं।

ऋग्वेदके षष्ठाष्टकके सातवें अध्यायके षोडश वर्गसे आरम्भकर सम्पूर्ण षष्ठाष्टक अर्थात् षष्ठाष्टकके आठवें अध्यायके अन्त तक एवं सातवें अष्टकके प्रथमसे पञ्चम अध्याय तक एक साथ और सप्तम अध्यायके कुछ सूत्र 'पवमान-सूक्त' के नामसे प्रसिद्ध हैं। 'स्वादिष्टयामदिष्टया'—इस ऋग् मन्त्रसे आरम्भकर 'पवमान-सूक्त' कहा जाता है। 'पवमान' शब्दका अर्थ 'वायु' है। यथा अमरकोषके अनुसार—'पवमानश्च वायुरिति नभस्वद्वातपवनपवमान

जाता है, तब बाकी सब भी चले जाते हैं। इसलिए मुख्य प्राणकी आज्ञासे ही प्राण, अपान आदि अपने-अपने कर्मोंको नित्य ही किया करते हैं।' प्राण, अपान आदि पाँच प्रकारके प्राण मुख्य प्राणके ही स्वरूप हैं। गौपवन श्रुतिमें कहा गया है—'वह मुख्य प्राण ही प्राणियोंके देहमें पाँच प्रकारसे रहता है।' अतएव कहा जाता है—'इस प्रकार मुख्य प्राण पाँच वृत्ति द्वारा प्रवर्त्तत होता है। उसका पाँच प्रकार—प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान हैं।' इनसे पाँच दास उत्पन्न होते हैं—प्राणसे प्राण, अपानसे अपान, व्यानसे व्यान, उदानसे उदान, समानसे समान। जिस प्रकार कहा गया है—'मन पाँच नामोंसे जाना जाता है—मन, बुद्धि, अहङ्कार, चित्त और चेतन। इनसे पाँच दास उत्पन्न होते हैं—मनसे मन, बुद्धिसे बुद्धि, अहङ्कारसे अहङ्कार, चित्तसे चित्त तथा चेतनसे चेतन ही उत्पन्न होता है।' इत्यादि।

प्रभञ्जनाः।' इस पवमान-सूक्तमें मूल वायु और उनके अवतारके सम्बन्धमें स्तुति सुनी जाती है। नीचे ऋग्के सभी प्रमाण तात्पर्यके साथ उद्धृत किये जा रहे हैं—

प्रधारा मध्वो अग्रियो महीरपो विगाहते। हवि र्हविषु वन्द्यः॥ १॥

अग्रियः (देवाग्रणीः) हविः (प्रलये विष्णोर्हविर्भूतः) हविषु (विष्णोराहुतिभूतेषु देवेषु) वन्द्यः (स्तुत्यः) गुरुत्वेनेति शेषः। मध्वः (मध्वाचार्यः) प्रधाराः (उत्कृष्टज्ञानाख्य धारावत्यः) महीः (महत्यः) अपः (आप्तिसाधन ऋगादि सप्तविद्याः) विगाहते (अर्थविचारायावगाहते) अन्यार्थस्तु। अग्रियः (बदरीगमने अग्रेसरः) हविः (व्यासेनाहूतः) हविषु (स्वेनाहूतशिष्येषु) वन्द्यः (स्तुत्यः) मध्वः (मध्वाचार्यः) प्रधाराः (प्रकृष्ट जलधाराः) महीः (महत्यः) अपः (गङ्गादिनदीजलानि) विगाहते (अवगाहते)॥ १॥

प्रलयकालमें सङ्कर्षणाख्य विष्णुकी आहूतिस्वरूप देवोंमें उत्तम मध्वाचार्य श्रीविष्णुके आहुति-भूत देवोंमें वन्दनीय हैं अर्थात् गुरुके रूपमें स्तवनीय हैं। वही श्रीमध्वाचार्य उत्कृष्ट ज्ञानरूपी नदीके समान हैं, जिनमें मोक्ष प्राप्तिके महान साधन ऋगादि सप्तविद्या विचारके लिए अवगाहन करती हैं। अन्य अर्थ—बदरीकाश्रम जानेवालोंमें अग्रणी, व्यास द्वारा बुलाये गये आत्माहूत शिष्योंमें वन्दनीय अर्थात् सर्वश्रेष्ठ गुरुरूपमें पूजित मध्वाचार्य विशिष्ट महिमायुक्त गङ्गादि नदीकी धारामें अवगाहन करते हैं॥ १॥

अस्मभ्यमिन्द विद्रयूर्मध्वः पवस्वधारया।
पर्ज्जन्यो वृष्टिमां इव॥ २॥

हे इन्दो! (इष्टदानशील वायो,) इन्द्रयुः (इन्द्रं ऐश्वर्यपूर्णविष्णुं युनक्तीति सुजनेषु योजयतीति इन्द्रयूः) मध्वः (मध्वाख्यस्त्वं) वृष्टिमां (वृष्टि दाता) पर्जन्य इव (मेघ इव) अस्मभ्यं (अस्मानुद्दिश्य) धारया (ज्ञानधारया) सह पवस्व (पवनं सञ्चारं कुरु) यद्वा पवस्व (पवित्री कुरु)॥ २॥

“हे मनोभीष्ट प्रदान करनेवाले वायुदेव! आप परम ऐश्वर्यपूर्ण विष्णुके साथ सज्जनोंका सम्बन्ध जोड़ देते हैं अर्थात् सज्जनोंमें सम्बन्धज्ञान उत्पन्न करते हैं। आपका नाम मध्व है। वर्षणकारी मेघकी भाँति आप हम लोगोंके प्रति ज्ञानकी धारा वर्षणकर सर्वत्र विचरण करें अर्थात् उसके द्वारा हमें पवित्र करें॥”२॥

स पूर्व्यः पवते यं दिवस्परिश्येनो मथायदिषित स्तिरोरजः।
स मध्व आयुवते वेविजान इत् कृशानो रस्तुर्मनसा ह विभ्युषा॥३॥

पूर्व्यः (सर्वजीवेषु पूर्वतनः) सः (वायुः) पवते (सर्वदेहेषु श्वासरूपेण सञ्चरते) यं (वायुं) दिवः (द्यु नामक वैकुण्ठादिलोकस्य) परि (परितः) वदन्तीति शेषः—श्येनः (शी सुखरूपी विष्णुः इनः प्रभुः यस्य सः) इषितः (सज्जनेष्टः) वायुः रजः (धूलीः) तिरः (तिरस्कृत्य) मथायत् (वृक्षादि मथनंकृतवान्) यद्वा श्येनः इषितः सः (वायोरवतारः) मध्वः (मध्वाचार्यः) रजः(रजोगुणनिर्मितं उपलक्षणया तमो गुण निर्मितं च) दुर्भाष्यादिकं तिरः (तिरस्कृत्य) वेविजानः (विज पृथग्भावे, ईश्वर-जीव-जड़ान् पृथक्कुर्वन्) आयुवते (सज्जनेषु मिश्री भवति) इत् (इत्थमेव) विभ्युषा (भयङ्करेण) मनसा (चित्तेन) कृशानोः (प्रलयाग्नेः)अस्तु (निरसनशीलः) ह (प्रसिद्धः)॥३॥

समस्त जीवोंके अन्दर पूर्वतन वह वायु जीवोंकी सम्पूर्णदेहमें श्वास रूपसे सञ्चारित है। पुनः वही वायु ही मूल स्वरूपमें शुद्ध-मुक्त भावसे वैकुण्ठादि लोकोंमें सर्वत्र विराजमान है। सुखरूपी विष्णुके द्वारा नियमित, सज्जनगणोंके प्रिय वायुदेवने धूलि-पटलको दूरकर वृक्षादि महत्-वस्तुओंका तीव्र सञ्चालन किया (तीव्रतासे हिला दिया) था। अन्य अर्थ—आनन्दस्वरूप विष्णुके द्वारा परिचालित, सज्जनगणोंके द्वारा अभिलषित वायुके अवतार श्रीमन्मध्वाचार्यने रजो-तमोगुणके द्वारा निर्मित दुर्भाष्यादिका खण्डनकर ईश्वर, जीव और जड़में शुद्ध-पञ्च-भेदवादरूपी सिद्धान्तका स्थापनकर सज्जनोंका आनन्द विधान किया है। श्रीमन्मध्वाचार्यने जिस प्रकार अपने प्रबल पराक्रमसे जगन्नाशकारी दुर्भाष्यादिका खण्डनकर जगत्में

पुनः शान्तिका विधान किया है, उसी प्रकार प्रलयकालमें वायुदेव भयङ्कर मूर्त्ति धारणकर प्रलयाग्निको बुझा देते हैं॥ ३॥

उन्मध्व ऊर्मिर्वनना अतिष्ठदपो वसानो महिषी विगाहते।
राजा पवित्ररथो वाजमारुहत् सहस्र भृष्टिर्जयति श्रवोवृहत्॥ ४॥

वसानः (भूमो वासं कुर्वन) ऊर्मिः (ऊर्ध्वा मिः मतिर्यस्य सः) महिष्यः (सकलाधिकारिषु श्रेष्ठः) मध्वः (मध्वाचार्यः) वननाः (भजनीयाः) अप (आपयन्ति ज्ञापयन्ति परमात्मानमिति व्यूतपत्या अप्पदवाच्याः ऋगादि विद्याः) विगाहते (विचारयति) पवित्ररथः (पवित्रं सुदर्शनचक्रं रथो रथ इव यस्य चक्रोपरिस्थित इति यावत्) सहस्र भृष्टिः (सहस्रधाव्याप्तकिरण भ्रस्ज पाके इति धातुः। सुदर्शनरूपी नारायणः) यस्य मध्वस्य राजा (नियामकः) वृहत् (सर्वेभ्यः उत्कृष्टम्) वाजं (अन्नवत् प्रियं) श्रवः (मध्वाचार्यकृतं व्यासमुखाच्छास्त्रश्रवणं) आरुहत् (आरोहणं कृतवान् तत्र सन्निहितो भूदिति यावत्) जयति (उत्कृष्टो वर्णने)॥ ४॥

परम बुद्धिमान, समस्त सूरियों (देवताओं) में श्रेष्ठ श्रीमन्मध्वाचार्य भूमण्डलमें अवतरित होकर ऋगादि विद्याका विचारकर समस्त जीवोंके सेव्य भगवान् श्रीविष्णुकी प्राप्तिकी साधनाके मार्गका निर्देशन करते हैं। जिनके सुदर्शनचक्रका किरणमण्डल सहस्रों दिशाओंमें परिव्याप्त है, वे सुदर्शनरूपी नारायण, ही इन मध्वाचार्यके नियामक हैं। जिस प्रकार अन्न प्राणोंको प्रिय है उसी प्रकार वे विष्णु भी प्राणवायु, मध्वको प्रिय हैं। (श्रीमध्वाचार्य श्रीव्यासदेवके मुखसे) शास्त्र-श्रवणरूपी उत्कृष्ट सेवामें संलग्न होकर सर्वोत्कृष्ट रूपमें विराजमान हो रहे हैं अर्थात् श्रीमध्वाचार्यने जिस प्रकार श्रीव्यास गुरुसे श्रौतपन्थाका अनुसरणकर शास्त्रोंका श्रवण किया, वह मार्ग ही परम उत्कृष्ट और अन्नकी भाँति पुष्टि, तुष्टि और भवक्षुधानिवृत्ति-कारक अर्थात् जागतिक सब प्रकारकी कामनाओंको शान्त कर देनेवाला है। श्रीमध्वाचार्यके उस शास्त्र श्रवणकालमें सुदर्शनरूपधारी भगवान् विष्णु स्वयं वहाँ अधिष्ठित थे। तात्पर्य

यह है कि श्रौतपन्थामें किस प्रकारके कुसिद्धान्त अथवा मायाका प्रभाव नहीं है। वहाँ साक्षात् सुदर्शनरूपी परमब्रह्म सुदर्शनचक्रपर आरूढ़ होकर शब्दब्रह्मके रूपमें विराजमान रहते हैं। इस श्रौतवाणीका श्रवण करनेसे ही जीवोंको सब प्रकारका मङ्गल प्राप्त होता है॥ ४॥

सप्तस्वसृररुषीर्वावशानो विद्वान् मध्व उज्जभारादृशे कम्।
अन्तर्येमे अन्तरिक्षे पुराजा इच्छन् बव्रि मविदत् पूषणस्य॥ ५॥

वावशानः (अतिशयेन दीप्यमानः) कं (आनन्दरूपं विष्णुं) विद्वान् (साक्षात् पश्यन्) मध्वः (मध्वाचार्यः) अरुषीः (रोषादिदोष-विरुद्धगुणदाः। प्रलये भगवद्तिरिक्त ऋषिरहिताः)। स्वसृः (स्वतन्त्र भगवत् सृताः) सप्त (ऋग्यजुः-सामाथर्व पञ्चरात्र-पुराण भारताख्य-सप्त विद्याः) दृशे (तत्त्वज्ञानाय) उज्जभार (ऊर्द्धं जहार) अप्रमाणत्व-पौरुषेयत्व मिथ्यात्वातत्वावे-दकत्वादिनाधःपतिताः अपौरुषेयतत्त्वावेदक—प्रमाणत्वेन साधयामासेति यावत्) पूषणस्य (पूर्ण षड़गुणस्य विष्णोः) बव्रिं (वरणं प्रसादं) इच्छन् (वाञ्छन् मध्वः) अन्तरिक्षे (अव्याकृताकाशे) पुरा (सृष्टेः पूर्वमेव) जाः (अभिव्यक्ताः) विद्याः अविदत् (ज्ञातवान्) अन्तः (साधुनां हृदयान्तः) येमे (नियमयत्) प्रेरयामासेति यावत्॥ ५॥

अत्यन्त दीप्तिमान, आनन्दस्वरूप श्रीविष्णुके प्रत्यक्ष दर्शन करनेवाले श्रीमन्मध्वाचार्यने रोष आदि दोषोंके विरुद्धगुणोंको प्रदान करनेवाली अथवा प्रलयकालमें भगवदतिरिक्त ऋषिरहिता स्वप्रकाश-भगवत्-श्रीमुखसे निकली हुई ऋक्-यजुः-साम-अथर्व-पञ्चरात्र-पुराण-महाभारत आदि सप्तविद्याको जीवोंको तत्त्वज्ञान प्रदान करनेके लिए आकाशमें स्थापित किया था। सृष्टिके पूर्व श्रीमध्वाचार्य पूर्ण-षड्गुणविशिष्ट विष्णुकी कृपाकी अभिलाषाकर गुप्त या कारण रूप आकाशमें प्रकाशित विद्यासे अवगत हुए थे और उन्होंने साधुओंके अन्तःकरणमें उस विद्याको प्रदान किया था॥ ५॥

विष्टम्भो दिवो धरुणः पृथिव्याः विश्वा उतक्षितयो हस्ते अस्य।
असत्त उत्सो गृणते नियुत्वान् मध्वो अंशुः पवते इन्द्रियाय॥ ६॥

हे वायो, दिवः (स्वर्गस्य) विष्टम्भः (आधारभूतः) पृथिव्याः (भूलोकस्य) धरुणः (धारणशीलः) उत्सः (हरिस्तुतिकरणे उत्सुकः) नियुत्वान् (नितरां हरिविषयक योगवान्) युत् योगे इतिधातुः। ते (तव) अंशुः (मूलरूपांशः) मध्वः (मध्वाचार्यः) असत् (दुर्ज्जनागम्यं परंब्रह्म) गृणते (स्तौति) इन्द्रियाय (इन्द्रियाणां चलनाय) पवते (सर्वप्राणिशरीरेषु सञ्चरति) यद्वा इन्द्रियाय (सज्ज्नवागिन्द्रियाय) पवते (देशे देशे सञ्चरति) अस्य (मध्वस्य) हस्ते (करे) विश्वाः (समस्ताः) क्षितय उत (लोकाश्च) वर्त्तन्त इति शेषः॥ ६॥

हे वायो! स्वर्गके आधारभूत, पृथ्वीको धारणकरनेवाले, भगवत्-स्तुति कार्यमें उत्सुक, निरन्तर श्रीहरिसेवामें नियुक्त मध्व तुम्हारे मूलरूपके अंशस्वरूप हैं। मध्व दुर्जनोंकी बुद्धिके अगम्य परमब्रह्मकी स्तुति करते हैं। वे समस्त प्राणियोंकी इन्द्रियोंको भगवत्-सेवामें लगानेके लिए उनके शरीरोंमें सञ्चरण करते हैं अथवा सज्जनोंकी वाग्-इन्द्रियको भगवत्-कीर्त्तनमें लगानेके लिए स्थान-स्थानपर विचरण किया करते हैं। श्रीमध्वाचार्यके हाथोंमें समस्त लोक विराजमान हैं अर्थात् वे जगद्गुरु गोस्वामी हैं॥ ६॥

सिंहं नसन्त मध्वो अयासं हरिमरुषं दिवो अस्य पतिम्।
शूरो युत्सुः प्रथमः पृच्छते गा अस्य ढक्षसा परिपात्युक्षा॥ ७॥

यत्सुः (वाग्युद्धेषु) शूरः (शौर्यवान्) प्रथमः (जीवेषु प्रथमः) मध्वः (मध्वाचार्यः) अस्य (सुजनस्य) दिवः (ज्ञानस्य) पतिं (अधिपतिं) अरुषं (भक्तेषु कोपरहितं) अयासं (स्तम्भादागतं) हरिं (दुर्जनसंहारकं) नसन्त (विवृत नासापुटं, सुपांसु लुगिति सूत्रेण सुलोपः) सिंहं (नरसिंहं) गाः (ऋगादि विद्याः) पृच्छते (शिष्यो भूत्वा अर्थविशेषं पृच्छति) अस्य (नरसिंहस्य) चक्षसा (ज्ञानचक्षुषा) उक्षा (ज्ञानप्रोक्षणं कुर्वन् मध्वः) परिपाति (सज्जमान् परिप्याति)॥ ७॥

वागयुद्धमें प्रबलवीर, नरोंमें श्रेष्ठ मध्वाचार्यने सज्जनोंके ज्ञानके अधिपति, अपने भक्तोंके प्रति क्रोधरहित, स्तम्भसे प्रकटित, विस्तारित नासापुटवाले, दुर्जन-संहारक श्रीनृसिंहदेवके निकट शिष्यत्व स्वीकार करके ऋगदि विद्याकी शिक्षा प्राप्त की। उन श्रीनृसिंहदेवकी कृपादृष्टिके द्वारा ज्ञान प्राप्तकर श्रीमन्मध्वाचार्य उसका प्रचारकर सज्जनोंका सर्वतोभावेन पालन करते हैं॥७॥

इदं ते पात्रं सनवित्तमिन्द्र पिवासोममेना शतक्रतो।
पूर्ण आहावो मदिरस्य मध्वो यं विश्व इदभि हर्यन्ति देवाः॥८॥

हे शतक्रतो, (अपरिमितज्ञानपूर्ण) इन्द्र (परमैश्वर्यपूर्ण भगवन्) सनवित्तं (दानयोग्य वैराग्य-ज्ञानभक्त्यादि वित्तवत्) इदं (वक्ष्यमाणं) ते (तव) पात्रं (सन्निधानयोग्यं स्थानं) एन (अनेन) दत्तमिति शेषः। सोमं (सोमरसं) पिव (पानं कुरु) मदिरस्य (मत्तः ईरणं प्रेरणं यस्य सः वेदोत्पन्नज्ञानस्येत्यर्थः)। पूर्णः (परिपूर्णः) आहावः (आ समन्तात् हावः ज्ञानहवनं यस्मात् सः) मध्वः (मध्वाचार्यः) इदं ते पात्रमिति पूर्वेण सम्बन्धः। यं (मध्वं) विश्वे (सर्वे) देवाः (सुराः) इत (इत्थं) अभि (अभितः) हर्यन्ति (ज्ञानरससंग्रहाय प्राप्नुवन्ति)॥८॥

हे अपरिमित-ज्ञानवान्-परमेश्वर्यपूर्ण भगवन्! दान-योग्य-वैराग्य-ज्ञान-भक्ति आदिके धनी श्रीमध्वका हृदय आपका रहने योग्य स्थान है। आप मध्वके द्वारा प्रदत्त सोमरसका पान करें। ये मध्वाचार्य वेदसे उत्पन्न ज्ञानके द्वारा परिपूर्ण हैं। ये सज्जनोंको ज्ञानोपदेश दिया करते हैं। निखिल देवता ज्ञानरसको प्राप्त करनेके लिए श्रीमध्वाचार्यका आश्रय ग्रहण करते हैं॥८॥

मध्वो वो नाम मारुतं यजत्राः प्रयज्ञेषु शवसा मदन्ति।
ये रेजयन्ति रोदसी चिदुर्वी पिन्वन्त्युत्सं यदयासुरुग्राः॥९॥

मरुत्सूक्ते वेद पुरुषः वाय्ववतारान् प्रार्थयते। यत् (यस्मात्) उग्राः (क्रूराः) हे वाय्ववताराः, उर्वी (उर्वीं भूमिमिति यावत्) अयासुः (आजग्मुः) तस्मात् उत्सं (स्वसे वोत्सुकं पुरुषं) पिन्वन्ति (भाग्यसेचनेन रक्षन्ति) ये चित् (ये केचित्) उर्वी (उत्कृष्टे)

रोदसी (द्यावापृथिव्यौ) रेजयन्ति (राजयन्ति) प्रकाशयन्तीति यावत्। तेषु अवतारेषु वः (भवत्सम्बन्धी) मध्वो नाम (मध्वाख्यावतारः) तं मारुतं (मुख्यवाय्ववतारं मध्वाचार्यं) यजत्राः (याजकाः) शवसा (स्तोत्रेण) प्रमदन्ति (सन्तोषयन्ति) यद्वा यजत्राः (यजमान ऋत्विक सभ्याः) शवसा (कठिनार्थकर्मनिर्णय व्याख्यात ब्राह्मणखण्डार्थदर्शन-सुखेन) प्रमदन्ति (मद-युक्ता भवन्ति)॥ ९॥

मरुत्सूक्तके द्वारा वेदाभिमानी देवता वायुके अवतारोंकी स्तुति कर रहे हैं—हे उग्रवायु-अवतारगण! जिस कारणसे आपलोग इस प्रपञ्चमें अवतरित हुए हैं, आपकी सेवाके लिए उत्कण्ठित पुरुषोंको कृपापूर्वक वही प्रसाद वितरणकर उनकी रक्षा करें। वायुके जो अवतार स्वर्ग एवं मर्त्य दोनों लोकोंको प्रकाशित करते हैं, उनमें विष्णु सम्बन्धी 'मध्व' नामक अवतार अन्यतम हैं। भक्तगण उन मुख्य वायुके अवतार श्रीमध्वाचार्यका स्तोत्रोंके द्वारा सन्तोष विधान किया करते हैं अथवा ऋत्विकगण मध्वाचार्यके द्वारा रचित 'कर्मनिर्णय' ग्रन्थकी व्याख्यामें 'ब्राह्मण-खण्डार्थ' का दर्शनकर आनन्दित होते हैं॥ ९॥

तदस्य प्रियमभिपाथो अश्यां नरो यत्र देवयवो मदन्ति।
उरुक्रमस्य सहि बन्धुरित्था विष्णोः परमे मध्व उत्सः॥ १०॥

प्रियं (सर्वमुनिप्रियं) तत् (प्रसिद्धं) अस्य (नारायणस्य) अभिपाथः (सर्वाङ्गेषु अभिषिक्तं जलं) नरः (मनुष्यः अहं) अश्यां (प्राशनं कुर्यां) यत्र (तीर्थे) देवयवः (ब्रह्मादि देवाः) मदन्ति (हर्षं कुर्वन्ति) परमे (उत्तमे) विष्णोः (नारायणस्य) पदे (पादे) उत्सः (उत्सुकः) सः मध्वः (से मध्वाचार्यः) इत्था (पूर्वोक्तरीत्या) उरुक्रमस्य (उत्कृष्ट पाद निक्षेपवतः त्रिविक्रमस्य) बन्धुर्हि (पुत्रतया शिष्यतया च बन्धुरेव)॥ १०॥

सभी सज्जनोंके प्रिय त्रिविक्रम-विष्णुके पादोदकको नररूपी मैं पान करनेकी अभिलाषा करता हूँ। भगवान् उरुक्रमके पदाघातसे इस ब्रह्माण्डका आवरण फटनेसे ब्रह्मादि देवता भी आनन्दका

अनुभव किया करते हैं। विष्णुके उस परम पदके प्रति अनुरक्त मध्वाचार्य ब्रह्मादि प्रमुख देवताओंकी भाँति त्रिविक्रमदेवकी परम प्रीतिके पात्र हैं॥ १०॥

बलित्था तद्वपुषे धायि दर्शतं देवस्य भर्गः सहसो यतो जनि।
यदीमुहवरते साधते मति ऋतष्य धेना अनयन्त सस्रुतः॥ ११॥

सहसः (बलपूर्णस्य) देवस्य (वायुदेवस्य) वट् (बलात्मकं) दर्शतं (दर्शेन ज्ञानेन त तं व्याप्तं) भर्गः (भरणगमन शीलं) तत् (मूलरूपं) यतः (यस्मात् विष्णोः) अजनि (उत्पन्नमभूत्) इत्था (इत्थमेव मूलरूपवदेवेति यावत्) वपुषे (अवताररूपाय) धायि (अधायि) प्रथमावतारं हनुमन्तं स्तौति। यदीं (य एव) मतिः (मतिमान् हनु शब्दस्य ज्ञानवाचित्वात् मतिमान् हनुमान्) उप (रामसमीपे) ह्वरते (सञ्चरते) ह्वर क्रीड़ा कौटिल्ययोरिति धातुः रामसीपे कुटिलः नम्रीभूय तिष्ठति। साधते (रामकार्याणि साधयति) ऋतस्य (ज्ञानरूपस्य अरण्यवासे सत्य प्रतिज्ञस्य वा रामस्य) सस्रुतः (अमृतस्राविणीः) धेनाः (सज्जनपोषणकर वाचः) अनयन्त (आनीतवान्)॥ ११॥

जिस प्रकार विष्णुसे उत्पन्न प्रधान वायु या मुख्य प्राण ज्ञानबल और देहबलसे युक्त है, उसी प्रकार बलशाली वायुदेवके अवतारोंमें भी ज्ञानबल और देहबल सञ्चारित हुआ है अर्थात् अवतारीके गुण अवतारोंमें भी प्रविष्ट हैं। इसके द्वारा प्रधान वायुके प्रथम अवतार श्रीहनुमानकी स्तुति कर रहे हैं। ये हनुमान रामसेनामें विशेष बुद्धिमान हैं; ये सदा श्रीरामचन्द्रजीके समीप बड़े विनम्र भावसे अवस्थान करते हैं और उनकी सेवामें ही संलग्न रहते हैं। ये हनुमान ही सत्यप्रतिज्ञ श्रीरामचन्द्रजीकी अमृतवर्षणी, सज्जनपोषणकारिणी वाणी (सन्देश) को सीताजीके समीप ले गये थे॥ ११॥

पृत्क्षो वपुः पितुमान्नित्य आशये द्वितीयमासप्तशिवासु मातृषु॥ १२॥

वायोर्द्वितीयावतारं भीमसेनं स्तौति। पृत्क्ष इति। अस्य (वायोः) पृत्क्षः (कौरवपृतनाक्षयकारि) द्वितीयं (हनुमदपेक्षया द्वितीयं) वपुः (भीमसेनरूपं) पितुमान् (वह्वान्नं भोक्तां) पितुरित्यन्नमितिश्रुतिः। नित्यः (नित्य ज्ञानत्वात् नित्यः) सप्त (सप्तसंख्यासु) शिवासु (मङ्गलासु) मातृषु (मीयन्ते अर्थाः आभिरिति मातृशब्दवाच्यऋगादिषु) आ (समन्तात्) शये (शेते) सर्वत्र विमर्शनं करोति इति यावत्॥ १२॥

वायुके द्वितीय अवतार भीमसेनकी स्तुति कर रहे हैं— कौरवसेनाको ध्वंस करनेवाले भीमसेन वायुके द्वितीय अवतार हैं। वे अतिभोजी हैं। वे नित्य ही ज्ञानवान हैं। वे सर्वमङ्गलप्रदायिनी सप्त-ऋगादि विद्याका सदैव चिन्तन किया करते हैं॥ १२॥

तृतीयमस्य ऋषभस्य दोहसे दशप्रमतिं जनयन्त योषणः।
निर्यदीं बुध्नान्महिषस्य वर्पस ईशानासः शवसाक्रन्त सूरयः।
यदीमनु प्रदिवो मध्वआधवे गुहासन्तं मातरिश्वा मथायति॥ १३॥

वायोस्तृतीयावतारं मध्वं स्तौति। ऋषभस्य (श्रेष्ठस्य) अस्य (वायो) तृतीयं वपुः (तृतीयावतारं) योषणः (वेदाभिमानि श्रीभूदुर्गाख्याः योषितः) दोहसे (ज्ञानदोहाय) दशप्रमतिं (पूर्णप्रज्ञनामकं) दशेतिपूर्णमुद्दिष्टं प्रमतिर्ज्ञानमुच्यते इति कोशः। जनयन्त (अजनयन्त)। बुध्नात् (ज्ञानरूपात्) यत् (यस्मात् मध्वात्) ईं (हत्थं) ईशानासः (ईशानाद्याः) सूरयः महिषस्य (सर्वोत्तमस्य नारायणस्य) वर्पसः (वरणीयत्वात् पालकत्वात् वर्पीनामकान् गुणान) शवसा (स्तोत्रेण) निराक्रन्त (क्रन्दिगति शोषणयोरिति धातोः नितरामजानन्) यत् (यस्मात्) प्रदिवः (प्रकृष्टज्ञानप्रकाशवान्) मध्वः (मध्वाख्यः) मातरिश्वा (वायुः) अनु (जन्मानन्तरमेव) गुहासन्तं (हृदयं गुहायां विद्यमानं नारायणं) आधवे (आ समन्तात् धवे पतित्वे) मथायति (वेदशास्त्रादि मथनं करोति)॥ १३॥

वायुके तृतीय अवतार मध्वाचार्यकी स्तुति कर रहे हैं— श्रीमन्मध्व श्रेष्ठ वायुके तृतीय अवतार हैं। वेदाभिमानिनी श्री-दुर्गादि शक्तियोंने पृथ्वीपर ज्ञानका प्रकाश करनेके लिए पूर्णप्रज्ञ नामक

पुरुषको अवतीर्ण कराया था अर्थात् पृथ्वीपर ज्ञानका प्रचार करनेके लिए पूर्णप्रज्ञ नामक वायुके तृतीय अवतारके आविर्भावका वेदोंमें उल्लेख है। इन ज्ञानपूर्ण मध्वाचार्यसे शिवादि देवताओंने स्तोत्रादि सहित प्रणिपात–परिप्रश्न–सेवापूर्वक पुरुषोत्तम श्रीविष्णुकी गुणावलीका श्रवण किया था। इसका कारण है कि प्रकृष्ट ज्ञानका प्रकाश करनेवाले प्रकाशवान वायुरूप मध्वाचार्यने जगत्में आविर्भूत होकर शास्त्रादिका मन्थन करके अपनी हृदयगुहामें अवस्थित श्रीविष्णुकी सर्वोत्त्कृष्टताका प्रचार किया था॥ १३॥

वायोर्दिव्यानि रूपाणि पद्मत्रययुतानि च।
त्रिकोटि मूर्त्तिसंयुक्तस्त्रेतायां राक्षसान्तकः॥

हनुमानिति विख्यातो रामकार्य–धुरन्धरः।
स वायु भीमसेनोभूद्द्वापरान्ते कुरुद्वहः॥

कृष्णं संपूजयामास हत्वा दुर्योधनादिकान्।
द्वैपायनस्य सेवार्थं बदर्यां तु कलौ युगे॥

वायुश्च यतिरूपेण कृत्वा दुःशास्त्रखण्डनम्।
ततः कलियुगे प्राप्ते तृतीयो मध्वनामकः॥

भूरेखा दक्षिणेभागे मणिमद्गर्वशान्तये।
धिक्कुर्ववन् तत्प्रभां सद्यो वतीर्णोत्र द्विजान्वये॥

वायुपुराणमें वर्णित है कि प्रधान वायुके अनेक रूपोंमेंसे तीन मुख्य दिव्यरूप विराजमान हैं। वायुके प्रथम अवतार त्रेतायुगमें तीन–करोड़–मूर्त्ति–संयुक्त अर्थात् तीन–करोड़ अनुचरोंके अधिनायक, राक्षसकुलके विनाशक, रामसेवामें सर्वाग्रणी 'हनुमान' के नामसे विख्यात हैं। वे वायुदेव ही द्वापरके अन्तमें कुरुवंशमें आविर्भूत होकर 'भीम' के नामसे प्रसिद्ध हुए एवं दुर्योधन आदि दुष्टोंका विनाशकर उन्होंने श्रीकृष्णकी विशेष रूपसे पूजा (सेवा) की थी। तदनन्तर कलियुग आनेपर 'मध्व' नामक वायुके तृतीय अवतार भूरेखाके दक्षिण भागमें 'शिवाल्ली' ब्राह्मण–वंशमें अवतीर्ण हुए थे

और संन्यासीके रूपमें बदरिकाश्रममें गये थे। उन्होंने कलियुगमें भक्ति-विरोधी शास्त्रोंका खण्डनकर कृष्णद्वैपायन वेदव्यासकी सेवा की थी। मणिमान नामक राक्षसके गर्वको चूर्ण-विचूर्णकर उसकी प्रतिभाको तत्क्षणात् मलिन करनेके लिए ही कलियुगमें वायुके तृतीय अवतार मध्वका आविर्भाव है।

संक्षेपमें श्रीमध्वाचार्यका सिद्धान्त—

श्रीमन्मध्वमते हरिः परतरः सत्यं जगत्तत्त्वतो
भेदो जीवगणाः हरेरनुचरानीचोच्च भावं गताः
मुक्तिर्नैज सुखानुभूतिरमला भक्तिश्च तत्साधनं
ह्यक्षादि त्रितयं प्रमाणमखिलाम्नायैकवेद्यो हरिः॥

उपरोक्त श्लोकमें श्रीमन्मध्वाचार्यका सिद्धान्त संक्षेप रूपमें दिया गया है। यह श्लोक श्रीमध्व-सम्प्रदायके आचार्योंके ग्रन्थोंमें श्रीमध्वसिद्धान्त-सम्पुटरूपमें सर्वत्र पाया जाता है। श्रीमाध्व-गौड़ीय-आम्नायके पूर्वाचार्य श्रीजयतीर्थपादने भी अपने ग्रन्थोंमें इस श्लोकको उद्धृत किया है। तत्त्ववादी-सम्प्रदायके प्रधान पण्डिताचार्य श्रीवादिराजस्वामीने भी अपने ग्रन्थोंमें इस श्लोकका उल्लेख किया है। कुछ लोग कहते हैं कि यह श्लोक श्रीमन्मध्वाचार्यके शिष्य श्रीमद् त्रिविक्रम आचार्यके द्वारा विरचित है। इस श्लोकका तात्पर्य यह है—

श्रीमध्वाचार्यके सिद्धान्तके अनुसार भगवान् विष्णु ही सर्वोत्तम तत्त्व हैं। जगत् सत्य है। ईश्वर, जीव और जड़में परस्पर पाँच प्रकारके भेद सदैव नित्य हैं। जीव सदा श्रीहरिके दास हैं। जीवोंमें परस्पर योग्यताका तारतम्य वर्त्तमान है। जीवोंके स्वरूपानुगत धर्मकी अभिव्यक्ति ही 'मुक्ति' है। निर्मल, शुद्ध या अहैतुकी भक्ति ही जीवोंके स्वरूपानुगत धर्मकी अभिव्यक्तिका साधन है। शब्द, अनुमान और प्रत्यक्ष—ये तीन प्रकारके प्रमाण हैं। श्रीहरि ही एकमात्र अखिल-आम्नाय द्वारा जानने योग्य हैं अर्थात् श्रौतपन्थाके द्वारा ही भगवत्-उपलब्धि सम्भव है।

श्रीमध्व-गौड़ीय वेदान्ताचार्य श्रीपाद बलदेव विद्याभूषण प्रभुने भी स्वरचित 'प्रमेय-रत्नावली' नामक ग्रन्थमें प्रमेयसमूहके उद्देश्यसे निम्नलिखित श्लोककी रचना की है—

श्रीमध्वः प्राह विष्णु परतममखिलाम्नायवेद्यञ्च विश्वं
सत्यं भेदञ्च जीवान् हरिचरण-जुषस्तारतम्यञ्च तेषाम्॥

मोक्षं विष्णुङ्घ्रिलाभं तदमलभजनं तस्य हेतुं प्रमाणं
प्रत्यक्षादित्रयञ्चेत्युपदिशति हरिः कृष्णचैतन्यचन्द्रः॥

श्रीमध्व कहते हैं—(१) विष्णु ही परमतत्त्व हैं, (२) श्रीविष्णु ही अखिल वेदोंके द्वारा जानने योग्य हैं, (३) जगत् सत्य है, (४) जीव विष्णुसे भिन्न है, (५) सभी जीव श्रीहरिके चरणोंके सेवक हैं, (६) जीवोंमें बद्ध और मुक्तके भेदसे तारतम्य वर्त्तमान है, (७) विष्णुके चरणकमलोंकी प्राप्ति ही जीवोंकी मुक्ति है, (८) जीवोंकी मुक्तिका एकमात्र उपाय विष्णुका शुद्ध-भजन है, (९) प्रत्यक्ष, अनुमान और वेद ही तीन प्रमाण है। मध्वकथित इन नौ प्रमेयोंका ही श्रीभगवान् श्रीकृष्णचैतन्यचन्द्रने उपदेश दिया है।

गौड़ीय-वेदान्तचार्य श्रीपाद बलदेव विद्याभूषण प्रभु द्वारा रचित उपरोक्त श्लोकसे स्पष्ट हो जाता है कि भगवान् श्रीकृष्णचैतन्यदेवने श्रीमन्मध्व आम्नाय (गुरुपरम्परा) को स्वीकार किया है। इसलिए श्रीगौड़ीय-सम्प्रदाय माध्व-गौड़ीय या ब्रह्म-माध्व-गौड़ीय-सम्प्रदायके नामसे सज्जन समाजमें परिचित है।

पहले ही कहा जा चुका है कि श्रीमन्मध्वाचार्यके सिद्धान्तके मतानुसार श्रीविष्णु ही सर्वोत्तम तत्त्व वस्तु हैं। श्रीमन्मध्वाचार्य कहते हैं कि 'स्वतन्त्र' और 'परतन्त्र' भेदसे दो प्रकारके तत्त्व हैं। उनमें श्रीविष्णु ही एकमात्र सर्वस्वतन्त्र-तत्त्व हैं।

स्वतन्त्रं परतन्त्रञ्च प्रमेयं द्विविधं मतम्।
स्वतन्त्रो भगवान् विष्णुर्निर्द्दोषाखिल सद्गुणः॥

(तत्त्वविवेकः, आदि श्लोक)

अर्थात् स्वतन्त्र और परतन्त्र—शास्त्रोंमें इन दो प्रकारके तत्त्वोंका वर्णन हुआ है। भगवान् श्रीविष्णु ही एकमात्र सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र-तत्त्व एवं अनन्त निर्दोष गुणोंसे युक्त हैं।

वे अनन्त-निर्दोष-कल्याण आदि गुणोंके सागर हैं। वे सर्वशक्तिमान, स्वराट, चेतन और अचेतन जगत्के नियामक, नखसे केश तक स्वरूपज्ञानके आनन्दसे युक्त, श्रीसच्चिदानन्द विग्रह और स्वगत-भेदरहित हैं। उनमें देह-देहीका भेद नहीं है। उनके अङ्ग, गुण, क्रिया और स्वरूपमें अत्यन्त अभेद है, अर्थात् उनके नाम, रूप, गुण, लीलामें परस्पर कोई भेद नहीं हैं। वे सनातन, सभीके प्रभु, ब्रह्मा-महेश-लक्ष्मी आदिके भी ईश्वर हैं और इसलिए वे ईश्वरतम अर्थात् समस्त ईश्वरोंके भी ईश्वर हैं।

सर्वत्राखिल सच्छक्तिः स्वतन्त्रो शेषदर्शनः।
नित्या तादृशचिच्चेत्ययन्तेष्टो नो रमापतिः॥

(तत्त्वोद्योतेः, आदि श्लोक)

अर्थात् समस्त देश और कालमें निखिल विशुद्ध शक्तिसे युक्त शक्तिमद विग्रह, स्वराट, सर्वज्ञ, सर्वविलक्षण, चेतन-अचेतन जगत्के नियामक रमापति ही हमारे इष्टदेव हैं।

मत्स्यकूर्मादिरूपाणां गुणानां कर्मणामपि।
तथेवावयवानाञ्च भेदं पश्यति यः क्वचित्॥

भेदाभेदौ च यः पश्येत स यति तम एव तु।
पश्येदभेदमेवैषां वभूषुः पुरुषस्ततः॥

(गी॰ ता॰ नि॰ २/२५)

मत्स्य-कूर्मादि अवतारोंके रूप, गुण और लीला एवं उनके अङ्गोंमें कदाचित् भेद या भेदाभेद-दर्शनकारी निश्चय ही नरकमें पतित होते हैं। अतएव कल्याणके अभिलाषी पुरुष श्रीविष्णुके नाम, रूप, गुण, लीला, देह-देहीमें परस्पर अभेद दर्शन किया करते हैं।

जैसा कि महाभारत-तात्पर्य-निर्णयः १/११ श्लोकमें श्रीमन् मध्वाचार्यके वचन हैं—

निर्दोषपूर्णगुणविग्रह आत्मतन्त्र
निश्चेतनात्मकशरीर-गुणैश्च हीनाः।
आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिः
सर्वत्र च स्वगतभेद विवर्जितात्मा॥

अर्थात् भगवान् श्रीहरि सर्वदोषरहित, परिपूर्ण गुणात्मक-देहवान और सम्पूर्ण रूपसे स्वाधीन हैं। उनकी देह या गुणावली सम्पूर्ण चिन्मय है, उनमें अचेतनताका लेशमात्र भी नहीं है, उनका हाथ, पैर, मुख, उदरादि युक्त श्रीविग्रह सम्पूर्णता आनन्दमात्र स्वरूप है। वे सर्वत्र स्वगत-भेदरहित वास्तव वस्तु हैं।

कालाच्च देश गुणतोस्य न चादिरन्तो
वृद्धिक्षयौ न तु परस्य सदातनस्य।
नैतादृशः क्वच बभूव नचैव भाव्यो
नास्त्युत्तरः किमुपरात्परमस्य विष्णोः॥
(म॰ ता॰ नि॰ १/१२)

अर्थात् भगवान् श्रीहरि परात्पर और सनातन वस्तु हैं। देश, काल और जड़ीय क्रियाओंसे उनका जन्म, विनाश, वृद्धि और क्षय कुछ भी नहीं हो सकता। श्रीविष्णुके समान अन्य कोई परम तत्त्व न तो भूतकालमें था, न वर्त्तमानमें है और न ही भविष्यमें होगा। तीनों कालोंमें भगवान् श्रीविष्णुके समान जब किसीका अस्तित्व ही नहीं है, तो उनकी अपेक्षा उत्तम और कौन हो सकता है?

सर्वज्ञ ईश्वरतमः स च सर्वशक्तिः
पूर्णाव्ययात्मवलचित्-सुखवीर्यसारः ।
यस्याज्ञयारहितामिन्दिरया समेतं
ब्रह्मेशपूर्वकमिदं न तु कस्य चेशम्॥
(म॰ ता॰ नि॰ १/१३)

वे सर्वनियामक हैं, अतः अपनी इच्छासे ही वे सृष्टि, संहार और नियमादि लीलाएँ किया करते हैं।

सृष्टिः स्थितिश्च संहारो नियतिर्ज्ञानमावृतिः
बन्धमोक्षावपिह्यासु श्रुतियुक्ता हरेः सदा॥
(अनुव्याख्यानम्, १/१/२ ब्रह्मसूत्रका भाष्य)

अर्थात् समस्त श्रुतिओंमें कहा गया है कि श्रीविष्णुसे ही सदा सृष्टि, स्थिति, संहार, जीवोंका भाग्य, ज्ञान, आवरण, बन्धन, मुक्ति आदि हुआ करते हैं।

भगवान् श्रीविष्णु अनादिकालसे ही अपने विभिन्नांश जीवोंमें बिम्ब रूपमें विराजमान हैं। अर्थात् चिद्विलास-राज्यमें सच्चिदानन्द विग्रहवान अनन्त जीव नित्य अवस्थित हैं। वे सभी जीव ब्रह्मादि देवताओंसे लेकर नृप-कीटादि विभिन्न आकारोंमें अपने शुद्ध-स्वरूपमें उस चिद्धाममें सदैव वर्त्तमान हैं। वे सभी विभिन्न आकारवान सच्चिदानन्दमय शुद्धजीव श्रीविष्णुके ही निरुपाधिक प्रतिबिम्बस्वरूप हैं। तात्पर्य यह है कि समस्त विचित्रता एकमात्र श्रीविष्णुसे ही प्रकाशित हुई है। श्रीविष्णु ही सभी प्रकारकी विचित्रताओंके मूल आदर्श हैं। अनन्त-आकार-विशिष्ट विष्णुके जो समस्त नित्य रूप विराजमान हैं, उन्हींके ही निरुपाधिक प्रतिबिम्ब स्वरूपोंमें अर्थात् उनके समान रूप एवं आकारवाले जीव वैकुण्ठादि चिद्धामोंमें सदा वर्त्तमान हैं। भगवान् श्रीविष्णु यदि ब्रह्मा आदि देवताओंसे लेकर नृप-कीट आदि तक नित्य सच्चिदानन्दमय रूप धारण नहीं करते, तो जीवोंके भी उन समस्त आकारोंकी सम्भावना नहीं होती। वैकुण्ठ-जगत्में जो समस्त पशु, मृग, वृक्षादि विराजमान हैं, वे सभी सच्चिदानन्दाकार शुद्धजीव हैं। वे उन निरुपाधिक बिम्बस्वरूप भगवान् विष्णुके ही निरुपाधिक प्रतिबिम्ब हैं।

मायावादी जिस प्रकारसे जीवको उपाधिक प्रतिबिम्ब कहते हैं, किन्तु श्रीमन्मध्वाचार्यके सिद्धान्तके अनुसार वह ठीक नहीं है।

श्रीमन्मध्वाचार्य कहते हैं कि वैकण्ठ-जगत्में शुद्ध-स्वरूपमें खग-मृग-नर-तृणादि विभिन्न आकारोंमें जीव विराजमान हैं। श्रीभगवान् भी उन सभी निरुपाधिक प्रतिबिम्बोंके बिम्ब रूपमें खग, मृग, नर, तृण आदि रूपोंमें विराजमान हैं। उन सभी निरुपाधिक प्रतिबिम्बस्वरूप जीवोंका उनके निरुपाधिक बिम्बस्वरूप भगवान्के आकार एवं परिमाणके साथ सादृश्य है। जीव और भगवान्में पार्थक्य यह है कि जीव स्वल्प-ज्ञानानन्दात्मक विग्रह हैं और भगवान् पूर्ण-ज्ञानानन्दात्मक विग्रह हैं। यहाँ तक कि असुर-स्वरूप-देहके समानाकारमें बिम्बरूपी भगवान् भी नित्य निर्दोष गुणानन्दात्मक विग्रहके रूपमें विराजमान हैं, अर्थात् जो जीव स्वाभाविक असुर देह धारणकर उसके अनुकूल ही विष्णु-वैष्णवोंसे द्वेष आदि अपराध करनेवाले हैं, उन सभी निरुपाधिक असुर-स्वरूपोंके बिम्बके रूपमें भगवान्का भी नित्य आकार है। तात्पर्य यह है कि कतिपय जीव स्वरूपतः असुर-देहसे युक्त हैं, उनकी वह देह स्वभावतः नित्य होनेसे निरुपाधिक है, किन्तु वह नित्य तमोगुणात्मक है। भगवान् उन सब असुर-देहोंके भी बिम्बस्वरूप हैं, किन्तु भगवान्में उनके समान तमोगुण आदि नहीं है।

यहाँ और एक विषय विचारणीय है कि वर्त्तमान समयमें जीवको कर्मफलवशतः जो देह प्राप्त हुई हैं अथवा होगी, वे स्थूलदेह निरुपाधिक प्रतिबिम्ब नहीं हैं। वर्त्तमान समयमें किसी व्यक्ति द्वारा मनुष्यदेह प्राप्त करनेपर भी उसका स्वरूपदेह बन्दरका हो सकता है, पुनः यदि किसी जीवने वर्त्तमानमें मछलीकी देह प्राप्त की है तो भी उसका नित्य स्वरूप चिदानन्दमय नरदेह भी हो सकता है अर्थात् वर्त्तमान स्थूलदेहसे नित्यदेहका अनुमान नहीं किया जा सकता। ये स्थूल और लिङ्ग देह उस स्वरूपदेहका आवरणमात्र है। स्वरूपदेह ही निरुपाधिक और नित्य है और वह विभिन्न आकार की हो सकती है। उसे ही निरुपाधिक प्रतिबिम्ब विभिन्नांश शुद्धजीव (जीवात्मा) कहा

जाता है। इन सभी निरुपाधिक प्रतिबिम्बोंके मूल आदर्श या बिम्बस्वरूप अनन्तशक्ति, अनन्ताकार-विशिष्ट सच्चिदानन्दमय भगवत्-विग्रह हैं। यही श्रीमन्मध्वाचार्यका सिद्धान्त है।

द्विरूपावंशकौ तस्य परमस्य हरेर्विभोः।
प्रतिबिम्बांशकश्चाथ स्वरूपांशक एव च॥
प्रतिबिम्बांशका जीवाः प्रादुर्भावाः परे स्मृताः।
प्रतिबिम्बेष्वल्पसाम्यं स्वरूपाणीतराणित्विति॥
सोपाधिरनुपाधिश्च प्रतिबिम्बो द्विधेयते।
जीव ईस्यानुपाधिरिन्द्रचापो यथा रवेरिति पैंगिश्रुतिः॥

(२/३/५०१ ब्रह्मसूत्रका भाष्य)

विभु परमेश्वर श्रीहरिके दो प्रकारके अंश है। प्रतिबिम्ब अंश एवं स्वरूप अंश। प्रतिबिम्ब अंशसमूह अनन्त जीव हैं, और मत्स्यादि अवतार उनके स्वरूपांशके रूपमें प्रसिद्ध है। प्रतिबिम्बरूप जीवके साथ विभु श्रीहरिका अल्प साम्य है और मत्स्यादि अवतारगण श्रीहरिके स्वरूपभूत हैं। प्रतिबिम्ब दो प्रकारके होते हैं—सोपाधिक और निरुपाधिक। जीव ईश्वरका निरुपाधिक प्रतिबिम्ब है। आकाशमें इन्द्रधनुष सूर्यका सोपाधिक प्रतिबिम्ब है, अतएव अनित्य है।

ब्रह्मकल्पके आरम्भमें भगवान् श्रीविष्णु लीलावशतः सृष्टि आदि कार्यके लिए वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध—इन चार रूपोंमें प्रकाशित होते हैं। प्रद्युम्नके रूपमें वे जगत्की सृष्टि करते हैं, इन प्रद्युम्नकी लक्ष्मी (पत्नी) 'कृति' नामसे प्रसिद्ध हैं। अनिरुद्धके रूपमें वे विश्वका पालन करते हैं। अनिरुद्धकी पत्नी 'शान्ति' हैं। सङ्कर्षणके रूपमें वे जगत्का संहार करते हैं। सङ्कर्षणकी पत्नी 'जया' हैं। वासुदेवके रूपमें वे जीवोंको गति प्रदान करते हैं। वासुदेवकी पत्नी 'माया' हैं।

इत्थं विचिन्त्य परमः स तु वासुदेव
नामाबभूव निजमुक्ति पदप्रदाता।

तस्याज्ञयैव नियताथ रमापि रूपं
वभ्रे द्वितीयमपि यत् प्रवदन्ति मायाम्॥

सङ्कर्षणश्च स बभूव पुनः सुनित्यः
संहारकारण वपुस्तदनुज्ञयैव।
देवी जयेत्यनुबभूव स सृष्टिहेतोः
प्रद्युम्नतामुपगतः कृतिताश्च देवी।
स्थित्यै पुनः स भगवाननिरुद्ध नामा
देवी च शान्तिरभवच्छरदां सहस्रम्।
स्थित्वा स्वमूर्त्तिरमूभिरचिन्त्यशक्तिः
प्रद्युम्नरूपक इमांश्चरमात्मने दात्॥

(म० ता० नि०, १अ० ६-८ श्लोक)

मैं अपने उदरमें स्थित चेतन जीवोंके स्वरूपकी अभिव्यक्तिके लिए सृष्टि करूँगा—ऐसा सङ्कल्प करके अपने निज जनोंको मुक्तिपद देनेवाले वे परमेश्वर श्रीहरि वासुदेवके नामसे प्रकटित हुए। उनकी आज्ञाके अनुसार उनके अधीन रहनेवाली रमादेवीने भी द्वितीय रूप धारण किया। इन वासुदेवकी पत्नीको ही पण्डित लोग 'माया' कहते हैं। वे परमनित्य भगवान् पुनः अपने प्रलय-कारण-भूत देहको प्रकटकर 'सङ्कर्षण' नामसे आविर्भूत हुए और उनकी आज्ञानुसार लक्ष्मीदेवी 'जया' के नामसे प्रकट हुईं। वे ही भगवान् सृष्टिके लिए 'प्रद्युम्न' के रूपमें आविर्भूत हुए और लक्ष्मीदेवीने 'कृति' नाम धारण किया। पुनः वे ही भगवान् विष्णु जगत् पालन करनेके लिए 'अनिरुद्ध' नामसे आविर्भूत हुए और लक्ष्मीदेवीने 'शान्ति' नाम धारण किया। भगवान्ने वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्धके रूपमें सहस्र सम्वत्सर काल तक अवस्थित रहकर—अचिन्त्यशक्तिसे सम्पन्न भगवान् प्रद्युम्नने जीवोंका पालन करनेके लिए उन्हें अनिरुद्धको प्रदान किया।

सृष्टि और संहार—ये दोनों कार्य भगवान् विष्णु किसी अधिकारिक देवता या महान जीवको अपने प्रतिनिधिके रूपसे

ग्रहणकर उनके द्वारा ही कराया करते हैं। प्रद्युम्नरूपी विष्णु चतुर्मुख ब्रह्माको सृष्टि करनेका सामर्थ्य एवं सङ्कर्षणरूपी विष्णु रुद्रको संहारका सामर्थ्य प्रदान करते हैं एवं अनिरुद्धके रूपमें स्वयं पालन एवं वासुदेवके रूपमें स्वयं मोक्ष प्रदान किया करते हैं। श्रीविष्णुके ये चतुर्विध रूप ब्रह्माके कल्पके अन्त तक और मत्स्य, कूर्म आदि रूप बीच-बीचमें जगत्‌में प्रकाशित होकर पुनः अप्रकट प्रकाशमें गमन करते हैं। भगवान् श्रीविष्णु केशवादि द्वादश मूर्त्तियों और वासुदेव आदि द्वादश मूर्त्तियों, कुल मिलाकर इन चौबीस मूर्त्तिरूपोंमें चौबीस तत्त्वाभिमानी देवताओंके नियामक हैं एवं वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध और नारायण—इन पाँच रूपोंमें अन्नादि पञ्चकोषके नियामक हैं। विश्व, तैजस, प्राज्ञ और तुरीय—इन चार प्रकारके जीवोंकी चार अवस्थाओं यथा—जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और मोक्षके नियामक है। 'आत्मा' एवं 'अन्तरात्मा' रूपमें स्थूलदेह और स्वरूपदेहके नियामक और समस्त जीवोंकी देहोंमें अनन्तरूपमें व्यक्त रहकर उनके नियामक हैं। वे तत्त्वाभिमानी देवता और इन्द्रियोंको प्रेरणा प्रदान किया करते हैं।

जीवकी योग्यता और स्वतन्त्र इच्छासे किये गये उनके पाप-पुण्यादि कार्योंके लिए भगवान् विष्णु उत्तरदायी नहीं हैं। भगवान् प्रयोजक कर्त्ता और जीव प्रयोज्य कर्त्ता हैं।

भविष्यपुराणमें कथित है—

पुण्यपापादिकं विष्णुः कारयेत् पूर्वकर्मणा।
अनादित्वात् कर्मणश्च न विरोधः कथञ्चन॥

चतुर्वेदशिखायां—

न कारयेत् पुण्यमथापि पापं न तावता दोषवाणीशितापि।
ईशो यतो गुणदोषादि सत्त्वे स्वयं परोमादिरादिः प्रजानाम्॥

(सूत्र-भाष्यम्, २य अ॰ १म १पा ३६-३७ सूत्र)

भगवान्‌में विषमता और नैघृण्य (घृणारूपी) दोषकी सम्भावना नहीं है, क्योंकि भगवान् विष्णु जीवोंके पूर्व कर्मोंके अनुसार ही

उनसे पुण्य-पापादि करवाया करते हैं। अनादिकालसे किये गये अपने कर्मोंकी वासनाके अनुसार ही जीव पुण्य-पापादि कर्मोंमें प्रवृत्त हुआ करते हैं अतः भगवान्‌में वैषम्य-नैघृण्यका दोष नहीं है, क्योंकि वे दोष और गुणादिके नियामक हैं। वे स्वयंपर हैं अर्थात् उनकी श्रेष्ठता किसी दूसरे पर निर्भर नहीं है। वे स्वयं अनादि एवं सभी जीवोंके आदि (मूल) हैं।

भगवान् श्रीविष्णुके मत्स्य, कूर्म, नरादि विभिन्न रूपोंमें अवतीर्ण होनेपर भी उनका जन्म, कर्म, देहादि प्राकृत नहीं है। (उनके अवतरित होनेपर) वे अज्ञ व्यक्तियोंको जागतिक मनुष्य जैसे प्राकृत प्रतीत होनेपर भी स्वभावतः सर्वदोषरहित हैं। वे मूढ़ लोगोंकी विडम्बना और दैत्योंकी वञ्चना करते हैं। जो लोग पारमार्थिक-तत्त्वको न जानकर उनकी अवज्ञा करते हैं, भक्तिकी निन्दा करते हैं, उन लोगोंको वे नरकमें भेजते हैं। तथा जो लोग उनकी निष्कपट रूपसे सेवा करते हैं, उनकी शरण ग्रहण करते हैं, भक्तिपूर्वक उनकी उपासना करते हैं, उन्हें वे उत्तम गति प्रदान किया करते हैं। जो मध्यम अर्थात् मिश्र भावसम्पन्न हैं, अर्थात् जो द्रोह भी नहीं करते और भक्ति भी नहीं करते, केवलमात्र काम्यकर्मी हैं, उन्हें भगवान् नित्य-संसार प्रदान करते हैं। ऐसे लोग स्वरूपतः ही नित्य संसारी हैं। भगवान् भक्तोंके विनोदके लिए अपनी विचित्र लीलाएँ प्रकाशित करते हैं। वे अपनी लीलाओंके द्वारा भक्तोंकी भक्तिको परिवर्धित और द्वेषियोंमें विरोध उत्पन्न करते हैं। विष्णुके अवतारोंमें साधारणतः दो प्रकारके अवतार प्रधान हैं—ज्ञानावतार और बलावतार। जिन अवतारोंमें ज्ञानकी अभिव्यक्ति अधिक होती है, वे ज्ञानावतार हैं, जैसे—व्यास, कपिल, दत्तात्रेय इत्यादि। जिन अवतारोंमें बलकी अभिव्यक्ति अधिक होती है, वे बलावतार हैं, जैसे—श्रीनृसिंह, वामन, राम आदि। श्रीकृष्णमें दोनों प्रकारके सामर्थ्यकी अभिव्यक्ति होनेसे वे दोनों प्रकारके अवतारोंमें कथित होते हैं।

कृष्णरामादि रूपेषु बलकार्यो जनार्दनः।
दत्तव्यासादिरूपेषु ज्ञानकार्यस्तथा प्रभुः॥
(म॰ ता॰ नि॰, २य अ॰ २५ श्लोक)

अर्थात् जनार्द्दन श्रीहरि कृष्ण और रामादि रूपमें बलकार्य और दत्तात्रेय-व्यासादि रूपमें ज्ञानकार्य किया करते हैं।

धन्वन्तरि आदि अवतारोंमें केवलमात्र भक्तोंपर अनुग्रह करनेका सामर्थ्य प्रकटित हैं। भगवान् श्रीविष्णुका नित्यधाम श्रीवैकुण्ठ है। सृष्टिके प्रारम्भमें 'श्वेतद्वीप' एवं 'अनन्तासन' नामक ये दो धाम जगत्में प्रकट होते हैं। चौदह भुवनोंवाला यह ब्रह्माण्ड कटाहरूप (कछुएकी पीठके समान कठोर) आवरणसे आवृत है। उसके बाहर सात अन्य आवरण हैं अर्थात् अविमिश्रि पञ्चभूतोंके पृथक्-पृथक् पाँच आवरण एवं महत्तत्त्व और अहङ्कार तत्त्वके एक-एक आवरण है। उसके ऊपर वैकुण्ठलोक है। विरजा नामक नदी वैकुण्ठको चारों ओरसे परिवेष्टितकर विराजमान है। ब्रह्माण्डके मध्यभागमें 'श्वेतद्वीप' और ब्रह्माण्डके नीचेके भागमें 'अनन्तासन' है। वैकुण्ठमें मुक्त परिकरोंके सहित भगवान् विष्णु निवास करते हैं। भगवान् विष्णुके अङ्गके आभरण, वसन, भूषण, शय्या, सिंहासन—ये सभी श्रीलक्ष्मीके ही रूपान्तर हैं। अनन्तासन, 'श्वेतद्वीप' और 'वैकुण्ठ'—इन तीन भगवद्धामोंमें 'मुक्तस्थान' और 'अमुक्तस्थान' नामक दो भाग हैं। 'मुक्तस्थान' में 'मुक्त ब्रह्मादि परिवार' और 'अमुक्तस्थान' में 'अमुक्त ब्रह्मादि परिवार' रहते हैं। ब्रह्मकल्पके अन्त तक सभीको ही 'अमुक्तस्थान' में रहना पड़ता है और कल्पके अन्तमें ब्रह्माके साथ सभी 'मुक्तस्थान' में चले जाते हैं, अर्थात् ब्रह्मा सहित सभी जीवोंकी मुक्ति हो जाती है।

लक्ष्मीके विषयमें सिद्धान्त—श्रीलक्ष्मीदेवी भगवान् श्रीविष्णुकी प्रिय महिषी हैं एवं उनकी देह नित्य और ज्ञानानन्दात्मिक है। श्रीविष्णुकी भाँति वे भी गर्भवासके दुःखादि दोषोंसे रहित हैं, वे सदैव विष्णुके साथ विराजमान रहती हैं एवं सर्वत्र व्याप्त हैं।

विष्णुके अनन्त रूपोंके साथ लक्ष्मीजी भी अनन्त रूपोंमें विहार करती हैं। विष्णुके अवतारके समय लक्ष्मीजी भी अवतीर्ण होकर उनकी प्रियसङ्गिनीके रूपमें विराजमान होती हैं। विष्णुके समान लक्ष्मीजीके भी विभिन्न नित्य नाम और रूप हैं। लक्ष्मीजीके विभिन्न नाम—श्री, भू, दुर्गा, माया, जया, कृति, शान्ति, अम्भ्रणी, सीता, दक्षिणा, जयन्ती आदि हैं। श्रीलक्ष्मीदेवी श्री, भू और दुर्गाके रूपमें तीन गुणोंकी नियामक हैं। 'श्री' रूपमें वे सत्त्वगुण प्रेरक होकर देवताओंको मोहित करती हैं, 'भू' रूपमें रजोगुण प्रेरक होकर मनुष्योंको मोहित करती हैं और 'दुर्गा' के रूपमें तमोगुण प्रेरक होकर दैत्योंको मोहित करती हैं।

श्रीर्भूदुर्गाम्भ्रणी ह्रीश्च महालक्ष्मीश्च दक्षिणा।
सीता–जयन्ती–सत्या च रुक्मिणीत्यादि भेदिता॥

प्रकृतिस्तेन चाविष्टा तद्वशा न हरिः स्वयम्।
ततोहनन्तांशहीना च बलज्ञप्ति सुखादिभिः॥

गुणैः सर्वैस्तथाप्यस्य प्रसादाद्दोषवर्जिता।
सर्वदा सुखरूपा च सर्वदा ज्ञानरूपिणी॥

(बृहदारण्यक–भाष्यम्, ३य अ॰ ५म ब्रा॰)

श्री, भू, दुर्गा, अम्भ्रणी, ह्री, महालक्ष्मी, दक्षिणा, सीता, जयन्ती, सत्या एवं रुक्मिणी आदि भिन्न–भिन्न नामोंसे विदित प्रकृति श्रीहरि द्वारा आविष्ट और उनके वशीभूत रहती हैं, परन्तु श्रीहरि उनके वशीभूत नहीं हैं। वह प्रकृति यद्यपि बल, ज्ञान और सुख आदि सभी गुणोंके विषयमें श्रीहरिसे अनन्त भाग न्यून हैं, तथापि श्रीहरिकी कृपासे वे सर्वदोषोंसे रहित और सदा ज्ञान–सुखरूपमें विराजमान रहती हैं।

तस्यास्तु त्रीणिरूपाणि सत्त्वं नाम रजस्तमः।
सृष्टिकाले विभज्यन्ते सत्त्वं श्रीः सद्गुणप्रभा।
रजो रञ्जनकर्त्तृत्वाद्भूः सा सृष्टिकरी यतः।
यदावेशादियं पृथ्वीभूमिरित्येव कथ्यते।

जीवानां ग्नपनादुर्गा तमइत्येव कीर्त्तिता।
एताभिस्तिसृभिर्जीवाः सर्वे बद्धा अमुक्तिगाः॥

सर्वान् वध्नन्तिसर्वाश्च तथापि तु विशेषतः।
श्रीर्देवबन्धिका ह्रीणां भूर्दैत्यानां तथापरा।
एताभ्योन्यं परं चैव विष्णुं ज्ञात्वा विमुच्यते।
(गी॰ ता॰ नि॰ १४/५-६)

सृष्टिकालमें उक्त प्रकृति सत्त्व, रज और तम नामक तीन रूपोंमें विभक्त हुआ करती है। सद्गुण प्रकाशिका 'श्री' सत्त्वगुण स्वरूप है। भू-सृष्टि सम्पादिका होनेसे 'भू' नामसे और रञ्जनकारिणी होनेके कारण 'रजः' नामसे जानी जाती हैं। भू-प्रकृतिसे उत्पन्न होनेसे यह पृथ्वी 'भूमि' कहलाती है। दुर्गा-प्रकृति जीवोंको दुःख देनेवाली होनेके कारण तमःके रूपमें जानी जाती है। उक्त तीनों प्रकृतियोंमें आबद्ध होकर जीव मुक्तिलाभ नहीं कर पाते। तीनों प्रकृतियाँ ही सभीको बद्ध करती हैं, तथापि विशेष रूपसे 'श्री'-प्रकृति देवताओंका, 'भू'-प्रकृति मनुष्योंका और 'दुर्गा'-प्रकृति दैत्योंका बन्धन करती हैं। जीव उक्त तीनों प्रकृतियोंसे परे होकर और परतत्त्व विष्णुज्ञानसे ही मुक्तिलाभ करते हैं। (गी॰ ता॰ नि॰ १४/५-६)

श्रीलक्ष्मीदेवी श्रीविष्णुके अधीन और सर्वविद्यासम्पन्न हैं। वे चतुर्मुख ब्रह्मासे अनन्त गुणा श्रेष्ठ हैं। वे भगवान्‌के श्रीअङ्गोंमें नानाविध आभरणोंके रूपमें विराजमान रहती हैं अर्थात् मध्व-सिद्धान्तके विचारसे विष्णुकी शय्या, सिंहासन, आभरण, अलङ्कार, आसन आदि समस्त भोग्यवस्तुएँ श्रीलक्ष्मीदेवीका रूपान्तर हैं।

श्रीर्यत्ररूपिण्युरुगायपादयोः करोति मानं बहुधाविभूतिभिः।
(४/२/१ ब्रह्मसूत्रके अनुव्याख्यानमें उद्धृत भा॰ का २/९/१३ श्लोक)

अर्थात् ये लक्ष्मीदेवी नाना प्रकारके वैभवके रूपमें मूर्त्तिमान होकर वैकुण्ठमें उत्तमश्लोक भगवान् श्रीविष्णुके श्रीचरणकमलोंकी सेवा करती हैं।

तत्र विष्णोः पुरं दिव्यमपराजित नामकम्।
विमिताख्यश्च पर्यङ्कं विष्णोर्मानेन सम्मितम्॥
चित्सुवर्णमयं दिव्यं लक्ष्मीस्तत्तत् स्वरूपिणी॥
(छान्दोग्य-भाष्यम् ८/५)

अर्थात् वहाँ विष्णुका अपराजित नामक एक दिव्य पुर है और भगवान्के विग्रहके परिमाण जितना चिन्मय-सुवर्णसे निर्मित 'विमित' नामक एक दिव्य शय्या वर्त्तमान है। वे सभी वस्तुएँ लक्ष्मीस्वरूप हैं।

जगत् सत्य—श्रीमन्मध्वाचार्यका कहना है कि भगवान् विष्णु कल्पके आरम्भमें अनादि-नित्य-जड़ प्रकृतिको उपादान बनाकर सत्त्व, रज, तम—ये तीन गुण, महत्तत्त्व, अहङ्कार और पञ्चभूतसे क्रमशः ब्रह्माण्ड और उसके भीतर चौदह लोक, समुद्र, मेरु-मन्दरादि पर्वत, गङ्गा-यमुनादि नदी, शिला, वनस्पति, औषधि, धान्य, फल, पुष्प, नवरत्न, सुवर्ण, लौह आदि सब वस्तुओंकी सृष्टि करते हैं। ये सब कार्यरूपमें अनित्य हैं, किन्तु कारणरूपमें नित्य है। कार्यरूपमें अनित्य होनेपर भी शशशृङ्ग (खरगोशके सींग), आकाश-कुसुम, कूर्मलोम (कछुएकी पीठपर लोम) और गन्धर्वनगर आदिकी भाँति असत् नहीं है, अथवा रज्जुमें आरोपित सर्पकी भाँति या शुक्ति (सीप) में आरोपित रजतकी भाँति मिथ्या नहीं है। अल्पकालीन होनेके कारण 'अनित्य' हैं, किन्तु 'असत्' नहीं है और 'क्षणिक' भी नहीं है। 'क्षणसम्बन्धी' कहा जानेपर भी इन्हें 'क्षणमात्रवर्ती' नहीं कहा जा सकता है। घटपटादि 'क्षणसम्बन्धी' होनेपर भी कारणरूपमें नित्य हैं।

बौद्ध लोग जगत्को 'क्षणिक' कहकर यह बतलाना चाहते हैं कि सृष्टिसे पहले या सृष्टिके बादमें जगत्का अवस्थान नहीं है। इसकी क्षण-क्षणमें उत्पत्ति और क्षण-क्षणमें विनाश होता है। परन्तु 'क्षणसम्बन्धी' कहनेसे ऐसा बोध नहीं होता है। क्षणसम्बन्धी होनेपर भी वह उपादान-कारणके रूपमें नित्य है। जैसे घटरूपकार्य

घटके टूट जानेपर कपाल (घटका खण्डित द्वितीय भाग), कपालके टूट जानेपर कापालिक (घटका चतुर्थ भाग), कापालिक टूटनेसे मिट्टी आदि, मिट्टी आदि भङ्ग होनेसे प्रकृति। घटसे क्रमशः प्रकृतिके पहलेकी अवस्था तक समस्त वस्तुएँ ही कार्य हैं। ये कार्य अनित्य हैं, किन्तु प्रकृति इनके मूल-उपादान-कारणके रूपमें नित्य है। कल्पके आदिसे आरम्भकर कल्पके अन्त तक उपादान-कारणरूप प्रकृतिसे घट इत्यादि तक नाना कार्यरूप परिणाम हैं और कल्पके अन्तमें प्रकृति नामक सूक्ष्म रूपमें जगत्की अवस्थिति होती है, यह मिथ्या नहीं है।

मायावादी कहते हैं कि ब्रह्मज्ञान परिपक्व होनेपर व्यवहारिक जगत् गर्म लोहेके ऊपर जलबिन्दुकी भाँति स्वतः ही अदृश्य हो जाता है। यह विचार केवल बाल-कोलाहलमात्र है, क्योंकि विष्णुने ज्ञानपूर्वक लीलामात्रके लिए ही इस जगत्की सृष्टि की है। वे स्वयं बुद्धिपूर्वक कार्य अवस्था तक इसका नाश करते हैं, परन्तु तब भी जगत् कारणरूपमें तो वर्त्तमान रहता ही है। विष्णुके बुद्धिबलसे सृष्ट जगत् मायाका उपादान नहीं है। जीवोंके अदृष्ट (पूर्व कर्मों) और योग्यताके अनुसार भगवान् नानारूपमें इस जगत्की सृष्टि करते हैं और अदृष्टकी परिसमाप्ति होनेपर जगत्का नाश करते हैं। तब भी कारणके रूपमें जगत् वर्त्तमान रहता है। कल्पके आरम्भमें अनुलोमक्रमसे (अति सूक्ष्मसे स्थूल तक) जगत्की सृष्टि अर्थात् प्रकृतिसे आरम्भकर महत्तत्त्व, अहङ्कार, पञ्चतन्मात्रा और पञ्चमहाभूत आदि क्रमसे जगत्की सृष्टि और कल्पके अन्तमें विलोमक्रमसे नाश अर्थात् जिस क्रमसे सृष्टि हुई थी, उसके विपरीत क्रमसे उसका विनाश हो जाता है, किन्तु प्रकृतिके रूपमें सभी तत्त्व वर्त्तमान रहते हैं। श्रीमन्मध्वाचार्यने स्वरचित विभिन्न ग्रन्थोंमें इस विषयके लिए विभिन्न युक्ति और प्रमाण आदिकी अवतारणा की है। जगत्की सत्यताके सम्बन्धमें श्रीमन्मध्वाचार्य द्वारा उद्धृत कुछेक वेद और पुराणोंके प्रमाण नीचे दिये जा रहे हैं।

प्रधान्वस्य महतो महानि सत्या सत्यस्य करणानि वोचम्।
सत्य मे नम नु विश्वे मदन्ति रातिं देवस्य गृणतो मघोनः॥
यच्चिकेत सत्यमित्तन्नमोघं वसुस्पार्हमुतजेतो तदाता।
सत्यः सौ अस्य महिमा गृणे शवो यज्ञेषु विप्रराज्ये॥
विश्वं सत्यं मघवाना युवोरिदापश्च प्रमिनन्ति व्रतं वाम्।
कविर्मनिषी परिभूः स्वयंभू याथातथ्यतो र्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥
असत्यमाहुर्जगदेतदज्ञाः शक्तिं हरेर्येन विदुः परां हि।
यः सत्यरूपं जगदेतदीदृक् सृष्ट्वा त्वभूत्सत्यकर्मा महात्मा॥
अथै नमाहुः सत्यकर्मेति सत्यं ह्येवेदं विश्वमसौ सृजते।
अथैनमाहुर्नित्य कर्मेति नित्यं ह्येवासौ कुरुते।
सत्याः विष्णोर्गुणाः सर्वे सत्या जीवेशयोर्भिदा।
सत्यो मिथो जीवभेदः सत्यश्च जगदीदृशम्॥
(भा० ता० नि० १/६९)

मैंने सत्यस्वरूप महापुरुष विष्णुके जगत्-सृष्टि प्रयोजक प्रकृति आदि कारणोंको सत्य कहा है। स्तुति करनेवाले इन्द्रदेवकी इस सत्य-सम्पदके दर्शनसे सभी सन्तुष्ट हुआ करते हैं।

सबको जय करनेवाले और वर प्रदान करनेवाले विष्णुने सभी लोगोंकी अपेक्षणीय जिस वस्तुकी रचना की है, वह निश्चय ही सत्य होती है, किन्तु असत्य नहीं हो सकती।

'भगवान् सत्य हैं, उनका माहात्म्य भी सत्य है'—मैं यह बात मोक्षादि-सुख प्राप्तिके लिए यज्ञ कर रहे इन ब्राह्मणोंके समक्ष कह रहा हूँ।

हे इन्द्र! हे विष्णु! आपसे सम्बन्धित यह जगत् सत्य है। जलाभिमानी देवता लोग भी इस बातको भलीभाँति जानते हैं कि आपके द्वारा जगत्की सृष्टि होती है।

सर्वज्ञ, मनोऽभीष्ट प्रदाता, सर्वजयशाली, स्वयम्भु भगवान्ने अनेकानेक कल्पों तक परमार्थ (यथार्थ) वस्तुओंका निर्माण किया था।

जो श्रीहरिकी पराशक्तिके विषयमें नहीं जानते, वैसे अज्ञानी ही इस जगत्‌को असत्य कहते हैं।

महात्मा विष्णु इस सत्यभूत-जगत्‌की सृष्टिकर 'सत्यकर्मा' नामसे प्रसिद्ध हुए हैं।

सज्जनगण इन विष्णुको 'सत्यकर्मा' कहते हैं, क्योंकि भगवान्‌ने इस जगत्‌का सत्यरूपमें ही निर्माण किया है। कुछ लोग उन्हें 'नित्यकर्मा' नामसे भी पुकारते हैं, क्योंकि वे सर्वदा ही इस जगत्‌का निर्माण कार्य करते हैं।

विष्णुके सभी गुण सत्य हैं, जीव और ईश्वरमें भेद भी सत्य है, जीवोंमें परस्पर भेद भी सत्य है एवं इस प्रकार यह जगत् भी सत्य है।

> विभूतिं प्रसवन्त्वनो मन्यन्ते सृष्टिचिन्तकाः।
> स्वप्नमाया स्वरूपेति सृष्टिरन्यैर्विकल्पिता॥
>
> इच्छामात्रं प्रभोः सृष्टिरिति सृष्टौ विनिश्चिता।
> कालात प्रसूतिं जगतां भूतानाम् मन्यन्ते कालचिन्तकाः
> भोगार्थं सृष्टिरित्यन्ये क्रीड़ार्थमिति चापरे।
> देवस्यैषस्वभावो यमाप्तकामस्य का स्पृहा॥
>
> (माण्डुक्य, खण्ड १ मन्त्र २३)

सृष्टिके विषयमें विचार-परायण कुछ लोग ब्रह्मके विविध आकारके परिणामको ही जगत्-सृष्टि कहते हैं। कुछ लोग सृष्टिको स्वप्न और मायिक पदार्थके समान काल्पनिक मानते हैं। सृष्टिके विषयमें निश्चयशील व्यक्ति कहते हैं कि भगवान्‌की इच्छामात्रसे ही जगत्‌की सृष्टि होती है। कालको कर्त्ता माननेवालोंके अनुसार कालसे ही जगत्‌की सृष्टि होती है। कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि इस जगत्‌की सृष्टि उनके अपने भोग अथवा क्रीड़ाके लिए ही हुई है। परन्तु यह जगत्-सृष्टि भगवान्‌का स्वभावमात्र है, वे किसी प्रकारकी कामनाके वशीभूत होकर जगत्‌की सृष्टि नहीं करते, क्योंकि आप्तकाम पुरुषकी किस विषयमें स्पृहा हो सकती है? (माण्डुक्य खण्ड १, मन्त्र १३)

विश्वं सत्यं वशे विष्णोर्नित्यमेव प्रवाहतः।
न क्वाप्यनीदृशं विश्वं तत्तत्कालानुसारतः।
असत्यमप्रतिष्ठं ये जगदाहुरनीश्वरम्।
त आसुराः स्वयं नष्टा जगतः क्षयकारिणः॥
(तत्त्वोद्योते व्यासस्मृतिः)

यह विश्व सत्य है एवं भगवान् विष्णुके वशीभूत है। इसकी नित्यता प्रवाहक्रमसे वर्त्तमान है। समस्त कालमें ही यह विश्व इसी रूपमें विराजमान है, परन्तु कभी भी इस प्रकारके भावका व्यतिक्रम नहीं देखा जाता है। जो जगत्‌को असत्य, निराश्रय और ईश्वररहित (राजशून्य) कहते हैं, जगत्‌के विनाशकारी वैसे असुर स्वयं ही नष्ट हो जाते हैं।

तत्त्वतः भेद—श्रीमन्मध्वाचार्यने (१) जीव और ईश्वरमें भेद, (२) जीव और जीवमें परस्पर भेद, (३) ईश्वर और जड़में भेद, (४) जीव और जड़में भेद, (५) जड़ और जड़में परस्पर भेद—इन पाँच प्रकारके नित्य भेदोंको स्वीकार किया है। मुक्त अवस्थामें भी यह तारतम्य सर्वदा विराजमान रहता है। इस विषयमें श्रीमध्वाचार्यने स्वरचित महाभारत-तात्पर्य-निर्णयः ग्रन्थके प्रथम अध्यायके ७०-७१ श्लोकमें इस प्रकार लिखा है—

जीवेशयोर्भिदा चैव जीवभेदः परस्परम्।
जड़ेशयोर्जड़ानां च जड़जीवभिदा तथा॥
पञ्चभेदा इमे नित्याः सर्वावस्थासु नित्यशः।
मुक्तानाञ्च न हीयन्ते तारतम्यं च सर्वदा॥

(१) जीव और ईश्वरमें भेद—अपने द्वारा सृष्ट जीवोंके साथ विष्णुका अनादिकालसे आरम्भकर अनन्तकाल तक अत्यन्त भेद है। "ब्रह्म ही अविद्या-उपाधिवशतः जीवादिके रूपमें प्रतीत होते हैं"—यह दुष्ट मत है। ब्रह्म—परम-महान-परिमाणसे युक्त हैं और जीव—अणु-परिमाणसे युक्त हैं। ब्रह्म—समस्त दोषोंसे पूर्णता मुक्त हैं और जीव—दोषपूर्ण हैं। ब्रह्म—अनन्त गुणसम्पन्न और जीव—परिमित

गुणसम्पन्न हैं। ब्रह्म—नित्यमुक्त और जीव—संसारबद्ध हैं। इन दोनोंके बीच परस्पर अभेदकी किसी भी प्रकारसे कल्पना नहीं की जा सकती है। मुक्त अवस्थामें भी जीव और ईश्वरमें नित्यभेद विराजमान रहता है। तब भी जीव भिन्न रूपमें ही अवस्थित रहकर विष्णुकी नित्य सेवा किया करते हैं।

(२) जीव और जीवमें परस्पर भेद—(क) (बद्धजीव) इस संसारमें कोई सुखी, कोई दुःखी, कोई धनी, कोई दरिद्र है, उनकी अवस्था परस्पर एक समान नहीं है।

(ख) (मुक्तजीव) मुक्तिमें एक स्थानमें प्रवेशमात्र तो करते हैं, किन्तु मुक्त अवस्थामें भी योग्यताके अनुसार विष्णुकी विभिन्न सेवाओंमें नियुक्त रहते हैं और उनमें परस्पर सेवा-सुख आदिमें भी तारतम्य रहता है। किसी-किसीका कहना है कि मुक्तिमें सभी एक हो जाते हैं—'सर्वे एकीभवन्ति'—श्रुतिः। शास्त्रमें इस प्रकार जो वर्णन है। उसका गूढ़ तात्पर्य है—जैसे यदि कहा जाये कि सायंकालमें गौएँ गोष्ठमें एकीभूत हो गयीं। यहाँपर प्रयुक्त 'एकीभूत' शब्दके द्वारा अत्यन्त अभेदको न बतलाकर सभीकी एक स्थानमें उपस्थिति या सम्मेलनका ही बोध होता है। मुक्त जीवोंके सम्बन्धमें भी ऐसा ही समझना चाहिये। अथवा यदि यह कहा जाये कि राजागण एक हो गये हैं, इस उक्तिसे राजाओंमें अत्यन्त अभेदकी कल्पना करना मूर्खतामात्र है, परन्तु यहाँपर अर्थ है कि पहले राजाओंमें परस्पर मतभेद था और इस समय वे एक मत हो गये हैं—ऐसा समझना चाहिये। उसी प्रकार मुक्त अवस्थामें सभी जीव विष्णुकी सेवाके लिए एकमत होकर उनकी सेवा करते हैं—ऐसा समझना चाहिये।

(३) ईश्वर और जड़में भेद—'ईश्वर' ज्ञानात्मक, नित्य और निर्विकार हैं, किन्तु 'जड़'—ज्ञानशून्य, नश्वर और विकारी है। इस प्रकार परस्पर विरुद्ध धर्म विशिष्ट वस्तुओंमें कभी भी अभेद सिद्ध नहीं हो सकता।

(४) जीव और जड़में भेद—जीव ज्ञानात्मक हैं इसलिए उसके साथ अज्ञनात्मक जड़का एक्य कदापि नहीं हो सकता।

(५) जड़ और जड़में परस्पर भेद—जहर खानेसे मृत्यु होगी और अमृत पान करनेसे जीवन दान मिलेगा। विष कड़वा और अमृत मधुर लगता है। इस प्रकार विरुद्ध धर्मयुक्त जड़-वस्तुओंमें कभी भी अभेद नहीं हो सकता।

ये पाँच प्रकारके भेद समस्त कालोंमें एवं समस्त स्थानोंमें नित्य विराजमान हैं। विभिन्न-धर्मी वस्तुओंके नष्ट होनेपर भी उनका भेद नष्ट नहीं होता। जैसे एक स्थानमें घड़ा नष्ट हो गया और दूसरे स्थानपर वस्त्र फट गया। प्रत्येक वस्तु ही भिन्न रूपमें उन-उन भिन्न कार्योंके सूक्ष्म-अंशमें तथा भिन्न उपादान-कारण रूपमें अवस्थित है।

तत्त्वगत-भेदके विषयमें प्रमाण—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्यो भिचाकशीति॥
(ऋग्वेद तथा अथर्व उपनिषद)

परस्पर सहयोग तथा मित्र-भावापन्न दो पक्षी (जीव और ईश्वर) एक ही देहरूपी वृक्षपर बैठे हैं। उनमेंसे एक अर्थात् जीव पक्षी पिप्पल (अर्थात् कर्मफल) को परम सुस्वादु समझकर उसका भोजन कर रहा है। दूसरा (ईश्वर) उसका भक्षण ना करके सर्वत्र प्रकाशमान (साक्षीरूप) में विद्यमान है।

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नो अनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः॥
(अथर्वणोपनिषत्)

देहरूपी वृक्षमें अज्ञानान्धकारमें निमग्न रहकर माया द्वारा मोहित पुरुष (जीव) अस्वतन्त्रताके कारण शोक ग्रस्त होता है, परन्तु जिस समय अपने द्वारा सेवित और अपनेसे भिन्न ईश्वर

एवं उनकी महिमाका अवलोकन करता है, उस समय उसके शोकका अन्त हो जाता है।

जीवेश्वरभिदा चैव जड़ेश्वर भिदा तथा।
जीवभेदो मिथश्चैव जड़जीव भिदा तथा॥

मिथश्च जड़भेदो यं प्रपञ्चो भेदपञ्चकः।
सो यं सत्यो ह्यनादिश्च आदिश्चेन्नाश्माप्नुयात्॥

न च नाशं प्रयात्येष न चासौ भ्रान्तिकल्पितः।
कल्पितश्चेन्निवर्त्तते न चासौ विनिवर्त्तते।
द्वैतं न विद्यत इति तस्मादज्ञानिनां मतम्॥

(विष्णु-तत्त्व-निर्णयमें परमश्रुतिः)

इस प्रपञ्चमें जीव और ईश्वरमें भेद, जड़ और ईश्वरमें भेद, जीवोंमें परस्पर भेद, जड़ और जीवमें भेद तथा जड़-वस्तुओंमें परस्पर भेद—ये पाँच भेद सदैव वर्त्तमान हैं। ये भेद सत्य एवं अनादि हैं। यदि इनका आदि अर्थात् उत्पत्ति होती, तो ये विनाशशील होते, परन्तु ये कभी भी विनष्ट नहीं होते। उक्त भेद कल्पित नहीं है, क्योंकि ऐसा होनेसे इसकी निवृत्ति हो जाती, परन्तु इसकी निवृत्ति कभी भी नहीं देखी जाती है। अतएव द्वैत अर्थात् भेद वर्त्तमान नहीं है—इसे मूर्ख लोगोंका मत समझना चाहिये।

जीवोंके विषयमें श्रीमन्मध्वाचार्यका सिद्धान्त—जीव श्रीहरिके नित्य दास हैं। पहले भी कहा गया है कि श्रीमन्मध्वाचार्यके सिद्धान्तानुसार तत्त्व दो प्रकारके होते हैं—(१) स्वतन्त्रतत्त्व और (२) परतन्त्रतत्त्व। स्वतन्त्रतत्त्व—विष्णु हैं, परतन्त्रतत्त्व दो प्रकारके हैं—भाव और अभाव। भाव भी दो प्रकारके हैं—(अ) चेतन अथवा जीव, (आ) अचेतन अथवा जड़। अभाव चार प्रकारके हैं—(अ) प्रागाभाव, (आ) प्रध्वंसाभाव, (इ) अत्यन्ताभाव, (ई) अन्योन्याभाव। अन्योन्याभावमें भावधर्म और अभावधर्म दोनों ही

वर्त्तमान है। अतएव केवलाभाव वास्तविक रूपमें तीन प्रकारके हैं, जैसे 'अगामी कल घट होगा'—यह प्रागाभावका दृष्टान्त है। घट विनष्ट हो गया अर्थात् वर्त्तमानमें उसका अभाव है, इसे प्रध्वंसाभाव कहा जाता है। त्रिकाल अभावको 'अत्यन्त अभाव' समझा जाता है, जैसे शशशृङ्ग (खरगोशके सींग), आकाशकुसुम, कूर्मलोम (कछुएके लोम) इत्यादि अत्यन्त अभावके उदाहरण हैं। घटमें पटत्वका अभाव और पटमें घटत्वका अभाव—इसे अन्योन्याभाव (अन्यमें अन्यका अभाव) कहा जाता है। पूर्वोक्त चेतन अथवा जीव भी तीन प्रकारके हैं—सात्त्विक, राजसिक और तामसिक; अचेतन अथवा जड़ बहुत प्रकारके हैं। विष्णुके उदरमें अनन्त जीव विराजमान हैं और उनमेंसे बद्ध जीवसमूह उपरोक्त तीन भागोंमें विभक्त हैं।

यथा—'दृष्टवा स चेतनगणान् जठरे शयानानानन्दमात्र वपुषः सृति विप्रमुक्तान्। ध्यानंगतान् सृतिगतांश्च सुषुप्ति संस्थान ब्रह्मादिकान् कलिपरान् मनुजां स्तथैक्षत्।' (म॰ ता॰ नि॰ १/४)

भगवान् विष्णुने अपने उदरमें संसारसे पूर्णतया मुक्त आनन्दमय-विग्रह चेतन जीवोंको देखनेके उपरान्त (१) ध्यानगत ब्रह्मादि देवता, (२) संसार दशाको प्राप्त मनुष्य और (३) सुषुप्ति अवस्थामें दैत्य—इन तीन प्रकारके बद्धजीवोंको देखा।

वे सभी (बद्धजीव) अनादि अविद्या और काम्यकर्मके प्रवाहमें बद्ध हैं। सात्त्विक जीव मुक्तिके योग्य हैं, राजसिक नित्य संसारी हैं और तामसिक नरकके योग्य होते हैं। ब्रह्मा, इन्द्र आदि देवता, गन्धर्व, ऋषि, पितृ, चौदह मनु, अष्टवसु, राजा और उत्तम मनुष्य—ये सात्त्विक जीव हैं। राजसिक जीव मनुष्योंमें अधम हैं, क्योंकि वे काम्यकर्मोंमें लगे रहते हैं। कलि, कालनेमी, जरासन्ध, मधुकैटभ, सम्बर, वृत्र, त्रिपुरगण, कालकेय, पौलमा, राक्षस और दानव—ये सभी तामसिक जीव हैं। सात्त्विक जीवोंकी स्वरूपदेह ज्ञानानन्दात्मक है, राजसिक जीवोंकी स्वरूपदेह ज्ञान एवं अज्ञान, सुख एवं दुःख मिश्रात्मक है। तामसिक जीवोंकी स्वरूपदेह केवल

दुःख एवं अज्ञानात्मक है। सात्त्विक जीवोंका सत्य, शौच, दया, शम, दम, वैराग्य, भक्ति आदि स्वरूपानुगत धर्म हैं। राजसिक जीवोंके स्वरूपमें सद्धर्म एवं अधर्म दोनों वर्त्तमान हैं। तामसिक जीवोंमें असत्य, अपवित्रता, क्रूरता, अहङ्कार, इन्द्रिय-चापल्य, विषय-लाम्पट्य, गुरुद्रोह, वैष्णवद्रोह, हरिद्रोह आदि स्वरूपानुग धर्म हैं।

तीन प्रकारके बद्धजीवोंकी गति भी तीन प्रकार—

त्रिविधा जीवसङ्घास्तु देवमानुषदानवाः
तत्र देवा मुक्तियोग्या मानुषेषुत्तमास्तथा।
मध्यमा मानुषा ये तु सृतियोग्याः सदैवहि।
अधमा निरयायैव दानवास्तु तमोलयाः।
मुक्तिर्नित्यातमश्चैव नावृत्तिः पुनरेतयोः।
देवानां निरयो नास्ति तमश्चापि कथञ्चन।
नासुराणां तथा मुक्तिः कदाचित् केनचित् क्वचित्।
मानुषाणां मध्यमानां नैवैतद्द्वयमाप्यते।
असुराणां तमः प्राप्तिस्तदा नियमतो भवेत्।
(म॰ ता॰ नि॰ १/८७-९२)

अर्थात् जीव देव, मनुष्य और दानवके भेदसे तीन प्रकारके हैं। उनमेंसे देवता और उत्तम मनुष्य मुक्तिके योग्य हैं। मध्यम मनुष्य सर्वदा ही संसारके योग्य हैं एवं अधम मनुष्य नरकके योग्य हैं। दानवोंको अन्धतामिस्र नामक नरकमें लय होता है। मुक्ति और अन्धतामिस्र—दोनों ही नित्य हैं। इनमें जानेके पश्चात् जीवकी पुनरावृत्ति नहीं होती। देवताओंको कभी भी नरक या तमोस्थानकी प्राप्ति नहीं होती। इसी प्रकार कहीं भी किसी भी कालमें किसी भी कारणसे असुरोंकी मुक्ति नहीं होती। मध्यम मनुष्यको मुक्ति या अन्धतामिस्र नरककी प्राप्ति नहीं होती। अतएव अन्धतामिस्रकी प्राप्ति केवलमात्र असुर स्वभाववाले जीवोंके लिए है।

बद्धजीवोंके स्वभाविक गुण-दोष—

असुरादेस्तथा दोषा नित्या स्वाभाविका अपि।
गुणदोषौ मनुष्याणां नित्यौ स्वाभाविकौ मतौ॥
गुणैकमात्ररुपास्तु देवा एव सदा मताः।
(गी॰ भा॰ ६/९)

असुरोंमें नित्य और स्वभावसिद्ध रूपमें केवलमात्र दोष ही रहते हैं। काम्यकर्मोंमें लिप्त राजसिक मनुष्योंमें गुण और दोष—ये दोनों ही नित्य और स्वाभाविक रूपमें वर्त्तमान हैं। देवता अर्थात् भगवद्भजन करनेवाले भक्तगण सदैव अपने स्वभावसिद्ध गुणोंसे युक्त होते हैं।

जीवोंके स्वरूपका विचार—

नित्यानन्द ज्ञानबलादेवा नैवं तु दानवाः।
दुःखोपलब्धिमात्रास्तेमानुषास्तु भयात्मकाः।
तेषां यदन्यथा दृशं तदुपाधिकृतं मतम्।
विज्ञानेनात्मयोग्येन निजरूपे व्यवस्थितिः
सम्यग् ज्ञानन्तु देवानां मनुष्याणां विमिश्रितम्।
विपरीतन्तु दैत्यानां ज्ञानस्यैवं व्यवस्थितिः।
(२/३/३२ ब्रह्मसूत्र-भाष्यम्)

अर्थात् देवता नित्य आनन्द, नित्य ज्ञान और नित्य बलसे सम्पन्न होते हैं। दानव ऐसे नहीं होते, वे केवलमात्र दुःख ही भोग करते हैं। मनुष्य सर्वदा भयग्रस्त रहते हैं, परन्तु उनमें जो कभी-कभी अपने जातिगत नियमका विपर्यय देखा जाता है, वह वर अथवा अभिशापके फलस्वरूप होता है। आत्मयोग्य विज्ञानके बलसे सभी अपना स्वरूप लाभ करनेमें समर्थ हैं। देवताओंका ज्ञान यथार्थ, मनुष्योंका ज्ञान मिश्र और दैत्योंका ज्ञान विपरीत होता है। इस प्रकार ज्ञानका विभाग होता है।

सभी बद्धजीवोंकी स्वरूपदेह लिङ्गदेहमें आबद्ध होकर उसके अनुरूप आचरण करनेमें बद्ध है। यह लिङ्गदेह अनादि है। इसी

लिङ्गदेहके बाहर अर्थात् इसके आवरण स्वरूप भगवान् अनिरुद्ध द्वारा प्रत्येक कल्पमें सृष्ट 'कर्मदेह' नामकी एक भौतिक देह है। जीवोंके द्वारा किये गये पूर्वकल्पके अन्तिम कर्मानुसार भगवान् सृष्टिमें प्रविष्ट जीवोंकी भौतिक कर्मदेहकी सृष्टि करते हैं। अर्थात् भगवान्के उदरमें अवस्थित होकर जीव अन्त समयमें जो कर्म करते हैं, तदनुरूप ही सृष्टिके आदिमें जीवोंको कर्मानुसार विभिन्न देहकी प्राप्ति होती है। जगत्में सृष्ट होनेके बाद जीव अपने कर्मोंके अनुसार विभिन्न शरीर प्राप्त करता है। उदरमें स्थित जीवोंका प्रत्येक कल्पमें केवल एक बार ही देह पतन होता है। इसलिए सृष्टिके सृजनकालमें जीवोंकी वह देह नहीं रहती, केवल कर्म ही बचे रहते हैं। उन्हीं कर्मोंके अनुसार ही सृष्टिके आदिमें जीवको नवीन देह प्राप्त होता है।

'निर्देहकान् स भगवाननिरुद्धनामा जीवान् स्वकर्म सहितानुदरे निवेश्य। चक्रे थ देह-सहितान् क्रमशः स्वयम्भु प्राणात्मशेष गरुड़ेश मुखान् समग्रान्॥' (म॰ ता॰ नि॰, अ॰ ९)

अर्थात् भगवान् अनिरुद्धके द्वारा प्रत्येक कल्पमें जीवोंके कर्मके अनुसार उनकी देहकी सृष्टि होती है। वे अपने-अपने कर्मसंस्कारयुक्त देहशून्य जीवको अपने उदरमें सन्निवेशितकर ब्रह्मा, प्राणात्म वायु, शेष, गरुड़ आदि प्रमुख जीवोंको क्रमशः देह युक्त करते हैं।

जीवोंका अनन्तत्व—

अनागता अतीताश्च यावन्तः सहिताः क्षणा
अतीतानागताश्चैव यावन्तः परमाणवः
ततो प्यनन्तगुणिता जीवानां राशयः पृथक्।
परमाणु प्रदेशे पि ह्यनन्ताः प्राणिराशयः।
सूक्ष्मत्वादीश शक्त्यैव स्थूला अपि हि संस्थिताः॥

(विष्णु-तत्त्व-निर्णयमें १ प॰)

अनागत, अतीत और वर्त्तमान—जितने भी क्षण हैं और अतीत, वर्त्तमान एवं अनागत जितने भी परमाणु हैं, जीवोंकी संख्या उनसे भी अनन्तगुणा अधिक है। एक परमाणु जितना स्थान घेरता है, उतने स्थानपर भी अनन्त जीव विद्यमान हैं। यद्यपि वे देहरूप उपाधियोगसे स्थूल हैं, तथापि स्वरूपतः सूक्ष्मतावशतः ईश्वरकी शक्तिके बलसे ही वे ऐसे रूपमें अवस्थान करनेमें समर्थ हैं।

जीवोंके कर्मबन्धनके विषय—

ब्रह्मापरोक्षे पि विकर्म सूचकं प्रारब्ध पापस्य विषाशनं

(भा॰ ता॰ नि॰, अ॰ ३२ श्लोक ११०)

जिस प्रकारसे विषभक्षण जीवके प्रारब्ध पापका सूचक है, उसी प्रकार ब्रह्मविषयक साक्षात् ज्ञान होनेपर भी दुष्कर्मानुष्ठान जीवोंके प्रारब्ध पापका ही सूचक है।

यथा—प्रारब्ध कर्मनाशे हि पतेद्देहोप्यपापिनः

(भा॰ ता॰ नि॰, अ॰ ३२ श्लोक ७८)

प्रारब्ध कर्मोंका नाश होनेपर निष्पाप व्यक्तिका भी शरीर त्याग हो जाता है।

नहि पापफलं मुक्तौ देहपातः कथञ्चन।
किन्तु कर्मक्षयादेव तथा सर्वत्र निश्चितः॥

(भा॰ ता॰ नि॰, अ॰ ३२ श्लोक ८५)

मुक्तिके समय देहत्याग पापके फलस्वरूप न होकर कर्मक्षय होनेके कारण होता है, यह सर्वत्र निश्चित है।

जीवके पूर्वकर्मोंके अनुसार ही सृष्टि—

विद्यन्ते हि तदा जीवाः कालकर्मादिकं तथा।
क्वान्यथा हि पुनः सृष्टिः पूर्वकर्मानुसारिणी॥

(भा॰ ता॰ नि॰ २/९/३३)

सृष्टिके पहले भी जीव और काल–कर्म आदि निमित्त वर्त्तमान रहते हैं, अन्यथा किस प्रकार पुनः सृष्टि हो सकती है? अतएव सृष्टि पूर्वकर्मके अनुसार ही होती है।

जीवोंकी स्वभावयोग्यता—'स्वभावाख्या योगताया हठाख्या यानादि सिद्धा सर्वजीवेषु नित्या। साकारणं प्रथमन्तु द्वितीयमणादि कर्मैव तथा तृतीयः। जीवप्रयत्नः पौरुषाख्यस्तदेतत्त्रयं विष्णोर्वशगं सर्वदैव। हठश्चासौ तारतम्यास्थितो हि ब्राह्मणमारभ्य कलिश्च यावत्।' (भा॰ ता॰ नि॰, अ॰ २२ श्लोक ८४–८६)

अर्थात् स्वभाव या स्वरूपगत योग्यता अथवा दूसरे शब्दोंमें हठ अनादि–सिद्ध एवं सभी जीवोंमें नित्य है। यही सभी जीवोंकी सभी चेष्टाओंका प्रथम कारण है। ध्वंसशील होनेपर भी कर्मोंका प्रवाह अनादि है। ये अनादि पूर्वकर्म ही द्वितीय कारण हैं। इनके अतिरिक्त तात्कालिक प्रयत्न अथवा पौरुष तृतीय कारण है। ये सभी (कारण) मायाधीश स्वतन्त्र विष्णुके अधीन हैं। अर्थात् इन तीन कारणोंके द्वारा भगवान् जीवोंको गति प्रदान करते हैं, किन्तु मायाधीश भगवान्के ऊपर इन कारणोंका कोई आधिपत्य नहीं है। सर्वोत्तम अधिकारी ब्रह्मासे लेकर सर्वाधम अधिकारी कलि तकमें तारतम्य क्रमसे यह योग्यता वर्त्तमान है।

यदि कोई प्रश्न करे कि जब भगवान्के उदरमें जब अनन्त जीव विद्यमान हैं, तो केवल हम जैसे मुठठीभर (अल्पसंख्यक) जीवोंकी ही कर्मदेहकी सृष्टि क्यों हुई, अन्य जीवोंकी कर्मदेहकी सृष्टि क्यों नहीं हुई? इसका उत्तर यह है कि जो जीव आगामी सृष्टिमें प्रवेश करनेके लिए उपयुक्त कर्म करते हैं, उनका ही सृष्टिमें प्रवेश होता है। भगवान्के उदरमें स्थित जीवोंकी जिस कर्मदेहके विषयमें बतलाया गया है, वह स्वरूपदेहका द्वितीय आवरण है। अर्थात् सर्वप्रथम स्वरूपदेह है और उसका प्रथम आवरण लिङ्गदेह है एवं लिङ्गदेहका आवरण 'कर्मदेह' है।

जीवोंकी स्वरूपदेह, लिङ्गदेह और भौतिक (कर्म) देह—ये तीन प्रकारकी देह होती हैं।

यह स्वरूपदेह ही शरीरी या जीवात्मा है। ये नित्य, सच्चिदानन्दमय और विभिन्न आकारोंवाली हैं। वर्त्तमानमें सृष्ट स्थूलदेह अथवा कर्मसाधनीभूत-देह एवं भगवान्‌के उदरमें निवास करनेवाले जीवोंकी कर्मदेहके बीचमें यह पार्थक्य है कि भगवान्‌के उदरमें स्थित कर्मदेह अत्यन्त सूक्ष्म है, परन्तु यहाँकी भौतिक देह स्थूल होती है। भौतिक स्थूलदेहके नाश (मृत्यु) होनेपर जीव (वासनाके वासस्थान) लिङ्गदेहके साथ कर्मके अनुसार स्वर्ग-नरकमें गमनकर सुख-दुःख भोग करनेके लिए 'यातना-देह' नामक एक देह प्राप्त करते हैं अर्थात् स्वर्ग-नरकमें जीवकी स्वरूपदेहका प्रथम आवरण लिङ्गदेह और लिङ्गदेहका आवरण यातना-देह नामक तृतीय शरीर होता है। जब तक लिङ्गदेह छूट नहीं जाता, तब तक किसी भी जीवके स्वरूपकी अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। लिङ्गदेहके आवरणसे मुक्त करानेके लिए ही भगवान् जीवोंको सृष्टिमें प्रवेश कराते हैं। सात्त्विक जीवोंका—गुरु-उपासना, शास्त्रज्ञान और भगवद्भक्तिके द्वारा कल्पके अन्तमें ब्रह्माके साथ लिङ्गदेह नाशको प्राप्त होता है। राजस जीवोंका निषिद्ध और अनिषिद्ध—इन दोनों प्रकारके काम्यकर्मोंके अनुष्ठानके द्वारा कल्पके अन्तमें लिङ्गदेह भङ्ग होता है। तब उनके सुख-दुःख-मिश्रात्मक स्वरूपकी अभिव्यक्ति होती है। तामस जीव काम्य, अकाम्य, निषिद्ध, घोर कर्म, हरि-गुरु-वैष्णव द्रोहादि साधन करके हरि-गुरु-वैष्णव द्रोहके परिणाममें कल्पके अन्तमें लिङ्गभङ्गको प्राप्त होते हैं। तब उनके दुःखाज्ञानात्मक स्वरूपदेहकी अभिव्यक्ति होती है।

आज्ञयैव हरेः केचिदपूर्त्तेः केचिदञ्जसा।
विहृत्यैवान्यलोकेषु मुच्यन्ते ब्रह्मणा सह॥
(भा॰ ता॰ नि॰ २/२/३०)

कोई-कोई जीव साधनकी पूर्णदशामें और श्रीहरिके आज्ञा-क्रमसे एवं कुछ जीव साधनकी अपूर्णताके कारण किसी दूसरे लोकमें

अवस्थान करते हैं। परन्तु वे सभी ही ब्रह्माके साथ बादमें मुक्त हो जाते हैं।

तेह ब्रह्माणमभिसंपद्य यदैतद्विलीयते थ सह ब्रह्मणा परमभिगच्छन्ति इति सोपर्णश्रुतेमहाप्रलये तदध्यक्षेण ब्रह्मणा सह गच्छन्ति।

ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसञ्चरे।
परास्यान्ते परात्मानः प्रविशन्ति परं पदम्॥
(ब्रह्मसूत्र-भाष्यम्, अ॰ ४, पा॰ ३, सू॰ १०-११)

जिस समय महाप्रलय उपस्थित होती है, उस समय समस्त जीव ब्रह्माके साथ मिलित होते हैं, बादमें ब्रह्माके साथ वे विष्णुको प्राप्त होते हैं—इस सौपर्ण श्रुतिके अनुसार महाप्रलयके समय सभी जीव अध्यक्ष ब्रह्माके साथ भगवान् विष्णुको प्राप्त करते हैं।

चतुर्मुख ब्रह्माके परार्धके समाप्त होनेके उपरान्त महाप्रलयकालमें ब्रह्माके साथ सभी जीव परमपदमें प्रविष्ट होते हैं।

मुक्तजीवोंका विविध स्थानोंमें विहार—

आत्मेत्येवपरं देवमुपास्य हरिमव्ययम्।
केचिदत्रैव मुच्यन्ते नोत्क्रामन्ति कदाचन॥

केचित् स्वर्गे महर्लोके जने तपसि चापरे।
केचित सत्ये महाज्ञाना गच्छन्ति क्षीरसागरम्॥

तत्रापि क्रमयोगेन ज्ञानाधिक्यात् समीपगाः।
सालोक्यं च सरूपत्वं सामीप्यं योग एव च।
इमामारभ्य सर्वत्र यावत सु क्षीरसागरे॥
(ब्रह्मसूत्र-भाष्यम्, अ॰ ४, पा॰ ४, सू॰ १९)

कुछ जीव इहलोकमें ही परमदेव अव्ययस्वरूप श्रीहरिकी प्रभुरूपमें उपासना करके मुक्तिलाभ करते हैं, उन जीवोंकी कभी भी मृत्यु नहीं होती। कुछ जीव स्वर्गलोकमें, कुछ महर्लोकमें, कुछ जनलोकमें, कुछ तपलोकमें, कुछ सत्यलोकमें मुक्त होकर अवस्थान करते हैं। जो महाज्ञानी हैं, वे क्षीरसमुद्रमें गमन करते हैं। वहाँ

भी ज्ञानाधिक्यके क्रमानुसार ही भगवान्‌का सामीप्य प्राप्त करते है। पृथ्वीसे क्षीरसागर तक सर्वत्र ही सालोक्य, सामीप्य और सायुज्य समान रूपसे विद्यमान है।

असुराः कलिपर्यन्ता एवं दुःखोत्तरोत्तराः।
कलिर्दुःखाधिकस्तेषु तेप्येवं ब्रह्मवदगणाः
तथान्येप्यसुराः सर्वेगणा योग्यतया सदा।
ब्रह्मैव सर्वजीवेभ्यः सदा सर्वगुणधिकः।
(भा॰ ता॰ नि॰, अ॰ १ श्लोक १३६-१३७)

इस प्रकार देवताओंके आनन्दके तारतम्य-क्रमसे कलियुग तक असुरोंके भी दुःखोंका तारतम्य रहता है। इनमें सर्वापेक्षा कलिके दुःखका आधिक्य है। जिस प्रकार ब्रह्मादि देवताओंके भिन्न-भिन्न गण हैं, उसी प्रकार कलिरूपी असुरके भी भिन्न-भिन्न गण हैं। जैसे पूर्व कलिके असुर, भावि कलिके असुर एवं वर्त्तमान कलिके असुर। कलिकी भाँति अन्यान्य असुरोंके यथा—कालनेमि, विप्रचित्ति आदिके भी योग्यताके तारतम्यके अनुसार भिन्न-भिन्न गण हैं। समस्त जीवोंमें सदा ब्रह्मा ही सर्वाधिक गुणयुक्त हैं।

दुःखेपि तेषामिह तारतम्यं कलेः परं दुःखमिहाखिलाच्च।
यथा विरिञ्चस्य वरं सुखं स्यात् मुक्तो हरिद्वेष कृतो विशेषः॥
(भा॰ ता॰ नि॰, अ॰ ३२ श्लोक १२९)

अन्धतम नरकमें प्रविष्ट दैत्योंके दुःखोंमें भी तारतम्य है। जिस प्रकार सर्वोत्कृष्ट साधनसम्पन्न ब्रह्माको मुक्तिके समय सर्वापेक्षा अधिक सुख प्राप्त होता है, उसी प्रकार सर्वापेक्षा अधम साधनसम्पन्न कलिको भी अन्यान्य दैत्योंकी अपेक्षा अन्धतम नरकमें अधिक दुःखभोग होता है। भगवान् श्रीहरिके प्रति द्वेष एवं श्रीहरिके प्रति उन्मुखता ही इस प्रकारके वैषम्यका कारण है।

सात्त्विक जीवोंका क्रम—सात्त्विक जीवोंमे सर्वोत्तम चतुर्मुख ब्रह्मा है, तदनन्तर सरस्वती, शेष, गरुड़ इत्यादि देवता, तदनन्तर

ऋषिगण, पितृगण, चक्रवर्त्तीगण, मनुष्योंमें उत्तमगण—इस प्रकार सात्त्विक जीवोंमें तारतम्य है। राजसिक लोगोंके तारतम्यके विषयमें कहीं विशेष रूपसे उल्लेख नहीं मिलता। तामसिक लोगोंमें सर्वप्रधान कलि है। जिस प्रकार सात्त्विक जीवोंमें चतुर्मुख ब्रह्मा सर्वाधिक उत्तम साधनसम्पन्न हैं, उसी प्रकार तामसिक जीवोंमें कलि सर्वाधिक निम्न साधनसम्पन्न है। कलिके पश्चात् कालनेमि, जरासन्ध आदि उत्तरोत्तर क्रममें विराजमान हैं। सात्त्विक जीवोंसे राजसिक जीवोंकी संख्या अधिक है। राजसिक जीवोंकी अपेक्षा तामसिक जीवोंकी संख्या और भी अधिक है। मुक्त उत्तम मनुष्योंसे लेकर चतुर्मुख ब्रह्मा तक क्रमशः मुक्तिदशामें आनन्दका शतगुणा अधिक तारतम्य है। यथा—उत्तम मनुष्योंसे चक्रवर्ती लोगोंमें आनन्दका तारतम्य शतगुणा अधिक है, चक्रवर्त्ती लोगोंसे पितृगणोंका, पितृगणोंसे ऋषिओंका, ऋषिओंसे देवताओंका, क्रमानुसार तारतम्य उत्तरोतर शतगुणा अधिक है। उनका साधन भी तदनुरूप शतगुणा अधिक है।

सात्त्विक जीवोंके क्रम और गुणोंके तारतम्यका विस्तृत रूपसे वर्णन बृहदारण्यकोपिनिषद, तृतीय अध्याय, ५ब्रा० मध्वभाष्यमें मिलता है।

एकमात्र चतुर्मुख ब्रह्माकी ही सायुज्य मुक्ति होती है। सायुज्य मुक्तिके सम्बन्धमें अन्यान्य सम्प्रदायोंमें जिस प्रकारकी धारणा है, श्रीमन्मध्वाचार्य द्वारा कथित सायुज्य मुक्ति उनसे भिन्न है। 'सायुज्य' के सम्बन्धमें श्रीमन्मध्वाचार्य कहते हैं कि पुरुषदेहमें पिशाचीके प्रवेश करनेकी भाँति अथवा लौह-पिण्डमें अग्निके प्रवेश करनेकी भाँति स्वबिम्बरूप विष्णुमें आवेशका नाम ही सायुज्य है। जिस प्रकार पुरुषदेहमें प्रविष्ट होकर पिशाच पुरुष द्वारा किये गये सभी भोगोंका अनुभव करता है, किन्तु पिशाच स्वयं पुरुष नहीं है और कुछ समय पश्चात् वह पुरुषसे पृथक् रूपमें अवस्थित हो सकता है, लौह-पिण्डमें अग्नि प्रविष्ट होनेपर भी लौह-पिण्ड एवं अग्नि दोनों पृथक् वस्तु हैं, कुछ समय पश्चात् अग्नि लौह-पिण्डसे

अलग हो सकती है, उसी प्रकार भगवान् विष्णुमें ब्रह्माका जो निरुपाधिक बिम्ब है, निरुपाधिक प्रतिबिम्बस्वरूप ब्रह्मा अपने उस बिम्बरूपमें इच्छानुसार प्रवेश करते हैं, यह ब्रह्माका अपने आत्मबिम्बमें प्रवेश करना मात्र है, ब्रह्मा अन्य किसी रूपमें विष्णुमें प्रवेश नहीं कर सकते और उनसे मिलकर एक नहीं हो सकते। पुनः इच्छानुसार ब्रह्मा उस बिम्ब रूपसे पृथक् रूपमें भी स्थिर हो सकते हैं। किसी विशेष कारणवश ब्रह्म-सायुज्य और ईश्वर-सायुज्यमें जो एकान्त अभेद स्वीकृत होता है, उससे ब्रह्माका सायुज्य अथवा श्रीमन्मध्वाचार्यके सिद्धान्तके अनुसार सायुज्य मुक्तिकी धारणा पृथक् है। अन्य मुक्तोंमेंसे कोई-कोई सामीप्य मुक्ति, कोई-कोई सालोक्य मुक्ति प्राप्त करते हैं, किन्तु सारूप्य मुक्ति सभीको प्राप्त होती है। सारूप्य कहनेसे स्वबिम्बरूप सामानाकारकी अभिव्यक्ति होती है। इस स्थानमें श्रीरामानुज-सम्प्रदायके साथ श्रीमध्व-सम्प्रदायके विचारमें मतभेद देखा जाता है। श्रीरामानुजीय वैष्णवगण कहते हैं कि मुक्तिमें सभी सारूप्य लाभकर नित्य चतुर्भुजाकार प्राप्त करते हैं। किन्तु श्रीमध्वगण कहते हैं कि जिनका जो नित्य स्वरूपदेह है, उन सभी स्वरूपदेहोंके विभिन्न बिम्बरूप भगवान्में भी हैं और जीवोंकी मुक्ति होनेपर उन्हीं समस्त बिम्बरूपोंके समानाकारकी अभिव्यक्ति होती है। अतएव मुक्तगणोंमें कोई सच्चिदानन्दाकार चतुर्भुज, कोई द्विभुज मनुष्य, कोई पशु, पक्षी, तृण आदि स्वरूपदेहके अनुसार अभिव्यक्त होता है। इस प्रकार मुक्ति-प्राप्त जीवोंमेंसे कोई अपनी इच्छानुसार सृष्टिकालके समय वैकुण्ठमें, कोई अनन्तके स्थानमें, कोई स्वर्गसे आरम्भकर सत्यलोक तक सर्वत्र सुख-ज्ञानादिपूर्ण और नाना प्रकारके अप्राकृत दिव्य-ज्ञानानन्दके अनुभव और भगवत्-कीर्त्तन-ध्यानादि सेवामें नियुक्त होकर विचरण करते हैं। कल्परात्रिकालमें अथवा सृष्टि नहीं रहनेपर ये सभी वैकुण्ठलोकमें अवस्थान करते हैं। जिनका साधन पूर्ण हो गया है, वे सभी जीवन्मुक्त पुरुष भी

भगवान्‌की आज्ञासे ब्रह्मकल्पसे अन्तकाल तक सान्तानिकादिलोकमें[1] निवासकर भगवत्-सेवामें नियुक्त रहते हैं।

ब्रह्मा-कल्पके बीत जानेपर सभीका चतुर्मुख ब्रह्माके साथ वैकुण्ठलोकमें प्रवेश होता है। वैकुण्ठमें प्रविष्ट सभी जीव ज्ञानानन्दात्मक देहमें वहाँ नित्यकाल निवासकर भगवत्-सेवा किया करते हैं और अपनेसे श्रेष्ठ भगवत्-सेवकोंके प्रति विनय-दैन्य-नमस्कार-सेवादि प्रदर्शन करते हैं। उनका भौतिक जगत्‌में पुनरागमन नहीं होता। जिनका स्वतःसिद्ध स्वरूप ही राजसिक अथवा नित्यकाम्य-कर्मी है, वे स्वर्ग, पृथ्वी और अन्तरीक्षमें विचरण करते हैं। उन्हें इस प्रकारके स्वरूपकी अभिव्यक्तिरूपी मुक्तिलाभ होनेसे उनका पुनः गर्भवास आदि जन्म अथवा मरण नहीं होता। तामसिक जीवोंके हरि-गुरु-वैष्णवोंके प्रति द्रोहादि करते हैं। साधनके परिपक्व होनेपर वे अपने नित्य तामसिक स्वरूपकी अभिव्यक्तिरूप मुक्ति प्राप्तकर अन्धतम (नरक) में प्रवेश करते हैं। उनका भी अन्धतमसे पुनरागमन नहीं होता। यही उनके पक्षमें मुक्ति है। एक कल्पमें सृष्टिमें प्रविष्ट जीवोंका भावी कल्पमें सृष्टिमें प्रवेश नहीं है।

भुञ्जते पुरुषं प्राप्य यथादेव ग्रहादयः।
तथा मुक्तावुत्तमायां विष्णुमाविश्य भुञ्जते॥
(ऐतरेय-भाष्यम्, अ॰ २ मन्त्र ३)

जिस प्रकार देव, ग्रहादि मनुष्यके शरीरमें प्रवेशकर उसके शरीरकृत सुख-दुःखका भोग आदि किया करते हैं, उसी प्रकार उत्तमा (सायुज्य) मुक्तिमें जीव आत्मबिम्बरूप विष्णुमें प्रविष्ट होकर उनके साथ आनन्द भोग करते हैं।

विष्णोर्वशाश्च ते सर्वे सर्वदा दुःखवर्जिताः।
न तु विष्णुगुणान् सर्वान् भुञ्जते ते कदाचन॥

---

[1] जनलोकके एक स्थानमें सान्तानिक लोक है।

बाह्यभोगान् भुञ्जते च तारतम्येन कांश्चन।
विष्णोर्देहाद्‌वहिश्चापि निर्गच्छन्ति यथेष्टतः॥

विमुक्तिकाले प्रविशन्त्यभीक्ष्मं भोगांश्च तद्देहगताः प्रभुञ्जते। आनन्दसुव्यक्तिरमूत्र तेषां भवत्यतश्चेष्टत एव निर्गताः। क्रीड़न्ति भूयश्चसमाविशन्ति तानेव सायुज्यमिदं वदन्ति। सायुज्य हीनास्तु लये तु सर्वे प्रोक्तेन मार्गेन विशन्तिसृष्टौ। बहिश्च निर्यान्ति ततोन्यदापि सायुज्यभाजां भवति प्रवेशः। (अनुव्याख्यानम्, अ॰ ३ पा॰ ४)

देव, ग्रहादि जिस प्रकार बलपूर्वक मनुष्योंके शरीरमें प्रवेश कर सकते हैं, मुक्त जीवोंका भगवत्-शरीरमें प्रवेश ऐसा नहीं है। सायुज्य मुक्तियोग्य जीव विष्णुके अधीन होते हैं। वे विष्णुकी इच्छानुसार ही विष्णुके शरीरमें प्रवेश करते हैं एवं वे सभी सर्वदा दुःखरहित होकर वहाँपर नित्य आनन्द भोग करते हैं। वे अनन्त गुणपूर्ण विष्णुके गुणोंका कभी भी सम्पूर्ण रूपसे भोग नहीं कर सकते। विष्णुके शरीरमें प्रविष्ट कोई-कोई जीव बाह्यभोगकी योग्यताके अनुसार ही भोग करते हैं। जैसे विष्णुके रथपर चढ़ने या हाथीपर सवार होनेपर वे भी विष्णुके शरीरमें प्रविष्ट रहकर उन सभी सुखोंको भोग करते हैं। पुनः इच्छा होनेपर वे विष्णुके शरीरसे बाहर भी निकल सकते हैं। सायुज्य मुक्ति प्राप्त होनेपर वे इच्छानुसार विष्णुके शरीरमें प्रवेशकर विष्णुदेहगत भोगोंको भलीभाँति भोग करते हैं। विष्णुदेहमें उनके स्वरूपानन्दकी अभिव्यक्ति होती है। वे इच्छानुसार विष्णुदेहसे निकलकर क्रीड़ा करते हैं और पुनः विष्णुके शरीरमें प्रविष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार भगवान्‌के शरीरमें प्रवेश और उनके साथ आनन्दादि भोगको ही पण्डित लोग 'सायुज्य मुक्ति' कहते हैं। सायुज्य मुक्तिरहित अन्य सभी मुक्त-जीव प्रलयकालमें अर्च्चिरादि मार्गसे मोक्षधाममें प्रवेश करते हैं और सृष्टिकालमें स्वेच्छानुसार बाहर निकल जाते हैं। सायुज्यको प्राप्त करनेवाले जीव सृष्टिकाल और लयकाल अर्थात् सभी समय विष्णुके शरीरमें प्रविष्ट रहते हैं।

मुक्तिके सम्बन्धमें श्रीमन्मध्वाचार्यके विचार—जीवके स्वरूपका विचार करते समय मुक्तिके सम्बन्धमें श्रीमन्मध्वाचार्यके सिद्धान्तकी बहुत आलोचना पहलेसे ही हो चुकी है। भगवान् जीवके स्वरूपकी योग्यताके अनुसार जीवके द्वारा ही पूर्वकर्म करवाया करते हैं। पुनः योग्यता और पूर्वकर्म—इन दोनोंके अनुसार आधुनिक प्रयत्न करवाते हैं और जीवकी योग्यता, पूर्वकर्म-परम्परा और आधुनिक प्रयत्न—इन तीनों कार्योंके अनुसार फल प्रदान करते हैं। गुरुकी सेवा, शास्त्र-श्रवण-मनन-कीर्त्तनरूपा भक्ति तृतीय-साधन अर्थात् तात्कालिक प्रयत्नके अन्तर्गत है। श्रवण, मनन और कीर्त्तनरूपी तीन साधनोंका अनुसरण करनेपर भगवान् श्रीहरि जीवको उसके स्वरूपकी अभिव्यक्ति करा देते हैं। भक्ति साधनके द्वारा सात्त्विक पुरुषोंकी भौतिक देहका विनाश होनेपर उनके जिस नित्य स्वरूपकी अभिव्यक्ति होती है, वही मुक्ति है। अतः वह मुक्ति आगन्तुक अर्थात् आने-जानेवाला धर्म नहीं है। यह जीवोंके स्व-स्वरूपका अवस्थानमात्र है।

जीवोंके स्वरूपके आवरण दो प्रकारके हैं—(१) जीवावरण और (२) परावरण। जीवावरण जीवाश्रिता अविद्या है। जिस प्रकार राखके द्वारा आच्छादित होकर अग्नि गूढ़ रूपमें अवस्थित रहती है, उसी प्रकार अविद्या या जीवावरणके द्वारा जीवस्वरूप गूढ़ रूपमें अर्थात् सुप्त रूपमें अवस्थित रहता है। परावरण पराश्रिता अर्थात् ईश्वरकी मायाशक्ति जो जीवके हृदय-कमलमें स्थित परमपुरुषके दर्शनमें सदैव बाधा उत्पन्न करती है। भगवान्के प्रसन्न होनेपर वे जीव-आवरणरूप अविद्याको सब प्रकारसे विनष्ट कर देते हैं एवं परावरण मायाको भी दूर कर देते हैं। तब जीव अपने हृदयमें निवास करनेवाले परमपुरुषके दर्शन कर पाता है। जब जीव भगवान्का दर्शन करता है, तभीसे जीवका कर्मबन्धन नहीं रहता। जीव जब अपने चिन्मय नेत्रोंसे एक बार भी भगवान् विष्णुके दर्शन कर लेता है, तभीसे जीव अपने सर्वाश्चर्यतम

आराध्य प्रभु श्रीभगवान्के नामोंका कीर्त्तन और उनका स्मरण करते-करते सर्वत्र आसक्तिरहित होकर अवधूतकी भाँति विचरण करता है।

अभ्यासवश उसमें भिक्षाटन प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होनेपर भी वह भगवत्-सेवाके लिए अत्यन्त व्यग्र रहता है तथा भगवान्की सेवाको प्राप्त करनेकी चेष्टाओंमें ही सुख एवं तृप्ति लाभ करता है। भगवत्-दर्शनके आनन्दमें मग्न रहकर वह कभी हँसता है, कभी रोता है, कभी उन्मत्तकी भाँति विचरण करता है और कभी जड़ और गूँगेकी भाँति अवस्थान करता है। अपरोक्ष ज्ञान-प्राप्त करनेपर पुरुष जो सत्-कर्म करता है, उन सत्-कर्मोंका फल उसके बन्धु प्राप्त करते हैं और प्रमादवशतः यदि वह कभी असत्-कर्म भी करता है, तो उस असत्-कर्मका फल उसके विरोधी-लोग प्राप्त करते हैं (वह स्वयं कोई फल नहीं भोग करता)। अपरोक्ष ज्ञानको प्राप्त करनेके पश्चात् भी चतुर्मुख ब्रह्माजीमें भगवत्-इच्छासे सृष्टि करनेकी प्रवृत्ति होती है। अपरोक्ष ज्ञानप्राप्त जीवन्मुक्त पुरुष भगवत्-इच्छासे जगन्मङ्गलकर कार्य किया करते हैं; जैसे शुक, नारद आदि द्वारा जगत्में हरिकथाका प्रचार करना। मुक्त अवस्थामें भी सभीका स्वरूपगत तारतम्य है। स्वरूपमें तारतम्य रहनेसे स्वरूपगत ज्ञान और आनन्द उपलब्धिमें भी तारतम्य विद्यमान है।

मोक्षका साधन—अमलभक्ति ही मोक्षका साधन है। यह भक्ति तीन प्रकारकी होती है—(१) साधारणीभक्ति, (२) परमाभक्ति और (३) स्वरूपभक्ति।

सद्गुरुके निकट शास्त्रोंके श्रवणसे पूर्व जो भक्ति उदित होती है, वह साधारणीभक्ति है। जो लोग सद्गुरुके चरणोंमें उपस्थित होकर भी श्रौतपन्थासे तत्त्वज्ञान न लाभकर धन, पुत्र, पशु, गृहादिके लिए भगवान्के निकट प्रार्थना किया करते हैं, उनकी चेष्टाएँ 'साधारणीभक्ति' की गिनतीमें भी नहीं आयेगी, अपितु वह

'अधमाधमा'—अधमसे भी अधम हैं। वह चेष्टाएँ कभी भी ज्ञान अथवा मोक्ष प्रदान करनेवाली नहीं हो सकती।

अपरोक्ष-ज्ञान या भगवत्-दर्शनके पश्चात् जिस भक्तिका उदय होता है, वही 'परमाभक्ति' है। यही कर्म आदि अभिलाषासे रहित होनेके कारण 'अमलाभक्ति' के नामसे प्रसिद्ध है। इस परमाभक्तिके द्वारा ही भगवान्‌की परम कृपाकी प्राप्ति होती है। यह मोक्षका साधन होनेके कारण साधनभक्तिके अन्तर्गत है। भगवान्‌की 'परम कृपा' प्राप्त होनेपर जीवोंको मोक्षकी प्राप्ति होती है। मोक्षके पश्चात् जीवके स्वरूपमें जो नित्य भक्ति वर्त्तमान रहती है, वही स्वरूपभक्ति अथवा साध्यभक्ति है। जीवके सम्बन्धमें भक्तिका साधन ही सर्वप्रधान है, यही भगवत्-कृपा पानेका एकमात्र उपाय है।

वेदमें सर्वत्र मोक्षके साधन स्वरूप जिस ज्ञानकी बात कही गयी है, वह अपरोक्ष-ज्ञानका ही निर्देशक है। निर्विशेष-ज्ञान अन्धतम है, अतः यह असुरादिके लिए प्राप्य है। सात्त्विक पुरुषोंके हृदयमें ही भक्तिवृत्ति उदित होती है। शिशुपाल, दन्तवक्र, कंस, जरासन्ध आदि असुरोंको भगवान्‌का दर्शन और उनकी महिमाका ज्ञान होनेपर भी उनके हृदयमें भगवान्‌के प्रति भक्ति उदित नहीं होती, अपितु दर्शन और महिमा श्रवणसे भगवान्‌के प्रति विरोध ही वर्द्धित हुआ करता है। शास्त्र-वचनोंके अनुसार गौओंके दर्शन और स्पर्श आदिके द्वारा पुण्य होता है, किन्तु बाघ द्वारा गायका स्पर्श और दर्शन पुण्यके स्थानपर हिंसा ही वर्द्धित किया करता है, असुरोंके द्वारा भगवत्-दर्शन भी उसी प्रकार है। श्रीमन्मध्वाचार्यपादने भक्तिकी संज्ञा इसी प्रकारसे निर्देश की है—

माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढ़सर्वतो धिकः।
स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चान्यथा॥

(भा॰ ता॰ नि॰ १/८६ संख्यामें उद्धृत ब्रह्मतर्क वाक्य)

अर्थात् भगवान्का माहात्म्य जान लेनेपर आत्म एवं आत्म-सम्बन्धी सभी वस्तुओंसे अत्यन्त विलक्षण, सुदृढ़, निरुपाधिक स्नेहको ही शास्त्रोंमें 'भक्ति' कहा गया है। ऐसी भक्तिके द्वारा ही मुक्ति प्राप्त होती है, किसी अन्य उपायके द्वारा नहीं।

श्रील जयतीर्थपाद द्वारा दी गयी भक्तिकी संज्ञा—अनन्तानवद्य-कल्याणगुणपूर्णत्वज्ञानपूर्वकः स्वात्मात्मीय वस्तुभ्यो तिशयित विलक्षणः अन्तरायसहस्रेणाप्यप्रतिबद्धो निरुपाधिकनिरन्तरप्रेम-प्रवाहः। अर्थात् 'मैं' और 'मेरी' कहलानेवाली वस्तुओंसे अत्यधिक विलक्षण, हजारों बाधाओंके उपस्थित होनेपर भी नहीं रुकनेवाली, दोषोंसे रहित तथा अनन्त-कल्याण गुणोंसे युक्त भगवान् श्रीहरिके प्रति ज्ञानपूर्वक निरुपाधिक निरन्तर प्रेमके प्रवाहको 'भक्ति' कहते हैं। (न्यायसुधा १म अ०, १म पाद, १म अधिकरण)

श्रीमन्मध्वाचार्य द्वारा लिखित साधनका क्रम—

भक्त्या ज्ञानं ततो भक्तिस्ततो दृष्टिस्ततश्च सा।
ततो मुक्तिस्ततो भक्तिः सैव स्यात् सुखरूपिणी॥

(अनुव्याख्यानम्, ३ अ०, ४ पा०)

अर्थात् सर्वप्रथम श्रद्धारूपी भक्तिके द्वारा साधु-शास्त्र मुखसे भगवान्की महिमाका ज्ञान होता है, तदनन्तर अपरोक्ष साधनीभूता भक्तिका उदय होता है, तदनन्तर अपरोक्ष-ज्ञान प्राप्त होता है, तदनन्तर परमाभक्ति, तदनन्तर मुक्ति अथवा विष्णुके चरणकमलोंकी प्राप्ति होती है, तदनन्तर स्वरूपभक्ति या साध्यभक्तिका उदय होता है और वही परमसुखरूपिणी होती है।

मुक्तोऽपितद्वशो नित्यं भूयो भक्ति समन्वितः।
साध्यानन्दस्वरूपैव भक्तिर्नैवात्र साधनम्॥

(गी० ता०, २ अ० ११ श्लोक)

अर्थात् मुक्त पुरुष भी नित्य भगवान्के अधीन रहते हैं और प्रचुर भक्तियुक्त होते हैं। मुक्तपुरुषोंकी भक्तिका नाम ही साध्यभक्ति है, वह आनन्दस्वरूपिणी है। वह साधनभक्ति नहीं है।

त्रिविध प्रमाण—श्रीमन्मध्वाचार्यके मतानुसार प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम—ये तीन प्रकारके प्रमाण स्वीकृत हैं। प्रत्यक्ष प्रमाण सात प्रकारके हैं—(१) साक्षी (जीवस्वरूप, 'अहं' इत्यादि प्रकारका ज्ञान), (२) मन, (३) चक्षु, (४) श्रोत्र, (५) घ्राण, (६) रसना, (७) त्वचा। साक्षी—आत्मस्वरूप, अविद्या, मन, मन-वृत्तात्मक मानस ज्ञान, काल और आकाश—इन विषयोंको प्रत्यक्ष करता है। सुख-दुःख मनके साक्षात् प्रत्यक्ष विषय हैं। मन इन्द्रियोंके द्वारा अन्य समस्त विषयोंको अपरोक्ष रूपमें प्रत्यक्ष करता है। साक्षी निर्दोष है, किन्तु नेत्र आदि इन्द्रियोंके प्रत्यक्ष अनुभवमें दोषकी सम्भावना है।

'प्रत्यक्ष' चार प्रकारके होते हैं—(१) ईश प्रत्यक्ष, (२) लक्ष्मी प्रत्यक्ष, (३) ब्रह्मादि-योगी प्रत्यक्ष और (४) मनुष्य-पशु-पक्षी-अयोगी प्रत्यक्ष। 'अनुमान'—हेतु, उपपति, युक्ति, लिङ्ग, आदि शब्दोंमें व्यवहृत होता है। लिङ्गज्ञानसे अप्रत्यक्ष वस्तुका ज्ञान होता है। लिङ्गज्ञान ही अनुमान है। विरोध, असत्-पक्ष, असिद्धि, बाधा आदि दोष अनुमानमें भ्रष्टता उत्पन्न करते हैं। इन सभी दोषोंसे निर्मुक्त होनेके लिए अर्थज्ञान प्रदान किया जाता है। प्रत्यक्ष और आगमके अनुकूल अनुमान ही प्रमाणके रूपमें स्वीकृत होता है, इनके विरुद्ध अनुमान अप्रामाणिक है।

आगम दो प्रकारके हैं—(१) अपौरुषेय और (२) पौरुषेय। 'अपौरुषेय' आगम ऋगादि वेद, उपनिषद्, मन्त्र, ब्राह्मण, परिशिष्ट भाग आदि हैं। 'पौरुषेय' आगम इतिहास, पुराण, पञ्चरात्र आदि हैं। ब्रह्मसूत्रके अनुसार ही वेदोंका अर्थ कहना उचित है। वेदोंके तात्पर्यमें सन्देह उपस्थित होनेपर पुराणादिके अनुसार ही वेद-वचनोंका तात्पर्य ग्रहण करना चाहिये। उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद और उपपत्ति—इन छह प्रकारके लिङ्गोंके द्वारा शास्त्रोंका तात्पर्य निरूपण करना चाहिये। इन लिङ्गोंमें उत्तरोत्तर प्राबल्य है। तथा उनकी बहुत प्रकारकी प्रबलताको विचारकर ही शास्त्रोंका यथार्थ अर्थ निरूपण करना चाहिये।

पुराण तीन प्रकारके हैं—(१) सात्त्विक, (२) राजसिक और (३) तामसिक। श्रीमद्भागवतादि सात्त्विक पुराण ही प्रमाण हैं, राजसिक पुराणोंमें भी यदि कोई अंश सात्त्विक पुराणके वचनके अनुकूल होता है, तो राजसिक पुराणका वह अंश भी प्रमाणके रूपमें गृहीत होगा। सात्त्विक पुराणोंमें जो अंश सत्त्व-विरुद्धभाव प्रकाश करते हैं, वे अंश द्वैत्योंको मोहित करनेके लिए हैं, ऐसा समझना चाहिये। अतएव सात्त्विक पुरुषोंके लिए वह अंश ग्रहणीय नहीं है। तामसिक पुराणोंकी रचना दैत्य-मोहनके लिए ही है। अन्यान्य पुराणोंके जो अंश सात्त्विक-पुराणोंके अनुकूल हैं, वे सभी प्रमाणके रूपमें ग्रहणीय है।

श्रीमन्मध्वाचार्यके कतिपय उपदेश—

वैष्णवोंकी श्रेष्ठता—

स नाम सुकृती लोके कुलं तेनाभ्यलङ्कृतम्।
आधारः सर्वभूतानां येन विष्णुः प्रसादितः॥
(कृष्णामृतमहार्णवम् ५)

इस संसारमें जिन्होंने भगवान् विष्णुको प्रसन्न कर लिया है, वे ही सुकृतिवान हैं, उनके द्वारा ही कुल अलंकृत होता है एवं वे ही निखिल प्राणियोंके आश्रयस्वरूप हैं।

कलौ कलिमलध्वंसि-सर्वपापहरं हरिम्।
येऽर्चयन्ति नरा नित्यं तेऽपि वन्द्या यथा हरिः॥
(कृष्णामृतमहार्णवम् ७)

कलियुगमें जो मनुष्य प्रतिदिन कलिका मल ध्वंस करनेवाले सर्वपाप-विनाशक श्रीहरिका अर्चन करते हैं, वे भी श्रीहरिके समान वन्दनीय हो जाते हैं।

विष्णुपूजा ही कर्त्तव्य—

समस्त-लोकनाथस्य देवदेवस्य शार्ङ्गिणः।
साक्षाद्भगवतो विष्णोः पूजनं जन्मनः फलम्॥
(कृष्णामृतमहार्णवम् १४)

निखिल प्राणियोंके नाथ, देवोंके देव, साक्षात् भगवान् श्रीविष्णुकी आराधना करना ही मनुष्य जन्म-ग्रहण करनेका यथार्थ फल है।

श्रीनाम-माहात्म्य—

नाम्नोऽस्ति यावती शक्तिः पापनिर्हरणे हरेः।
तावत् कर्त्तुं न शक्नोति पातकं पातकीजनः॥ ब्रह्मा॥

(कृष्णामृतमहार्णवम् ३६)

मेरे (आदि) गुरुदेव ब्रह्मा कहते हैं—श्रीहरिके नामके (आभासमात्र) में जीवोंके पापोंका हरण करनेकी जितने परिमाणमें शक्ति है, पातकी लोग उतने परिमाणमें पाप ही नहीं कर सकते।

हृदि रूपं मुखे नाम नैवेद्यमदुरे हरेः।
पादोदकञ्च निर्माल्यं मस्तके यस्य सोऽच्युतः॥

(कृष्णामृतमहार्णवम् ४४)

जिनके हृदयमें श्रीहरिका रूप, मुखमें श्रीहरिनाम, उदरमें श्रीहरिका नैवेद्य, मस्तकपर श्रीहरिका पादोदक (चरणामृत) और निर्माल्य वर्त्तमान हैं, वे विष्णुसे अभिन्न हैं।

कुरुक्षेत्रेण किं तस्य किं काश्या पुष्करेण किम्।
जिह्वाग्रे वर्त्तते यस्य हरिरित्यक्षरद्वयम्॥

(कृष्णामृतमहार्णवम् ७२)

जिनकी जिह्वाके अग्रभागमें 'हरि'—ये दो अक्षर नृत्य करते हैं, उन लोगोंके लिए कुरुक्षेत्र, काशी या पुष्कर आदि तीर्थ यात्राका क्या प्रयोजन है?

सा जिह्वा या हरिं स्तौति तच्चित्तं यत्तदर्पणम्।
तावेव केवलौ श्लाघ्यौ यौ तत्पूजाकरौ करौ॥

(कृष्णामृतमहार्णवम् ७४)

वही जिह्वा ही जिह्वा है, जो श्रीहरिका स्तव करती है, वही चित्त ही चित्त है, जो चित्त हरिको समर्पित है, वे दोनों हाथ ही प्रशंसनीय हैं, जो विष्णुकी पूजामें रत रहते हैं।

अन्य देवताओंकी पूजा निषिद्ध—

स्वधर्मन्तु परित्यज्य परधर्मं चरेद् यथा।
तथा हरिं परित्यज्य योऽन्यं देवमुपासते॥
(कृष्णामृतमहार्णवम् ११५)

श्रीहरिको त्यागकर अन्य देवताओंकी उपासना करना स्वधर्म त्यागकर परधर्म आचरण करनेकी भाँति निरर्थक है।

विष्णुपूजा ही कर्त्तव्य—

यावत् स्वास्थ्यं शरीरेषु करणेषु च पाटवम्।
तावदर्चय गोविन्दमायुष्यं सार्थकं कुरु॥
(कृष्णामृतमहार्णवम् १२१)

जब तक शरीर स्वस्थ है तथा सभी इन्द्रियोंमें पटुता वर्त्तमान है, तब तक श्रीहरिका अर्चनकर जीवनको सार्थक करना चाहिये।

स्मार्त्तमत खण्डन—

श्वदृतो पञ्चगव्यश्च दशम्या दुषितां त्यजेत्।
एकादशीं द्विजश्रेष्ठाः पक्षयोरुभयोरपि॥
(कृष्णामृतमहार्णवम् १२९)

श्रेष्ठ ब्राह्मणगण कुत्तेके चर्मसे बने पात्रमें रखे पञ्चगव्यके त्यागकी भाँति दोनों पक्षकी दशमी विद्धा एकादशीका परित्याग करेंगे।

अथवा मोहनार्थाय मोहिन्या भगवान् हरिः।
अर्थितः कारयामास व्यासरूपी जनार्द्दनः॥

धनदार्चाविवृद्ध्यर्थं महावित्तलयस्य च।
असुराणां मोहनार्थं पाषण्डानां विवृद्धये॥

आत्मस्वरूपाविज्ञप्त्यै स्वलोकाप्राप्तये तथा।
एवं बिद्धां परित्यज्य द्वादश्यामुपवासयेत्॥
(कृष्णामृतमहार्णवम् १५०-१५२)

अथवा व्यासरूपी भगवान् जनार्दन श्रीहरिने मोहिनीके द्वारा प्रार्थना किये जानेपर कामी लोगोंको मोहित करनेके लिए, धनकी आकांक्षासे अर्चनकी वृद्धिके लिए, परमार्थको लुप्त करनेके लिए, असुरोंको मोहन करनेके लिए, पाषण्डी लोगोंकी वृद्धिके लिए, अपने आत्मस्वरूपको न जनानेके अभिप्रायसे और जिससे विष्णु-लोककी प्राप्ति न हो सके—इसलिए ऐसा विधान करवाया था। अतएव इस प्रकारकी विद्धा एकादशीको परित्यागकर द्वादशीमें उपवास करना चाहिये।

वरं स्वमातृगमनं वरं गोमांसभक्षणम्।
वरं हत्या सुरापानमेकादश्यन्नभक्षणात्॥
(कृष्णामृतमहार्णवम् १८०)

एकादशीमें अन्न भोजन करना स्व-मातृगमन, गोमांस-भक्षण, सुरापान इत्यादि कार्योंसे भी अधिक निन्दनीय है।

तिर्यक्पुण्ड्रं न कुर्वीत सम्प्राप्ते मरणे पिवा।
न चान्य नामविब्रूयात् परान्नारायणादृते॥
(कृष्णामृतमहार्णवम् २२१)

कभी भी टेढ़ा पुण्ड्रकधारण नहीं करना चाहिये अथवा प्राणोंका सङ्कट उपस्थित होनेपर भी परात्पर नारायणके नामके अतिरिक्त अन्य किसी देवताका नाम उच्चारण नहीं करना चाहिये।

वैष्णवोंमें जातिबुद्धि निषिद्ध—

ऊर्द्ध्वपुण्ड्रमृजुं सौम्यं ललाटे यस्य दृश्यते।
स चण्डालोऽपि शुद्धात्मा पूज्य एव न संशय॥
(कृष्णामृतमहार्णवम् २२३)

जिनके ललाटपर सरल-सुन्दर ऊर्द्ध्वपुण्ड्र देखा जाता है, वे चण्डालकुलमें आविर्भूत होनेपर भी शुद्धात्मा हैं। वे ही एकमात्र पूज्य हैं, इस विषयमें तनिक भी सन्देह नहीं है।

वैष्णवसेवाका प्राधान्य—

विष्णोर्भागवतानाञ्च प्रतीपस्याकृतिः सदा।
परस्परविरोधे तु विशिष्टस्यानुकूलता॥
प्रियं विष्णोस्तदीयानामपि सर्वं समाचरेत्।
धर्ममप्यप्रियं तेषां नैवकिञ्चित् समाचरेत्॥
हरिभक्तावनुच्चस्तुवर्णोच्चोपि न पूज्यते॥
(म॰ ता॰ नि॰ २९/२१)

विष्णु और विष्णुभक्तोंके प्रति द्रोह अथवा अनिष्ट आचरण कभी भी नहीं करना। दो वैष्णवोंमें परस्पर विरोध होनेपर उनमेंसे उत्तम व्यक्तिके निर्देशका ही अनुसरण करना चाहिये।

विष्णु और विष्णुभक्तोंके प्रिय कार्योंका अनुष्ठान करना। धर्म भी यदि वैष्णवोंको प्रीतिदायक न हो, तो उसका किञ्चिन्मात्र भी आचरण नहीं करना चाहिये।

नीच कुलमें जन्म लेनेवाला व्यक्ति भी हरिभक्त होनेपर पूजनीय है, हरिभक्त नहीं होनेपर उच्च वर्ण (ब्राह्मण) भी पूजनीय नहीं है।

वृत्तिमें ब्राह्मणता ही स्वीकार्य है—

आर्जवं ब्राह्मणे साक्षात् शूद्रो नार्जवलक्षणः।
गौतमस्त्विवति विज्ञाय सत्यकाममुपानयत॥
(छान्दोग्य-भाष्यम्)

ब्राह्मणमें साक्षात् सरलता और शूद्रमें सदैव कुटिलता वर्त्तमान रहती है। हारिद्रुमत-गौतमने इस प्रकारसे वृत्तिका विचार करके ही सत्यकामको उपनयन या सावित्र्य-संस्कार प्रदान किया था।
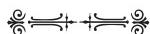
॥ समाप्त ॥

श्रीचैतन्य महाप्रभु द्वारा श्रीब्रह्म-माध्व-सम्प्रदायको स्वीकार करनेके कारण एवं अचिन्त्यभेदाभेद-सिद्धान्त

गौड़ीय-वैष्णव आचार्य सप्तम-गोस्वामी सच्चिदानन्द श्रील भक्तिविनोद ठाकुरने स्वरचित 'श्रीमन्महाप्रभुकी शिक्षा' नामक ग्रन्थमें उल्लेख किया है—

"श्रील जीव गोस्वामीने आप्त-वाक्योंकी प्रामाणिकता निश्चित्कर पुराणोंकी भी प्रामाणिकता निश्चित की है। अन्तमें उन्होंने श्रीमद्भागवतको सर्व-प्रमाण-शिरोमणिके रूपमें प्रमाणित किया है। उन्होंने जिस लक्षणके द्वारा श्रीमद्भागवतको सर्वश्रेष्ठ प्रमाण माना है, उसी लक्षणके द्वारा उन्होंने श्रीब्रह्मा, श्रीनारद, श्रीव्यास, श्रीशुकदेव तदनन्तर क्रमानुसार श्रीविजयध्वज, श्रीब्रह्मण्यतीर्थ, श्रीव्यासतीर्थ आदिके तत्त्वगुरु श्रीमन्मध्वाचार्य द्वारा प्रणीत शास्त्रोंका भी उल्लेख प्रामाणिक ग्रन्थोंकी श्रेणीमें किया है। इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि ब्रह्म-माध्व-सम्प्रदाय ही श्रीमन् महाप्रभुके आश्रित गौड़ीय-वैष्णवोंकी गुरु-प्रणाली है। श्रीकविकर्णपूरने इसी मतको दृढ़ करते हुए स्वरचित गौरगणोद्देशदीपिका ग्रन्थमें गुरुपरम्पराका वर्णन किया है। वेदान्तसूत्रके भाष्यकार श्रील बलदेव विद्याभूषणने भी इसी प्रणालीको स्वीकार किया है। जो लोग इस प्रणालीको अस्वीकार करते हैं, वे श्रीचैतन्यमहाप्रभु और उनके चरणानुगत गौड़ीय-वैष्णवोंके प्रधान शत्रु हैं, इसमें किसी प्रकारका सन्देह नहीं है।"

श्रीचैतन्य महाप्रभु द्वारा श्रीब्रह्म-माध्व-सम्प्रदायको अङ्गीकार करनेके कारण

श्रीचैतन्य महाप्रभुने मध्व-सम्प्रदायको क्यों स्वीकार किया, इस विषयमें विभिन्न गौड़ीय-वैष्णव-आचार्यों द्वारा प्रदर्शित

कुछेक[१] विचारोंको नीचे दिया जा रहा है—

(१) श्रीमन्मध्वाचार्यके मतमें 'सच्चिदानन्द नित्य-विग्रह' स्वीकृत है। वही सच्चिदानन्द-विग्रह अचिन्त्यभेदाभेद सिद्धान्तकी मूल आधारशिला होनेके कारण श्रीचैतन्य महाप्रभुने श्रीमध्व-सम्प्रदायको ही अङ्गीकार किया है।

(२) मध्वमत अथवा तत्त्ववादमें मायावाद अथवा केवल-अद्वैतवादका विशेष भावसे खण्डन किया गया है। "शुद्ध-द्वैतवादकी भित्तिमें अवस्थित होनेसे अभेदवादरूप पीड़ा बहुत दूरमें रहती है।" मायावादको धिक्कारनेवाला तत्त्ववाद अथवा शुद्ध-द्वैतवाद स्वीकार करनेसे केवलाद्वैतवादरूप भ्रम कभी भी जीवके हृदयमें प्रवेश नहीं करेगा, अर्थात् श्रीभगवान्के साथ जीवका भेद-विचार सर्वदा दृढ़ रहनेसे जीव शुद्धाभक्तिके पथसे कभी भी विच्युत नहीं होगा। इस कारणसे दुर्बल जीवोंके निश्चित मङ्गलके लिए श्रीमन् महाप्रभुने शुद्ध-द्वैतवाद या श्रीमध्वमतको स्वीकार करनेकी लीला प्रदर्शित की है।

श्रीमध्व-सम्प्रदायमें भेदकी प्रबलताको लक्ष्य करके ही श्रीमन् महाप्रभुने उसे स्वीकार किया। श्रीमन् महाप्रभु द्वारा प्रकाशित अचिन्त्यभेदाभेद-सिद्धान्त सम्पूर्ण वैज्ञानिक प्रणालीसे उदित हुआ है, तथापि इस अचिन्त्यभेदाभेद-सिद्धान्तका विचार करनेसे यह देखा जाता है कि इसमें जहाँ 'भेद' और 'अभेद'—यह दोनों वाद ही स्वीकृत है, वहाँ 'भेद'वाद ही प्रबल है। 'भेदाभेद' शब्दमें 'भेद' शब्दकी प्रबलता नहीं रहें, तो इसके व्यवहारमें भी कोई सार्थकता नहीं रहती। फिर यह प्राकृत धारणासे 'अचिन्त्य' है।

(३) श्रौतपथ और आम्नायकी सनातनताकी रक्षा करनेके उद्देश्यसे श्रीव्यासदेव द्वारा रचित श्रीपद्मपुराणमें उक्त—'सम्प्रदायविहीना

---

[१] यद्यपि इस विषयमें कुछेक प्रमाण ही यहाँ प्रस्तुत किये गये हैं, विषद आलोचनाके लिए इच्छुक पाठकोंको हम—गौड़ीय वेदान्त बुक ट्रस्टसे प्रकाशित 'प्रबन्ध-पञ्चक' नामक ग्रन्थके तीसरे प्रबन्ध—'श्रीगौड़ीय-सम्प्रदायका मध्वानुगत्य' का अनुशीलन करनेका अनुरोध करते हैं।

ये मन्त्रास्ते विफला मताः अर्थात् सत्सम्प्रदायमें मन्त्रोंको स्वीकार किये बिना मन्त्रादि फलप्रद नहीं होते'—इस विषयकी उपयोगिताकी शिक्षा जीवोंको देनेके लिए भगवान् श्रीचैतन्यमहाप्रभुने स्वयं श्रीमध्व-आम्नायको स्वीकार करके सत्-आचरण प्रस्तुत किया है। श्रीमन् महाप्रभु जीवोंके भविष्यके द्रष्टा हैं, समय-समयपर अनेक काल्पनिक नवीन मतोंकी सृष्टि हो सकती है और अज्ञलोग श्रौतपथ तथा सात्वत-सम्प्रदायकी महिमासे अवगत नहीं हो पानेके कारण उन नवीन मतोंकी उन्मादताके कारण उनके जालमें फँस सकते हैं। अतएव स्वयं-भगवान् श्रीमन् महाप्रभुने जगद्गुरुकी लीलाका अभिनय करनेवालेके रूपमें अपनेको एक नवीन पन्थाके सृष्टिकर्त्ता अथवा प्रवर्त्तकके रूपमें प्रचार नहीं करके सात्वत-सम्प्रदाय और श्रौतपथको ग्रहण करनेका लीलादर्श प्रदर्शन करके श्रीगौड़ीय-वैष्णवधर्मकी सनातनता और सत्-साम्प्रदायिकताका प्रमाण दिया है। श्रीमन् महाप्रभुकी इस लीला द्वारा सनातन शास्त्रोंकी पूर्वापर वाक्यके साथ सङ्गति भी साधित हुई है।

(४) श्रीमन् महाप्रभुने श्रीमद्भागवतमें उक्त धर्मको ही जीवोंका आश्रयणीय बतलाया है। श्रीभागवत-धर्म श्रीकृष्णसे ब्रह्म, ब्रह्मासे नारद और नारदसे व्यास-परम्पराक्रमसे उदित हुआ है तथा श्रीव्यासदेवके साक्षात् शिष्य स्वयं श्रीमन्मध्वाचार्य है। इसलिए श्रीमध्वानुगत्य स्वीकार करनेसे भागवत-परम्परामें कोई व्यभिचार नहीं होता। भागवत-परम्पराकी श्रेष्ठताको स्थापित करनेके लिए भी श्रीमन् महाप्रभुने श्रीमध्व-सम्प्रदायको स्वीकार किया।

श्रीचैतन्यमहाप्रभु किसी स्वतन्त्र सम्प्रदायके प्रवर्त्तक नहीं

एक और भी विचार करने योग्य विषय यह है कि श्रीमन् महाप्रभु स्वयं-भगवान् परात्पर-तत्त्वके रूपमें ही गौड़ीयोंके उपास्य हैं। उन्हें केवलमात्र एक सम्प्रदाय-प्रवर्त्तक आचार्यके रूपमें स्वीकार करनेसे उनकी महिमाको तुच्छ करना होगा। परन्तु धर्म-प्रवर्त्तनका कार्य स्वयं-भगवान् अपनी शक्ति अथवा शक्त्याविष्ट

पुरुषोंके द्वारा ही करवाते हैं। वे स्वयं जीवोंके धर्मके प्रणयन-कर्त्ता हैं, धर्म-प्रवर्त्तक अथवा प्रचारक आचार्यमात्र नहीं। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है (श्रीमद्भा॰ ६/३/१९)—'धर्मन्तु साक्षाद्भगवत्प्रणीतम् अर्थात् यह भागवत-धर्म साक्षात् भगवान् द्वारा प्रणीत है।'

श्रीमन् महाप्रभुने स्वयं-भगवान् होकर भी जो आचार्यलीलाका अभिनय किया है, वह किन्तु सम्प्रदाय-प्रवर्त्तक आचार्यके रूपमें नहीं किया। वह स्वभजन-विभजन-प्रयोजनावतारीके रूपमें उनके द्वारा चिर-अनर्पित उनकी अपनी प्रेमसम्पत्ति-प्रदानरूपी महावदान्य आचार्य-लीला है। उस लीलामें भी उन्होंने अपने पार्षदभक्तोंके द्वारा ही आचार्यका कार्य करवाया है।

सर्ववाद-समन्वयकारी अचिन्त्यभेदाभेद-सिद्धान्त

गौड़ीय-वैष्णव आचार्य सप्तम-गोस्वामी श्रील भक्तिविनोद ठाकुरके वचनानुसार—

वेदशास्त्रोंमें सर्वत्र वैष्णवधर्मकी शिक्षा दी गयी है। समस्त स्मृतिशास्त्रोंमें वैष्णवधर्मका उपदेश है। समस्त आर्य-इतिहास भी वैष्णवधर्मका गुणगान करते हैं।

वैष्णवधर्म जीवोंकी उत्पत्तिके साथ ही उदित हुआ है। प्रथम वैष्णव हैं—ब्रह्मा। श्रीमहादेवजी वैष्णव हैं। समस्त प्रजापति वैष्णव हैं। ब्रह्माके मानस पुत्र नारद मुनि वैष्णव हैं। इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वैष्णवधर्म सृष्टिके आदिकालसे ही चला आ रहा है, अतः यह कोई आधुनिक धर्म नहीं है। सभी जीव निर्गुण प्रकृतिके नहीं होते; जिस जीवकी प्रकृति जितनी ही निर्गुण होगी, वह उतना ही उत्तम कोटिका वैष्णव होगा। महाभारत, रामायण और पुराण ही आर्य जातिके प्रारम्भिक इतिहास-ग्रन्थ हैं। इन समस्त ग्रन्थोंमें वैष्णवधर्मकी उत्कर्षता ही प्रतिपादित की गयी है।

ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता।
स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठां अथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह॥
(मुण्डक उपनिषद १/१/१)

अर्थात् सम्पूर्ण जगत्के रचयिता और सब लोगोंकी रक्षा करनेवाले ब्रह्माजी समस्त देवताओंसे पहले प्रकट हुए। उन्होंने अपने सबसे बड़े पुत्र अथर्वको समस्त विद्याओंकी आधरभूता ब्रह्मविद्याका भलीभाँति उपदेश किया।

इस प्रकार सृष्टिके आदिकालसे ही वैष्णवधर्म प्रकाशित हुआ। इसके बाद ध्रुव और प्रह्लादादिका नाम आता है। ये दोनों शुद्ध-वैष्णव हैं। इनके समयमें और भी हजारों-हजारों वैष्णव थे, जिनके सम्बन्धमें कहीं भी कोई उल्लेख नहीं मिलता। इसका कारण यह है कि इतिहासमें केवल प्रमुख-प्रमुख व्यक्तियोंके ही नाम दिये जाते हैं, साधारण लोगोंके नाम उसमें स्थान नहीं पाते। ध्रुव, मनुके पुत्र हैं और प्रह्लाद कश्यप प्रजापतिके पौत्र हैं। ये सब अत्यन्त आदिकालके हैं—इसमें कोई सन्देह नहीं। अतः इतिहासके प्रारम्भिक कालसे ही वैष्णवधर्मको लक्ष्य किया जा सकता है। उसके बाद सूर्यवंशी और चन्द्रवंशी राजागण और श्रेष्ठ-श्रेष्ठ मुनिजन तथा ऋषिलोग सभी वैष्णव थे। सत्य, त्रेता और द्वापर—इन तीनों युगोंमें ही वैष्णवधर्मका उल्लेख पूर्ण रूपसे पाया जाता है। कलियुगमें भी दक्षिण भारतमें श्रीरामानुज, श्रीमध्वाचार्य और श्रीविष्णुस्वामी तथा पश्चिम भारतमें श्रीनिम्बादित्य स्वामीने हजारों-हजारों मनुष्योंको विशुद्ध-वैष्णवधर्ममें दीक्षित किया था।

वैष्णवधर्म कमलके फूलकी भाँति समयानुसार क्रमशः खिलता हुआ आ रहा है। पहले यह कलीके रूपमें था, फिर कुछ विकसित-सा दिखायी पड़ा और अन्तमें पूर्ण रूपसे विकसित होकर अपने सौरभको चारों दिशाओंमें बिखेरकर जीवोंको आकृष्ट करने लगा। ब्रह्माके समय भगवत्-ज्ञान, माया-विज्ञान, भक्ति-साधन और प्रेम जीवोंके हृदयमें चतुःश्लोकीके रूपमें व्यक्त हुआ। वैष्णवधर्मका यह अङ्कुरित होनेका काल था। प्रह्लाद आदिके समयमें कलीके रूपमें व्यक्त हुआ है। क्रमशः श्रीवेदव्यास मुनिके समय इस धर्मकी पंखुड़ियाँ कुछ-कुछ विकसित रूपमें दिखायी

पड़ी। श्रीरामानुज, श्रीमध्व आदि आचार्योंके समय वह कुछ विकसित होकर पुष्पाकारमें दिखायी पड़ने लगा और श्रीमन् महाप्रभुके समय वही अर्द्ध-विकसित पुष्परूप वैष्णवधर्म पूर्ण विकसित होकर अपने सौरभसे सम्पूर्ण जगत्‌को आकृष्ट करने लगा है।

यद्यपि कलियुगमें इसी सनातन वैष्णवधर्मकी अक्षुण्ण-धाराको प्रवाहित करनेवाले चारों वैष्णव आचार्य ही शुद्धाभक्तिके प्रचारक हैं, तथापि (१) श्रीरामानुजके मतसे—चित् (जीव) और अचित् (जड़-जगत्)—इन दो विशेषणोंसे विशिष्ट होकर एकमात्र ईश्वर ही वस्तु हैं। (२) श्रीमध्वके मतसे—जीव ईश्वरसे पृथक् तत्त्व है, परन्तु ईश्वरकी भक्ति ही जीवका स्वभाव है। (३) श्रीनिम्बादित्यके मतसे—जीवका ईश्वरसे युगपत् भेद और अभेद दोनों ही है। अतएव अभेदकी भाँति भेदकी भी नित्यता है। और (४) श्रीविष्णुस्वामीके मतानुसार वस्तु एक होनेपर भी वास्तवमें ब्रह्मता और जीवता नित्य पृथक् है। इस प्रकार परस्पर भेद रहनेपर भी इन सबने भक्तिका नित्यत्व, भगवान्‌का नित्यत्व, जीवका नित्य-दासत्व और चरम अवस्थामें प्रेमगतिको स्वीकार किया है। इसलिए ये सभी मूलतत्त्वमें वैष्णव हैं, परन्तु मूलतत्त्वमें वैष्णव होनेपर भी इनके विज्ञान कुछ-कुछ पृथक् रहनेके कारण असम्पूर्ण हैं। साक्षात् भगवान् श्रीचैतन्यदेवने अवतीर्ण होकर अपनी सर्वज्ञताके बलसे इन चारों सम्प्रदायोंकी वैज्ञानिक असम्पूर्णताको दूरकर पूर्णतम विज्ञान—अचिन्त्य-भेदाभेदात्मक शुद्ध-भक्तितत्त्वकी शिक्षा दी है। केवल-भेद अथवा केवल-अभेदवाद तथा शुद्धाद्वैत अथवा विशिष्टाद्वैतवाद—यह सभी श्रुतिशास्त्रके एकदेश सम्मत, अन्यदेश विरुद्ध है, किन्तु अचिन्त्यभेदाभेद-सिद्धान्त वेदका सर्वदेश सम्मत, जीवोंकी स्वतःसिद्ध श्रद्धाका आस्पद एवं साधुयुक्ति सम्मत है। इसे क्रमशः प्रदर्शित भी किया जा रहा है।

हरेः शक्तेः सर्वं चिदचिदखिलं स्यात् परिणतिः विवर्त नो सत्यं श्रुतिमितिविरुद्धं कलिमलम्। हरेर्भेदाभेदौ श्रुतिविहिततत्त्वं सुविमलं ततः प्रेम्नः सिद्धिर्भवति नितरां नित्यविषये॥ (दशमूल ८)

अर्थात् चित्-अचित् समस्त जगत् कृष्ण-शक्तिकी परिणति है। विवर्तवाद सत्य नहीं है, बल्कि वह कलिकालका मल और वेद-विरुद्ध मत है। अचिन्त्यभेदाभेद-तत्त्व ही वेद-सम्मत विशुद्ध मत है। अचिन्त्यभेदाभेद-तत्त्वसे ही नित्य तत्त्वके प्रति प्रेम-सिद्धि होती है।

वेदशास्त्र सर्वाङ्ग-सुन्दर हैं। वेदका कोई भी अङ्ग परित्याग नहीं किया जा सकता है। नित्य-भेद सत्य है और नित्य-अभेद भी सत्य है—युगपत् दोनों तत्त्व ही सत्य होनेके कारण श्रुतियोंमें भेद और अभेद—दोनोंके निष्ठ वचन विद्यमान हैं। यह युगपत् भेदाभेद अचिन्त्य है अर्थात् मानव चिन्तासे परे है। इस विषयमें तर्क-वितर्क करनेसे प्रमाद उपस्थित होता है। वेदोंमें जहाँ भी जो कुछ कहा गया है, वह सभी सत्य है। हमारी बुद्धि अत्यन्त क्षुद्र होनेके कारण उसका सम्यक् अर्थ समझनेमें असमर्थ है, इसलिए वेदार्थोंकी अवज्ञा नहीं करनी चाहिये।

अचिन्त्यभेदाभेद-सिद्धान्त ही वेद-विहित सुविमल तत्त्व है। जीवोंके चरम-प्रयोजनके दृष्टिकोणसे भी अचिन्त्यभेदाभेदके अतिरिक्त कोई भी सत्य सिद्धान्त दिखायी नहीं देता। अचिन्त्यभेदाभेदको स्वीकार करनेसे भेद-प्रतीति नित्य होगी। इस प्रतीतिके बिना जीवका चरम प्रयोजन—'प्रीति' या 'प्रेम' किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं हो सकती।

अचिन्त्यभेदाभेद-सिद्धान्तकी भित्ति

कलियुग पावनावतारी श्रीचैतन्य महाप्रभुने वेदान्तसूत्र या ब्रह्मसूत्रके पृथक् किसी भाष्यकी रचना नहीं की। उन्होंने पुराण-शिरोमणि श्रीमद्भागवतको ही ब्रह्मसूत्रके प्रकृत-भाष्यके रूपमें प्रमाणित एवं घोषित किया है।

श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुके चरणानुचर श्रीगौड़ीय-वैष्णवाचार्योंने श्रीमन् महाप्रभुके अभिमतानुसार सर्ववेदान्तसार, समस्त सिद्धान्त-रत्नोंसे युक्त श्रीमद्भागवतको ही ब्रह्मसूत्रका प्राकृत-भाष्य जानकर उस

श्रीमद्भागवतरूपी रसामृतसिन्धुके अतल गर्भसे—तर्कसे अतीत और अनन्त-शक्ति-समन्वित अद्वयज्ञान-तत्त्व और उसकी शक्तिका वैचित्र्य तथा उस शक्तिसे परिणत वस्तुओंके सम्बन्धका ज्ञापन करनेवाली सर्वतन्त्र-सिद्धान्तरूप जिस सत्-मणिका अविष्कार किया है, वही 'अचिन्त्यभेदाभेद-सिद्धान्त' के रूपमें परिचित है।

श्रीचैतन्य महाप्रभुने अपनी संन्यास-लीलाके उपरान्त अनेकानेक स्थानोंपर भ्रमण करते समय श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य, श्रीप्रकाशानन्द सरस्वती, श्रील रूप गोस्वामी तथा श्रील सनातन गोस्वामी इत्यादि अनेकानेक भक्तोंको जो सब शिक्षायें प्रदान की थी, श्रील जीव गोस्वामी प्रभुने उन सभी शिक्षाओंको संग्रह करके स्वरचित 'षड्-सन्दर्भों' में उन्हें श्रीमद्भागवतके भाष्य रूपमें अभिव्यक्त करके श्रीब्रह्म-माध्व-गौड़ीय-सम्प्रदायके अचिन्त्यभेदाभेद-सिद्धान्तको दृढ़ रूपसे स्थापित किया।

श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्—इन तीन प्रकारसे आविर्भूत, सर्ववेदान्तसार जो अद्वितीय वस्तु है, श्रीमद्भागवत उसी अद्वितीयवस्तुके निष्ठ है अर्थात् अद्वयवस्तु ही श्रीमद्भागवतका प्रतिपाद्य विषय है। श्रीमद्भागवत केवल द्वैत या भेदवाद प्रतिपादक शास्त्र नहीं है। द्वितीय वस्तु अर्थात् मायासे ही भय होता है, किन्तु अद्वितीय परतत्त्व ही भय अथवा संसारको दूर करनेवाला है। निर्विशेष-वस्तु-ऐक्यवादीका अभेदवाद श्रीमद्भागवतका प्रतिपाद्य विषय नहीं है। श्रीभगवत्-विग्रहका नाम, रूप, गुण, परिकर, लीला और धामका नित्यत्व, भगवत्-विग्रहकी स्वरूपभूतता, अतर्क्य-अनन्तशक्ति समन्वित परतत्त्वकी शक्ति-वैचित्र्यकी स्वभाविकता और नित्यता, भगवत्-गुणोंकी स्वरूपभूतता और नित्यता, श्रीकृष्ण-तत्त्वकी स्वयंरूपता अथवा परात्परता, मुक्तिकी अपेक्षा भी विमुक्तिरूप प्रेमका उत्कर्ष आदि सिद्धान्तोंकी स्वीकृति केवलाद्वैतवादमें नहीं है। किन्तु वेदान्तके अकृतिम भाष्य श्रीमद्भागवतमें यह सब सिद्धान्त सुस्पष्ट सूर्यके आलोकके समान भलीभाँति प्रकाशित हुए हैं।

श्रील जीव गोस्वामिपादने श्रीमद्भागवतमें उक्त अद्वयतत्त्व—'एकमेवाद्वितीयम्' तत्त्वकी अद्वितीय स्वरूपशक्तिके वैचित्र्यको स्वीकारकर उस 'अद्वयतत्त्व' को अत्यन्त सूक्ष्म विश्लेषणके साथ प्रतिष्ठित किया है। जीव और प्रकृतिको अन्यान्य वैष्णवाचार्योंके समान 'तत्त्व' कहकर नाम देनेसे एकसे अधिक तत्त्वको स्वीकार करनेसे अद्वितीयत्वकी हानि होनेका प्रसङ्ग उपस्थित होगा। किन्तु उन्हें श्रौत-सिद्धान्तके अनुसार 'शक्ति' कहकर स्वीकार करनेसे तत्त्वकी अखण्डता रहती है और अद्वयतत्त्वकी भलीभाँति स्फूर्ति और प्रतिष्ठा होती है। श्रीजीव गोस्वामीपादने 'शक्ति' तत्त्वको स्वीकारकर परतत्त्वके अद्वयत्वका स्थापन किया है। परतत्त्वको निःशक्तिक अथवा निर्विशेष कहनेसे सर्वशक्तिमानकी पूर्णताकी हानि होती है, इसलिए श्रीजीव गोस्वामीपादने सशक्तिक परतत्त्वको ही 'परब्रह्म' कहा है।

जो स्वयं बृहत् हैं और जिनमें दूसरेको बृहत् करनेकी स्वरूपानुबन्धिनी शक्ति है, वे ही 'ब्रह्म' हैं। अद्वयतत्त्वकी सच्चिदानन्दताके कारण शक्ति भी अद्वितीया और सच्चिदानन्दात्मिका है। उस शक्तिकी ही तीन प्रकारकी विचित्रता है—सन्धिनी, सम्वित् और ह्लादिनी। शक्तिकी क्रिया ब्रह्मका सविशेषत्व है। ब्रह्मकी शक्तियोंकी दो प्रकारसे स्थिति है—(१) केवलमात्र शक्तिरूप अमूर्त्त स्वरूप और (२) शक्ति-अधिष्ठात्रीरूप मूर्त्त स्वरूप। श्रीभगवत्-धाम और श्रीभगवत्-परिकर समूह स्वरूपशक्तिकी वृत्ति है। अमूर्त्त रूपमें शक्तियाँ श्रीभगवद्विग्रहके साथ एकात्मता प्राप्त होकर अवस्थान करती हैं, मूर्त्त-अधिष्ठात्रीके रूपमें वे शक्तियाँ श्रीभगवत्-परिकर आदिके रूपमें प्रकट रहती हैं। परतत्त्वकी स्वरूपशक्ति—ह्लादिनी परतत्त्वमें अवस्थान करती हैं। परतत्त्व जब रसास्वादनके लिए उस ह्लादिनीशक्तिकी अतिशय-सर्वानन्दिनी वृत्तिको उस शक्तिके ही अंश-स्वरूप भक्तोंके हृदयमें सञ्चार करते हैं, तब वह वृत्ति कृष्ण-प्रीतिरूपमें विचित्रता धारण करके परमास्वादनरूप चमत्कारिता लाभ करती है (प्रीतिसन्दर्भ, ६५ परिच्छेद)। भक्ति

भक्त-श्रेणीमें प्रविष्ट है, भक्त और भगवान्‌को विगलित करनेके लिए 'भक्ति' एक भगवत्-शक्तिविशेष है (भक्तिसन्दर्भ, १८० परिच्छेद)। अतएव क्या सम्बन्धतत्त्व, क्या अभिधेयतत्त्व, क्या प्रयोजनतत्त्व—सर्वत्र ही अद्वितीया, सच्चिदानन्दात्मिका स्वरूपशक्तिकी वैचित्री और विलास है। श्रीजीव गोस्वामीपादके मतानुसार सम्बन्धतत्त्व—एक अद्वितीय है। वे उपासककी प्रतीतिके भेदसे ब्रह्म, परमात्मा और भगवत्-प्रतीतिमें आविर्भूत अद्वयज्ञान-तत्त्व अर्थात् द्वितीय-हीन एकमात्र स्वयंसिद्ध तत्त्व हैं। वे 'अद्वय' होनेसे स्वगत-सजातीय-विजातीय भेद शून्य हैं अर्थात् परतत्त्वके देह-देही, प्रकाश, विलास, वैभवमें जड़ीय भेद नहीं है, क्योंकि वह स्वरूपशक्ति द्वारा संघटित है। प्रकाश-विलास आदिमें केवल शक्ति-प्रकाशके तारतम्यके अनुसार लीला-विचित्रता है। उस अद्वय-तत्त्वकी प्राप्तिका उपाय अथवा अभिधेय भी एक अद्वितीय है। इसीलिए भक्त-श्रेणीमें प्रविष्ट स्वरूपशक्तिकी वृत्ति 'भक्ति' के नामसे विख्यात है। अतएव भक्ति ही भगवत्-शक्ति है। 'भक्ति-विशेष' ही परमात्मानुशीलन अथवा 'योग' के नामसे कथित है। भक्तिसे ज्ञानको पृथक् करनेकी चेष्टा करनेसे अर्थात् 'ज्ञानं यत्तदधीनं हि भक्तियोगसमन्वितम् श्रवण-कीर्त्तनादि रूप भक्ति-योगसे युक्त भागवत-ज्ञान ही इस संसारमें भगवान्‌के सन्तोषके लिए अनुष्ठित शास्त्र विहित कर्मोंका अव्यभिचारी फल है' (श्रीमद्भा॰ १/५/३५)—इस भागवतीय सिद्धान्तको अवलम्बन नहीं करके ज्ञानको स्वतन्त्र अभिधेयके रूपमें विचार करनेसे उसमें क्लेशमात्र सार होता है (श्रीमद्भा॰ १/५/१२, १०/२/३२-३३, १०/१४/३)। परतत्त्व श्रीकृष्ण जिस प्रकार ब्रह्म-परमात्माके आश्रय हैं, श्रीकृष्णभक्ति भी उसी प्रकार ज्ञान-कर्म-योगका आश्रय है (श्रीमद्भा॰ १/२/६-२२, १/२/२८-२९, १/५/१२, १/५/३२-३६)। श्रीजीव गोस्वामीपादके मतमें प्रयोजनतत्त्व भी—एक अद्वितीय है, अर्थात्—'कैवल्यैकप्रयोजनम्' (श्रीमद्भा॰ १२/१३/१२)—"केवलप्रीति अथवा विमुक्ति ही प्रयोजन है।" इसके अन्तर्गत ही योगियोंका कैवल्य और ज्ञानियोंकी मुक्ति

है। कैवल्य और मुक्तिके लिए स्वतन्त्र भावसे चेष्टा करनेपर वह 'कैतव' कहकर निन्दित हुआ है। श्रीमद्भागवतमें कैतवरहित धर्मका ही उपदेश किया गया है।

गौड़ीय दार्शनिकोंके सिद्धान्तके अनुसार शक्तिमानसे शक्तिको पृथक् नहीं किये जा सकनेके कारण ही शक्ति और शक्तिमान मिलकर एक अद्वितीय वस्तु या तत्त्व है। वस्तु—'विशेष्य', और वस्तुशक्ति—'विशेषण' है; विशेषणयुक्त विशेष्य ही वस्तु है। प्रश्न हो सकता है कि यदि विशेष्य और विशेषण मिलकर ही वस्तु हैं, अर्थात् यदि विशेषणको विशेष्यसे—शक्तिको शक्तिमानसे पृथक् नहीं किया जा सकता है, तब पृथक् भावसे शक्तिको स्वीकार करनेकी आवश्यकता ही क्या है? इसपर श्रीजीव गोस्वामीपाद कहते हैं—वस्तु रहनेपर भी मन्त्र-महौषधादिके प्रभावसे वस्तु-शक्तिको केवलमात्र स्तम्भित देखा जा सकता है; हाथके दग्ध नहीं होनेपर भी अग्नि दृष्ट होती है। इसलिए अग्नि और उसकी दाहिका शक्तिको पृथक् नामसे अभिहित करना ही युक्तिसङ्गत है, यद्यपि यहाँ वस्तु अथवा तत्त्व दो नहीं है। स्वाभाविकी शक्तिकी विचित्रताके द्वारा शक्तिमानके अद्वयत्वमें व्याघात नहीं होता। इसलिए शक्तिमानके स्वरूपसे शक्तिकी अभिन्न रूपमें चिन्ता नहीं कि जा सकनेके कारण उसका 'भेद', फिर भिन्न रूपमें चिन्ता नहीं किये जा सकनेके कारण 'अभेद' है। अतएव, शक्ति और शक्तिमानका 'भेदाभेद' स्वीकृत है तथा वह 'अचिन्त्य' अर्थात् तर्क युक्तिसे अगम्य होनेपर भी शास्त्रगम्य अथवा शब्दमूलक है।

'अचिन्त्य'—गौड़ीय-वैष्णव-दार्शनिकों द्वारा इन्द्रियोंसे अतीत तत्त्व या उसकी शक्तिकी अलौकिकताके निरूपणमें 'अचिन्त्य' शब्द और श्रीशङ्कराचार्य द्वारा मायातत्त्वके निरूपणमें 'अनिर्वाचनीय' शब्दका प्रयोग एक नहीं है। श्रुतिमें सुस्पष्ट भाषामें परब्रह्मकी शक्ति—मायाका तत्त्व निरूपित रहनेपर भी श्रीशङ्कराचार्यने मायाको 'अनिर्वाचनीय' कहा है। इसका कारण है कि यदि वे मायाको स्पष्ट भाषामें परब्रह्मकी शक्ति कहकर स्वीकार करते, तब

अद्वैतसिद्धि नहीं होती और दूसरी ओर मायाको सम्पूर्ण रूपसे अस्वीकार करनेसे भी काम नहीं चलता। इसलिए मायाके स्वरूप-निर्णयमें उन्हें 'अनिर्वाचनीय' शब्दका आश्रय ग्रहण करना पड़ा। 'अनिर्वाचनीय' शब्द सन्देहवादीकी परिभाषा है, इसमें वास्तविकताका सम्बन्ध नहीं है, सन्देहकी अवास्तविकताका भी अवकाश है। 'अचिन्त्य' शब्द चित्-वास्तव-सिद्धान्तकारियोंकी परिभाषा है, यह परिपूर्ण वास्तविकताका ही सूचक है, किन्तु वह वास्तविकता प्राकृत नहीं होनेके कारण प्राकृत अभिज्ञानमें 'अचिन्त्य' है। 'अचिन्त्या खलु ये भावा न तांस्तर्केन योजयेत् अर्थात् अचिन्त्य वस्तुमें तर्क करना नहीं चाहिये।' शब्दप्रमाण द्वारा गम्य तत्त्वका निर्देशक 'अचिन्त्य' विशेषण—श्रुति, महाभारत, गीता, विष्णुसहस्रनाम, विष्णुपुराण, श्रीमद्भागवत आदि शास्त्रोंमें विपुल रूपमें प्रचारित है। 'अचिन्त्य' शब्दका तात्पर्य (ब्र॰ सू॰ २/१/२७)—'श्रुतेस्तु शब्दमूलात्।'—इस ब्रह्मसूत्र द्वारा समर्थित है। इस विषयको श्रीशङ्कराचार्यने भी उक्त सूत्रके अपने भाष्यमें स्वीकार किया है। श्रीधरस्वामीपाद और श्रीजीव गोस्वामीपादके मतमें 'अचिन्त्य' शब्दका अर्थ—'शब्द-मूलक श्रुत-अर्थ-आपत्ति-ज्ञान-गोचर है।' (श्रीविष्णुपुराण १/३/१-२ आत्मप्रकाश टीका और भगवत्-सन्दर्भ १६ अनुच्छेद)।

श्रीजीव गोस्वामीपादने अपने सिद्धान्त-सम्मत 'अचिन्त्यभेदाभेद-सिद्धान्त' की प्रतिष्ठाको अद्वयतत्त्वकी अचिन्त्यशक्तिताके कारण ही निर्देश किया है। ब्रह्मसूत्र (२/१/११) के प्रमाणके अनुसार तर्ककी अप्रतिष्ठाके कारण भेदवाद और अभेदवादमें असंख्य दोष हैं। शक्ति और शक्तिमानमें केवल-भेद और केवल-अभेद दोनों साधन ही दुष्कर होनेके कारण तथा युगपत् भेद और अभेद साधनकी सङ्गति भी एकमात्र परतत्त्वकी अचिन्त्य-शक्तिमत्ता और श्रुतार्थापत्ति (अर्थात् श्रुतिके अर्थसे समझे गये) प्रमाण (अवरोहवाद) के अतिरिक्त सम्भव नहीं होनेके कारण श्रीमन् महाप्रभु द्वारा प्रकाशित 'अचिन्त्य अर्थात् शब्दगम्य भेदाभेद' सिद्धान्तका ही

श्रीजीव गोस्वामीपादने अनुवर्त्तन किया है। पौराणिक और शैवोंके मतमें तथा भास्कराचार्य आदिके मतमें जो भेदाभेदवाद स्वीकृत हुआ है, वह तर्कमूलक है, इसलिए खण्डनयोग्य और परस्पर सङ्गतिहीन है। फिर मायावादियोंका जो केवल-अभेदवाद और उसमें भी भेदांश व्यवहारिक अथवा प्रतीतिमात्र है, वहाँ मायाका अस्तित्व स्वीकार करनेके कारण वह मतवाद और 'अद्वैत' नहीं रहता है। ब्रह्मके 'दोनों लिङ्ग' अर्थात् पारमार्थिक और व्यवहारिक सत्ता स्वीकार करनेसे भी अद्वैत-ब्रह्म दो-भावोंमें ग्रस्त हो जाते हैं तथा वह शब्दप्रमाणके द्वारा भी समर्थित नहीं है, वह तर्कपरक स्वकपोल-कल्पनामात्र है। दूसरी ओर गौतम, कणाद, जैमिनि, कपिल और पातञ्जलिके मतमें जो भेदवाद स्वीकृत हुआ है, वह भी वेदान्तसम्मत सिद्धान्त नहीं है, किन्तु तर्कपर ही है। श्रीरामानुजाचार्य शक्ति और शक्तिमानमें अभेद स्वीकार करते हैं, श्रीमध्वाचार्य तत्त्वमें अत्यन्त-भेद स्वीकार करते हैं। अतएव दोनों ही मतवाद 'भेदाभेद' के रूपमें प्रसिद्ध हैं। किन्तु, गौड़ीय-सिद्धान्तमें परतत्त्वका अचिन्त्यशक्तित्व तथा शक्ति और शक्तिमानमें शब्दप्रमाणगम्य भेदाभेद-सिद्धान्त स्वीकृत हुआ है। परतत्त्वके स्वरूपसे उसकी स्वाभाविक शक्तिको अभिन्न रूपसे चिन्ता नहीं किया जा सकता, फिर उसके स्वरूपसे भिन्न रूपमें भी चिन्ता नहीं किया जा सकता। इसलिए भेद और अभेद दोनों प्रतीतियाँ ही चिन्तागम्य नहीं हैं, वह केवल शब्दप्रमाणगम्य है। अतएव शक्ति और शक्तिमानमें जो युगपत् भेद और अभेद सिद्धान्त है, वह अचिन्त्य अर्थात् शब्दप्रमाणगम्य है।

उपनिषद, ब्रह्मसूत्र और उसके अकृत्रिम भाष्य स्वरूप श्रीमद्भागवत, गीता और श्रीविष्णुपुराण आदि शब्दप्रमाणोंमें सर्वत्र ही यह 'अचिन्त्यभेदाभेद' रूप सिद्धान्त ग्रथित है। यही श्रीकृष्णचैतन्यदेव द्वारा प्रचारित और गौड़ीय गोस्वामियोंके द्वारा विस्तारित दार्शनिक सिद्धान्त है। श्रीचैतन्यदेवने नीलाचलमें श्रीसार्वभौम भट्टाचार्यके समीप शङ्कर-भाष्य-श्रवण करनेकी लीला द्वारा, श्रीकाशीधाममें

केवलाद्वैतवादी श्रीप्रकाशानन्द सरस्वतीके मतवादको खण्डन करते समय, श्रील सनातन गोस्वामीपादको लक्ष्य करके लोकशिक्षा देनेके उद्देश्यसे और श्रीराय रामानन्द संवादमें इसी 'अचिन्त्यभेदाभेद'-सिद्धान्तको प्रकट किया है। श्रील सनातन गोस्वामीपादने श्रीबृहद्भागवतमृतमें और श्रीवैष्णवतोषणी टीकामें, श्रील रूप गोस्वामीपादने श्रीलघु-भागवतामृत और श्रील जीव गोस्वामीपादने विस्तृत रूपमें षट्-सन्दर्भ और सर्वसम्वादिनीमें इस 'अचिन्त्यभेदाभेद'-सिद्धान्तको स्थापित किया है। श्रीचैतन्यदेवके सभी चरणानुचरोंने ही 'अचिन्त्यभेदाभेद'-सिद्धान्तको स्वीकार किया है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्तीपाद, श्रील कृष्णदास कविराज गोस्वामीपाद, श्रील वृन्दावन दास ठाकुर, श्रील नरोत्तम ठाकुर, श्रील बलदेव विद्याभूषण प्रभु आदि जिन्होंने भी श्रीचैतन्यदेवकी शिक्षाको ग्रहण किया है, वे सभी अचिन्त्यभेदाभेदवादी हैं।

❋ ❋ ❋ ❋ ❋

श्रीमध्वाचार्य द्वारा श्रीमद्भागवतपर लिखित 'श्रीभागवत्-तात्पर्य' नामक व्याख्यासे श्रील जीव गोस्वामीपादने वास्तव पक्षमें गौड़ीय-वैष्णव दर्शनके 'अचिन्त्यभेदाभेद' नामक सिद्धान्तका सन्धान पाया है।

श्रील मध्वाचार्य द्वारा श्रीमद्भागवत ११/७/५१ श्लोककी 'श्रीभागवत्-तात्पर्य' टीकामें निम्नलिखित विचार 'ब्रह्म-तर्क' नामक पुरातन ग्रन्थसे उद्धृत किया गया है—

"अवयव्यवयवानां च गुणानां गुणिनस्तथा।
शक्ति-शक्तिमतोश्चैव क्रियायास्तद्वतस्तथा॥

स्वरूपांशांशिनोश्चैव नित्याभेदो जनार्दने।
जीवस्वरूपेषु तथा तथैव प्रकृतावपि॥

चिद्रूपायामतोऽनंशा अगुणा अक्रिया इति।
हीना अवयवैश्चेति कथ्यन्ते ते त्वभेदतः॥

पृथग्गुणाद्यभवाच्च नित्यत्वादुभयोरपि।
विष्णोरचिन्त्यशक्तेश्च सर्वंसम्भवति ध्रुवम्।
क्रियादेरपि नित्यत्वं व्यक्त्यव्यक्तिविशेषणम्।
भावाभावविशेषेण व्यवहारश्च तादृशः॥

विशेषस्य विशिष्टस्याप्यभेदस्तद्वदेव तु।
सर्वं **चाचिन्त्यशक्तित्वाद्** युज्यते परमेश्वरे॥

तच्छक्त्यैव तु जीवेषु चिद्रूप प्रकृतावपि।
भेदाभेदौ तदन्यत्र ह्युभयोरपि दर्शनात्॥

कार्यकारणयोश्चापि निमित्तं कारणं विना।" इति ब्रह्मतर्के

अर्थात् अवयव (अङ्ग)-अवयवी (अङ्गी), गुण-गुणी, शक्ति-शक्तिमान, क्रिया-कर्त्ता तथा स्वरूपांश-अंशीका नित्य ही अभेद रूपमें श्रीजनार्दनमें अवस्थिति है। उसी प्रकार जीव-स्वरूप तथा प्रकृतिकी भी श्रीजनार्दनसे अभेद रूपमें अवस्थिति है। अतएव कुछ लोग अभेदकी दृष्टिसे चिद्रूपको अंश रहित, गुण रहित, क्रिया रहित और अवयव (अङ्ग) रहित इत्यादि कहते हैं। गुण आदिकी पृथक् सत्ताके अभावके कारण तथा भेद और अभेद दोनोंके ही नित्य होनेसे विष्णुकी अचिन्त्यशक्ति निश्चित् रूपमें सबकुछ सम्भव कर देती है। विशेषण और विशेष्यका भी अभेद उसी प्रकारसे ही है। परमेश्वरके अचिन्त्यशक्तिसे युक्त होनेके कारण ये सब उनमें सम्भव है। परमेश्वरकी अचिन्त्यशक्तिके द्वारा चिद्रूपका जीवों और प्रकृतिके साथ भेद और अभेद सम्बन्ध है, क्योंकि चिद्रूपका जीव और प्रकृतिके साथ भेद और अभेद—दोनों ही देखा जाता है। निमित्त कारणके बिना कार्य सम्भव नहीं है। अतएव जिस प्रकार कार्य-कारणका भेदाभेद सम्बन्ध है, उसी प्रकार कारण स्वरूप परमेश्वरके साथ कार्य स्वरूप जीव और प्रकृतिका भेदाभेद सम्बन्ध है।

अचिन्त्यभेदाभेद–सिद्धान्तका संक्षेपमें वर्णन

इस अचिन्त्यभेदाभेद–सिद्धान्तके अनुसार श्रीकृष्णसे जीवका भेद और अभेद दोनों ही हैं। साथ ही श्रीकृष्णसे जगत्‌का भी भेद और अभेद सत्य है। मानवबुद्धिके सीमित होनेके कारण उसके द्वारा इस भेदाभेदको समझा नहीं जा सकता, इसलिए भेदाभेदको अचिन्त्य कहा गया है। अचिन्त्य होनेपर भी युक्ति या तर्कको इसमें असन्तुष्ट होनेकी आवश्यकता नहीं है। भगवान्‌की शक्ति अचिन्त्य है—यह युक्तिसङ्गत ही है। उस शक्तिसे जो कुछ स्थापित हुआ है, वह भी हमारे लिए कृपालब्ध तत्त्व है।[१] हमारे प्राचीन आचार्योंका उपदेश है कि अचिन्त्य भावमें तर्क नहीं उठाना चाहिये, क्योंकि अचिन्त्य विषयमें तर्क कभी भी प्रमाणके रूपमें प्रतिष्ठित नहीं होता।[२] जो लोग इस तथ्यको स्वीकार नहीं करते, उनकी दुर्दशाका अन्त नहीं होता।

श्रील जीव गोस्वामीने स्वरचित भगवत्–सन्दर्भमें (संख्या १६) भगवत्–तत्त्वके विचार–प्रसंगमें लिखा है—

'एकमेव तत् परमं तत्त्वं स्वाभाविकाचिन्त्यशक्त्या सर्वदैवस्वरूप–तद्रूप–वैभव–जीव–प्रधान–रूपेण चतुर्द्धावतिष्ठते, सूर्यान्तर मण्डलस्थित तेज इव, मण्डल, तद्वहिर्गत तद्रस्मि, तत्प्रतिच्छबिरूपेण।'

अर्थात् परमतत्त्व एक हैं। वे स्वाभाविक अचिन्त्यशक्तिसे सम्पन्न हैं। उसी शक्तिसे वे सदैव चार रूपोंमें विराजमान हैं—(१) स्वरूप, (२) तद्रूपवैभव, (३) जीव और (४) प्रधान। सूर्यमण्डलस्थ तेज, सूर्यमण्डल, उनकी बहिर्गत रश्मि और उनकी प्रतिच्छवि

---

[१] 'यावानहं यथाभावो यद्रुपगुणकर्मकः। तथैव तत्त्वविज्ञानमस्तु ते मदनुग्रहात्॥' (श्रीमद्भा॰ २/९/३२) अर्थात् स्वरूपतः मेरा जो परिमाण (आकार) है, सत्तायुक्त होना जो लक्षण है तथा मेरे जो–जो रूप (श्याम, चतुर्भुज आदि रूप), गुण (भक्तवात्सल्यादि) और कर्म (लीलाएँ) हैं, तुम उन सब विषयोंका वैसा ही अनुभव मेरी कृपासे सम्पूर्ण रूपसे प्राप्त करो।

[२] अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्। प्रकृतिभ्यः परं यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षणम्॥ 'नैषातर्केण मतिरापन्येया'—इत्यादि वेदवाक्याणि॥

अर्थात् दूरगत प्रतिफलन—ये चारों कुछ अंशोंमें उदाहरणके स्थल हैं। सच्चिदानन्द-मात्र-विग्रह ही उनका स्वरूप है। चिन्मय धाम, नाम, परिकर तथा उनके व्यवहारमें आनेवाले उपकरणसमूह ही तद्रुप-वैभव हैं। नित्यमुक्त और नित्यबद्ध असंख्य जीव हैं। माया, प्रधान और उससे उत्पन्न समस्त जड़ीय स्थूल और सूक्ष्म जगत् ही 'प्रधान' शब्द वाच्य हैं। ये चारों प्रकाश नित्य परमतत्त्वके एकत्वके ही प्रतिपादक हैं। अब प्रश्न हो सकता है कि परमतत्त्वमें नित्यविरुद्ध क्रियाएँ एक ही साथ कैसे विद्यमान रह सकती हैं? इसका उत्तर यह है कि जीवकी बुद्धि सीमाविशिष्ट हैं, अतः उसके द्वारा भगवत्-तत्त्वको जानना असम्भव है। उसे केवल परमेश्वरकी अचिन्त्यशक्तिकी कृपाके द्वारा ही जानना सम्भव है।

श्रीब्रह्म-माध्व-गौड़ीय-वैष्णव-सम्प्रदायका वैशिष्ट्य

समस्त अवतारोंके अवतारी स्वयं-भगवान् श्रीकृष्णचैतन्यदेवने कलिकालमें अवतीर्ण होकर श्रीब्रह्म-माध्व-सम्प्रदायको स्वीकारकर चारों सम्प्रदायोंके चार प्रकारके मतवादोंको सुन्दर रूपसे शुद्ध और पूर्णकर अचिन्त्यभेदाभेद-सिद्धान्त स्थापनकर चिरकालसे जिसे अर्पित नहीं किया गया था, उस उन्नत-उज्ज्वल-भक्तिरसको प्रदान किया है। वह भक्तिरस धारा वर्त्तमान जगत्में श्रीमाध्व-गौड़ीय-वैष्णव-सम्प्रदायके रूपमें प्रकाशित है। इसके अतिरिक्त अन्य तीन सम्प्रदायोंमें वैष्णवधर्म याजन किये जानेपर भी श्रीमन् महाप्रभु द्वारा प्रवर्तित धारा ही विशुद्ध तथा परिपूर्ण रूपसे व्रजके गोपी-प्रेमको प्रदान करनेमें समर्थ है। आज भी उक्त श्रीब्रह्म-माध्व-गौड़ीय-वैष्णव-सम्प्रदायके आचार्योंने श्रीचैतन्य महाप्रभु द्वारा प्रवर्तित विचार धाराको शुद्धभावसे संरक्षणकर उनकी गुरुपरम्पराको पृथ्वीके महा-सम्पत्तिरत्नके रूपमें प्रकटित करके रखा हुआ है।

कुछेक तत्त्व विषयोंपर विभिन्न आचार्योंका मत या सिद्धान्त

परतत्त्वके विषयमें

श्रीशङ्कराचार्यका मत

एक, अद्वितीय, निर्विशेष, निर्गुण, निष्क्रिय, निर्विकार, केवल सच्चिदानन्द ब्रह्म ही 'परतत्त्व' हैं। परमार्थतः वे निर्गुण ब्रह्म हैं तथा व्यावहारिक स्तरमें वे सगुण ब्रह्म या ईश्वर हैं।

श्रीरामानुजाचार्यका मत

चित्-अचिदात्मक जगत्के जन्म, स्थिति और लय तथा संसार-निवर्त्तनके एकमात्र कारण स्वरूप, सभी प्रकारकी हेयतासे शून्य, अनन्त कल्याणोंके आस्पद या असीम उपादेयतासे युक्त, अपनेसे अतिरिक्त दूसरी समस्त वस्तुओंसे विलक्षण स्वरूप, असमोर्ध्व-अत्यधिकरूपमें-असंख्य कल्याणगुणोंसे विशिष्ट, जो सर्वात्मा, परब्रह्म, परज्योतिः, परतत्त्व, परमात्मा, सत् आदि विभिन्न शब्द-भेदसे सम्पूर्ण वेदान्तके एकमात्र प्रतिपाद्य हैं, वे पुरुषोत्तम श्रीनारायण ही अन्तर्यामी स्वरूप हैं।

श्रीमन्मध्वाचार्यका मत

विष्णु ही एकमात्र सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र तत्त्व हैं। वे अनन्त-निर्दोष-कल्याणमात्र गुणोंके आलय हैं। वे सर्वशक्तिमान, स्वराट्, चेतन-अचेतन जगत्के नियामक हैं। वे अपने चरणकमलके नखसे केशके अग्रभाग तक स्वरूपज्ञानात्मक श्रीसच्चिदानन्द विग्रह हैं। वे स्वगतभेदसे रहित हैं। उनके देह और देहीमें भेद नहीं है। उनके नाम-रूप-गुण-लीलामें कोई भेद नहीं है। वे सनातन, सर्वनियामक, सर्वप्रभु, ब्रह्म-महेश-लक्ष्मी आदिके भी ईश्वर हैं, इसलिए वे ईश्वरतम अर्थात् सभी ईश्वरोंके ईश्वर हैं।

आचार्य श्रीविष्णुस्वामीका मत

ह्लादिनी तथा सम्वित्-शक्ति (सर्वज्ञता शक्ति) द्वारा आलिङ्गित सच्चिदानन्द विग्रह ही ईश्वर हैं। ईश्वर नित्यमुक्त हैं, वे किसी उपाधिके द्वारा वशीभूत नहीं होते। वे अप्राकृत गुणोंसे विशिष्ट, सर्वज्ञ, सर्वशक्ति, सर्वेश्वर, सर्वनियन्ता, सर्वोपास्य, सर्वकर्मफल-प्रदाता, समस्त कल्याणगुणोंके आलय और सच्चिदानन्द वस्तु हैं।

आचार्य श्रीनिम्बादित्यका मत

भगवत्-तत्त्व निर्दोष है। मोह, आलस्य, भ्रम आदि अट्ठारह दोष भगवत्-स्वरूपमें नहीं है। असीम कल्याणराशि भगवत्-स्वरूपमें सम्पूर्ण रूपमें वर्त्तमान है। वह भगवत्-तत्त्व श्रीकृष्ण-स्वरूपमें परम-ब्रह्म है। वे (श्रीकृष्ण) समस्त सौन्दर्य और माधुर्यके मूल हैं। गोलोकका चतुर्व्यूह, परव्योमका चतुर्व्यूह और अन्यान्य चतुर्व्यूहगण उन श्रीकृष्णके अङ्ग होनेके कारण वे मूल अङ्गी हैं। वे स्वरूपशक्ति श्रीवृषभानु-नन्दिनीके साथ और श्रीवृषभानु-नन्दिनीके कायव्यूह-स्वरूप हजारों-हजारों सखियों द्वारा सर्वदा परिसेवित होकर जीवोंके नित्य-आराध्य हैं। वे नित्य अप्राकृत विग्रहवान हैं। वे प्राकृत हाथ-पैर आदिसे रहित होनेके कारण प्राकृत नेत्रोंके समक्ष 'निराकार' हैं और फिर अप्राकृत हाथ-पैर आदिसे युक्त होनेके कारण अप्राकृत नेत्रोंके समक्ष 'साकार' हैं। वे स्वतन्त्र, सर्वशक्तिमान, सर्वेश्वरेश्वर, अविचिन्त्यशक्तिसे सम्पन्न तथा ब्रह्मा-शिव आदि देवताओं द्वारा नित्य वन्दित हैं।

गौड़ीय वैष्णवाचार्य श्रीमत् कृष्णदास कविराज गोस्वामी द्वारा प्रणीत श्रीचैतन्यचरितामृतके अनुसार—

'कृष्णेर स्वरूप-विचार शुन सनातन।
अद्वयज्ञान-तत्त्व, व्रजे व्रजेन्द्रनन्दन॥

सर्व-आदि, सर्व-अंशी, किशोर-शेखर।
चिदानन्द-देह, सर्वाश्रय, सर्वेश्वर॥

स्वयं भगवान् कृष्ण, 'गोविन्द' पर नाम।
सर्वैश्वर्यपूर्ण यार गोलोक—नित्यधाम॥'
(चै० च० म० २०/१५२-१५३, १५५)

(श्रीचैतन्य महाप्रभुने कहा—) हे सनातन! श्रीकृष्ण-स्वरूपके विचार सनो। श्रीकृष्ण व्रजधाममें व्रजपति श्रीनन्दके नन्दन हैं। वे अद्वयज्ञान-तत्त्व हैं। उनके नाम, रूप, गुण और लीला—इन चार प्रकारके तत्त्वोंमें मायासे उत्पन्न परस्पर भेद अथवा विरोध नहीं देखा जाता अर्थात् श्रीकृष्णके नाम, रूप, गुण और लीलामें मायिक भेद-विधि कार्य नहीं कर सकती।

श्रीकृष्ण सभी विष्णुतत्त्वों एवं वैष्णतत्त्वके आदि तत्त्व हैं, उन्हींसे ही समस्त अंश प्रकटित हुए हैं। वे पूर्ण किशोर अवस्थावाले, सच्चिदानन्द विग्रह, सभीके प्रभु एवं सभी वस्तुओंके आश्रय हैं।

स्वयं-भगवान् श्रीकृष्णका ही दूसरा नाम 'गोविन्द' है। उनका वासस्थान—श्रीगोलोक-धाम समस्त प्रकारके ऐश्वर्योंसे पूर्ण, अविनाशी तथा नित्यकाल स्थित रहनेवाला है।

'स्वयं भगवान् कृष्ण, विष्णु-परतत्त्व।
पूर्णज्ञान, पूर्णानन्द परम महत्त्व॥
'नन्दसुत' बलि यारे भागवते गाइ।
सेइ कृष्ण अवतीर्ण चैतन्यगोसाञि॥'
(चै० च० आ० २/८-९)

स्वयं-भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र श्रीविष्णुतत्त्वके परतत्त्व हैं। श्रीकृष्ण पूर्णज्ञान अर्थात् अद्वयज्ञान, पूर्णतम आनन्दस्वरूप एवं लीला, ऐश्वर्य तथा माधुर्यमें अन्यान्य समस्त विष्णु-तत्त्वोंसे परम श्रेष्ठतम हैं। भागवतमें 'नन्दसुत' के रूपमें जिनका गान सुना जाता है, वही श्रीकृष्णचैतन्यके रूपमें अवतीर्ण हुए हैं।

'स्वयं भगवान् कृष्ण—सर्वांशी, सर्वाश्रय।
विशुद्ध-निर्मल-प्रेम, सर्वरसमय॥

सकल सद्गुणवृन्द-रत्न-रत्नाकर।
विदग्ध, चतुर, धीर, रसिकशेखर॥
मधुर चरित्र कृष्णेर मधुर विलास।
चातुर्य, वैदग्ध्य करे जार लीला-रस॥'
(चै॰ च॰ म॰ १५/१३९-१४१)

श्रीकृष्ण स्वयं-भगवान् हैं, वे सबके अंशी तथा सभीके आश्रय हैं। वे विशुद्ध-निर्मल-प्रेममय तथा अखिल रसोंके मूर्त्त विग्रह हैं। श्रीकृष्ण विदग्ध, चतुर, धीर तथा रसिकशेखर आदि समस्त सद्गुणरूपी रत्नोंके सागर हैं। श्रीकृष्णके चरित्र मधुर हैं तथा उनकी लीलाएँ भी अत्यन्त मधुर हैं। जिनके लीला-रस उनका चातुर्य एवं वैदग्धको प्रकाशित करता है।

गौड़ीय वेदान्ताचार्य श्रीमद्बलदेव विद्याभूषणका मत

निरवद्य, विशुद्ध-अनन्त-गुणोंसे युक्त, अचिन्त्यशक्तिसे सम्पन्न, सच्चिदानन्द, पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण हैं। ईश्वर स्वतन्त्र और स्वरूपशक्तिसे सम्पन्न हैं। वे प्रकृति आदिमें अनुप्रवेश और उसके नियमन द्वारा जगत्की सृष्टिकर जीवोंको भोग और मुक्ति प्रदान करते हैं। ईश्वर एक और बहुत रूपोंमें अभिन्न होकर भी गुण और गुणी तथा देह और देही भावमें विद्वानोंकी प्रतीतिका विषय होते हैं। ईश्वर व्यापक होकर भी भक्तिके द्वारा ग्राह्य हैं।

श्रीकृष्ण ही परमतत्त्व हैं। श्रीकृष्ण सर्वकारण-कारण, विज्ञान-आनन्द स्वरूप, मूर्त्त और विभु, अचिन्त्यशक्तिसे सम्पन्न, सर्वज्ञ, आनन्दमय, प्रभु, सुहृत्, माधुर्यमय, सन्धिनी, सम्वित्, ह्लादिनी शक्तिसे समन्वित हैं। श्रीकृष्ण स्वयंरूप और समस्त अवतारोंके अवतारी हैं। श्रीकृष्णका नाम, रूप, गुण, लीला, धाम और परिकर नित्य और अभिन्न हैं।

जीवतत्त्वके विषयमें

श्रीशङ्कराचार्यका मत

जीव अविद्या उपाधिसे ग्रस्त भ्रान्त ब्रह्म है। जब तक आत्माका बुद्धिके साथ संयोग रहता है, तब तक ही जीवत्व या संसारित्व। जीव ब्रह्मका प्रतिबिम्ब या प्रतिच्छवि है। 'ब्रह्म'—अन्तःकरण या बुद्धिरूपी दर्पणमें प्रतिफलित होकर 'जीव' संज्ञाको प्राप्त होता है। ब्रह्मका यह प्रतिबिम्ब अविद्या द्वारा कृत है। परमार्थतः 'जीव' नामक कोई वस्तु ही नहीं है। व्यावहारिक स्तरपर जीव ब्रह्मसे भिन्न है तथा उसका ज्ञातृत्व, भोक्तृत्व, परिच्छिन्नत्व और असंख्यत्व है। पारमार्थिक स्तरपर जीव ब्रह्मरूपमें सच्चिदानन्द स्वरूप, निर्गुण, निर्विकार इत्यादि है।

श्रीरामानुजाचार्यका मत

जीव अणु है। जीव और ईश्वरका अंश-अंशीका सम्बन्ध है। जीव विशेष्यरूप परमात्माका विशेषणरूप अंश है। जीव और परमात्मा—इन दानोंमें विशेषण-विशेष्यका भाव रहनेपर भी अंश-अंशीभाव और परस्पर स्वभावमें विलक्षणता उत्पन्न होता है। जीव ब्रह्मका शरीर है। जीव नित्य, अनादि, अनन्त, ब्रह्मपरिणाम, ज्ञानस्वरूप और ज्ञाता, कर्त्ता और भोक्ता, परिमाणमें अणु किन्तु संख्यामें असंख्य और अनन्त, बद्ध और मुक्त, तथा मुक्त-श्रेणीमें भी बद्ध-अवस्थासे मुक्त तथा नित्यमुक्त भेदसे दो प्रकारके हैं।

श्रीमन्मध्वाचार्यका मत

जीवसमूह श्रीहरिके नित्य अनुचर हैं। दो प्रकारके परतन्त्र तत्त्वोंमें जीव—चेतनस्वरूप हैं। जीव ब्रह्मसे नित्य भिन्न, अनन्त, अणु परिमाणके है। बद्धजीव तीन प्रकारके हैं—सात्त्विक, राजसिक और तामसिक। शुद्धजीव विष्णुके ही निरुपाधिक प्रतिबिम्ब स्वरूप है।

आचार्य श्रीविष्णुस्वामीका मत

जीव ब्रह्मके अंश हैं। परमात्माकी माया द्वारा आवृत होकर जीव क्लेशोंसे ग्रस्त हैं। जीव स्वरूपतः चेतन अथवा स्व-प्रकाश होकर भी दुःखके आधार हैं। मुक्त और बद्ध भेदसे जीव दो प्रकारके हैं। मुक्तजीव बहुत हैं। मुक्तजीव भगवत्-इच्छासे नित्यविग्रह धारणपूर्वक श्रीभगवान्‌की सेवा करते हैं।

आचार्य श्रीनिम्बादित्यका मत

जीव परमात्माके साथ अंश-अंशी भाव अथवा भेदाभेद सम्बन्धसे युक्त हैं। जीव ज्ञानस्वरूप होकर भी ज्ञातृस्वरूप हैं। जीव अणुचैतन्य हैं तथा बृहत्-चैतन्य परमेश्वरके अधीन हैं। जीव संख्यामें अनन्त है। जीव तीन प्रकारके हैं—(१) मुक्त, (२) बद्धमुक्त और (३) बद्ध। जो श्रीहरिके चरणोंके आश्रित हैं, वे 'मुक्त' हैं। जो पहले माया द्वारा बद्ध रहकर साधु-गुरुकी कृपासे भगवत्-कृपा प्राप्त किये हैं या करेंगे, वे 'बद्धमुक्त' हैं। और जो भगवत्-बहिर्मुखता स्वीकार करते हुए मायिकभोगमें प्रमत्त हैं, वे 'बद्ध' हैं। मुक्त, बद्धमुक्त और बद्ध जीवगण फिर अवस्था भेदसे बहुत प्रकारके हैं। मुक्तगण—पार्षद और पार्षदके अनुगत आदि अवस्थासे विविध प्रकारके हैं। बद्धमुक्तगण—पार्षद और साधकके भेदसे बहुत प्रकारके हैं। बद्धजीवगण—विषयी, विवेकी और मुमुक्षु भेदसे विभिन्न प्रकारके हैं। भगवान्‌से बहिर्मुख होनेके कारण ही जीवोंकी मायाबद्ध अवस्था है, इसलिए एकमात्र भगवान्‌की कृपासे ही जीव मायामुक्त होते हैं, किसी कोई उपायसे नहीं।

गौड़ीय वैष्णवाचार्य श्रीमत् कृष्णदास कविराज गोस्वामी द्वारा प्रणीत श्रीचैतन्यचरितामृतके अनुसार—

'जीवेर 'स्वरूप' हय कृष्णेर 'नित्यदास'।
कृष्णेर 'तटस्था-शक्ति', भेदाभेद-प्रकाश॥'

(चै॰ च॰ म॰ २०/१०८)

(श्रीसनातन गोस्वामीके प्रश्न "के आमि अर्थात् मैं कौन हूँ?" के उत्तरमें श्रीमन् महाप्रभुने कहा—) तुम—जीव हो। क्या तुम जड़से उत्पन्न यह शरीर हो? ऐसा तो नहीं है। अथवा क्या तुम मन-बुद्धि-अहङ्कार स्वरूप लिङ्गशरीर ही हो? वैसा भी नहीं है। तुम स्वरूपः श्रीकृष्णके नित्यदास हो। तुम श्रीकृष्णकी तटस्थाशक्ति हो अर्थात् चित्-जगत् और मायिक-जगत्के बीचकी सीमापर स्थित होकर दोनों जगतोंके साथ तुम्हारा सम्बन्ध रहनेके कारण, तुम—तटस्थाशक्ति हो। श्रीकृष्णके साथ तुम्हारा भेदाभेद-प्रकाश स्वरूप दो प्रकारका 'सम्बन्ध' है। चिन्मय धर्मके सम्बन्धमें तुम—श्रीकृष्णके अभेद-प्रकाश एवं अणुचैतन्य-धर्मवशतः बृहत्-चैतन्यरूप श्रीकृष्णके भेद-प्रकाश हो। श्रीकृष्णके साथ तुम्हारा भेद और अभेद—युगपत् सिद्ध है। जीवके तटस्थ-स्वभावसे ही यह युगपत् भेदाभेद-प्रकाश सिद्ध हुआ है।

'सेइ विभिन्नांश जीव—दुइ त' प्रकार।
एक—'नित्यमुक्त', एक—'नित्य-संसार'॥

'नित्यमुक्त'—नित्य कृष्णचरणे उन्मुख।
'कृष्ण-पारिषद' नाम, भुञ्जे सेवा-सुख॥

'नित्यबद्ध'—कृष्ण हैते नित्य बहिर्मुख।
नित्यसंसार, भुञ्जे नरकादि दुःख॥'

(चै॰ च॰ म॰ २२/१०-१२)

जीव—श्रीकृष्णका विभिन्न-अंश स्वरूप है। जीव भी श्रीकृष्णकी शक्तिमें परिगणित है। जीव दो प्रकारके हैं—नित्यमुक्त और नित्यसंसार (बद्ध)। नित्यमुक्त जीवोंने कभी भी माया सम्बन्धका आस्वादन नहीं किया। वे श्रीकृष्णके चिन्मयधाममें कृष्ण-चरणोन्मुख रहकर 'श्रीकृष्णके पारिषद (परिकर)' के नामसे परिचित हैं। कृष्ण-सेवा-सुख ही उनका भोग है। नित्यबद्ध जीव श्रीकृष्णसे नित्य बहिर्मुख रहकर संसारमें स्वर्ग-नरक आदि सुख-दुःखका भोग करते हैं।

गौड़ीय वेदान्ताचार्य श्रीमद्बलदेव विद्याभूषणका मत

जीव अणुचैतन्य हैं। जीव बहुत है और विविध आवस्थाओंमें है। ईश्वरसे विमुखता ही उनके बन्धनका कारण है। ईश्वरका साम्मुख्य ही स्वरूप-आवरण और गुण-आवरण रूप दो प्रकारके बन्धनसे जीवको मोचनकर उसका स्वरूप-साक्षात्कार प्राप्त कराता है। जीव परमात्माका 'अंश', 'भगवद्दास' है। सभी जीव स्वरूपतः ज्ञान-स्वरूप, ज्ञाता, कर्त्ता और भोक्ता हैं। बद्धजीव कर्मके अनुसार भिन्न हैं तथा मुक्तजीव भक्तिके तारतम्यसे भिन्न हैं। जीव—नित्यमुक्त, बद्धमुक्त और बद्धके भेदसे तीन प्रकारके हैं। जीव ब्रह्मात्मक हैं, किन्तु वे स्वयं ब्रह्म नहीं हैं। वे ब्रह्मकी शक्तिरूपमें ब्रह्मका अंश हैं।

माया या शक्तितत्त्वके विषयमें

श्रीशङ्कराचार्यका मत

माया 'अनिर्वचनीय' (अर्थात् उसका स्वरूप वचनके द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता) है। माया असत् भी नहीं है तथा सत् भी नहीं है। श्रौत-दृष्टिमें 'माया' तुच्छ है, युक्तिके द्वारा देखनेसे उसे 'अनिर्वचनीय' कहना होगा और लौकिक दृष्टिसे उसे वास्तव मानना होगा। यह माया जगत्की बीजशक्ति है तथा परमेश्वरके अधीन है। सगुण ब्रह्म या ईश्वर ही अचिन्त्य अनन्त शक्तिमान हैं, ईश्वरकी शक्तियाँ अतर्क्य हैं।

श्रीरामानुजाचार्यका मत

माया परब्रह्मकी 'शक्ति' है और त्रिगुणात्मिका 'प्रकृति' ही विचित्र-सृष्टि करनेवाली है। परमेश्वर मायाशक्तिके द्वारा जगत्की सृष्टि करते हैं। शक्तिको परब्रह्मकी धर्मविशेष अथवा वृत्तिविशेष कहा जा सकता है। परब्रह्मकी शक्ति सनातन, स्वाभाविक और स्वरूपानुबन्धिनी (अर्थात् परब्रह्मके स्वरूपकी सहचर) है।

श्रीमन्मध्वाचार्यका मत

श्रीहरिकी शक्ति मुख्यरूपमें माया तथा अमुख्यरूपमें प्रकृति है। माया त्रिगुणात्मिका है। विष्णुके वशीभूत प्रकृति ही शक्ति है। सृष्टिकालमें उक्त प्रकृतिके सत्त्व, रजः और तम नामक तीन प्रकारके विभाग होते हैं। सद्गुण प्रकाशिका 'श्री' 'सत्त्व' गुणस्वरूपा, 'भू'-प्रकृति सृष्टिकारी होनेके कारण 'भू' नामसे तथा रञ्जनकारिनी होनेके कारण 'रजः' नामसे कथित है और 'दुर्गा'-प्रकृति जीवोंके लिए दुःखदायिनी होनेके कारण 'तमः' रूपमें कीर्त्तित है। उक्त तीन प्रकृतियोंमें आबद्ध होनेके कारण जीवगण मुक्तिको प्राप्त करनेमें असमर्थ होते हैं। समस्त प्रकृतियाँ ही सभीको बद्ध करती हैं, तथापि विशेष रूपसे 'श्री'-प्रकृति देवताओंको, 'भू'-प्रकृति मनुष्योंको तथा 'दुर्गा'-प्रकृति दैत्योंको आबद्ध करती हैं।

आचार्य श्रीविष्णुस्वामीका मत

माया ईश्वरके अधीन है। जीवको पीड़ित करनेके कारण वह 'अविद्या' के नामसे जानी जाती है। ईश्वर सच्चिदानन्द हैं तथा ह्लादिनी और सम्वित् शक्ति द्वारा आलिङ्गित हैं।

आचार्य श्रीनिम्बादित्यका मत

माया—प्रधान आदि पदवाच्या है तथा त्रिगुणमयी है। परब्रह्मकी असंख्य शक्तियोंमें 'चित्' और 'अचित्'—ये दानों शक्तियाँ मुख्य हैं। चित्-शक्ति द्वारा भगवान् जीवको तथा अचित्-शक्ति द्वारा जगत्का सृजन करते हैं।

गौड़ीय वैष्णवाचार्य श्रीमत् कृष्णदास कविराज गोस्वामी द्वारा प्रणीत श्रीचैतन्यचरितामृतके अनुसार—

'माया-द्वारे सृजे तेंहो ब्रह्माण्डेर गण।
जड़रूपा प्रकृति नहे ब्रह्माण्डेर कारण॥'

(चै॰ च॰ म॰ २०/२५९)

जड़रूपा प्रकृति जगत्का कारण नहीं है। श्रीकृष्ण स्वयं कारणार्णवशायी महाविष्णुके रूपमें अङ्गाभास[१] द्वारा मायासे मिलित होकर अगण्य, अनन्त ब्राह्माण्डोंकी सृष्टि करते हैं।

'एइ सब शब्द हय 'ज्ञान'-'विज्ञान'-विवेक।
माया—कार्य, माया हैते आमि व्यतिरेक॥'
(चै० च० म० २५/११४)

इन सब शब्दोंसे भगवत्-तत्त्वज्ञानका एवं भगवत्-स्वरूपकी साक्षात् अनुभूतिका यथार्थ विवेक प्राप्त होता है। मायाके कार्य अर्थात् जगत् एवं माया—इन दोनोंसे मैं भिन्न हूँ।

'मायार ये दुइ वृत्ति—'माया' आर 'प्रधान'।
'माया' निमित्त हेतु, 'प्रधान' विश्वेर उपादान॥'
(चै० च० म० २०/२७१)

भगवान्की बहिरङ्गाशक्ति मायाकी दो वृत्तियाँ हैं—निमित्तांश 'गुण-रूपा माया' और उपादान अंश 'द्रव्य-रूप प्रधान'।

'अनन्तशक्ति-मध्ये कृष्णेर तिन शक्ति प्रधान।
'इच्छाशक्ति', 'क्रियाशक्ति', 'ज्ञानशक्ति' नाम॥'
(चै० च० म० २०/२५२)

अद्वयतत्त्व श्रीकृष्णकी अनन्त शक्तियाँ हैं। उनमेंसे 'इच्छाशक्ति', 'क्रियाशक्ति' और 'ज्ञानशक्ति'—इन तीनोंका ही सभी कार्योंमें विशेष परिचय है।

'कृष्णेर स्वाभाविक तिनशक्ति परिणति।
'चिच्छक्ति', 'जीवशक्ति' और 'मायाशक्ति'॥'
(चै० च० म० २०/१११)

श्रीकृष्णकी स्वाभाविक शक्ति तीन रूपोंकी परिणत है—चित्-शक्ति, जीव-शक्ति और माया-शक्तिके रूपमें प्रकाशित होती है।

---

[१] 'अङ्गाभास' का अर्थ अङ्ग-मिलनका आभासमात्र है, वास्तवमें अङ्गमिलन नहीं।

गौड़ीय वेदान्ताचार्य श्रीमद्बलदेव विद्याभूषणका मत

सत्त्व, रजः और तमोगुणकी साम्य अवस्था ही प्रकृति है। वह 'तमो-माया' आदि शब्दवाच्य है तथा ईश्वरके ईक्षणसे प्रेरित होकर विचित्र जगत्का उत्पादन करती है। विचित्र-सृष्टि करनेवाली पारमेश्वरी-शक्ति 'माया' सत्य है तथा वह अनिर्वचनीय नहीं है। जीव, प्रकृति, काल और कर्म—यह चार शक्तिमद् ब्रह्मकी शक्तियाँ हैं।

श्रीहरिकी परा, अपरा और अविद्या नामक तीन प्रकारकी शक्तियाँ हैं। पराशक्ति फिर सम्वित्, सन्धिनी और ह्लादिनी शक्तिके नामसे प्रकाशित है।

जगत्-तत्त्वके विषयमें

श्रीशङ्कराचार्यका मत

'जगत्' ब्रह्मका विवर्त्त है। माया शक्तिसे सम्पन्न ब्रह्म ही जगत्के रूपमें प्रकाशित हैं। माया उपाधिसे युक्त ब्रह्म या ईश्वर ही जगत्के स्रष्टा हैं। 'ईश्वर' कारण हैं और 'जगत्' कार्य है। व्यावहारिक दृष्टिमें जगत्की सत्ता है, किन्तु पारमार्थिक विचारसे जगत् मिथ्या है अर्थात् 'जगत्' कहकर कुछ भी नहीं है।

श्रीरामानुजाचार्यका मत

'जगत्' ब्रह्मका स्थूलशरीर है। स्थूल-सूक्ष्मरूप सम्पूर्ण जगत् ईश्वरका शरीर होनेपर भी ईश्वरमें कर्मके सम्बन्धका गन्ध भी नहीं है। स्थूल-सूक्ष्म चित्-अचित् ब्रह्मका शरीर है। सृष्टिके पूर्वमें अर्थात् प्रलयकालमें जगत् ब्रह्मके सूक्ष्मशरीरमें वनमें लीन हुए पक्षीके समान नाम-रूप आदिके विभागसे रहित होकर ब्रह्मसे अभिन्न रूपमें अवस्थित रहता है तथा सृष्टिकालमें नाम-रूप आदि द्वारा विभक्त होकर स्थूल रूपमें परिणत हुआ करता है। ब्रह्मके उपादानत्व अर्थात् जगत् रूपमें परिणति द्वारा ब्रह्मके स्वभावकी विपरीतता घटित नहीं होती है। यही ब्रह्मके स्वभावसिद्ध

ऐश्वर्यका परिचायक है। ब्रह्म ही जगत्‌का निमित्त और उपादान कारण हैं।

श्रीमन्मध्वाचार्यका मत

'जगत्' सत्य है। कल्पके आदिसे लेकर कल्पके अन्त तक उपादान कारण 'प्रकृति' का घटादि विविध कार्य रूपोंमें परिणाम होता है तथा कल्पके अन्तमें 'प्रकृति' की सूक्ष्म रूपमें अवस्थिति होती है। जीवके अदृष्ट (कर्म) और उसकी योग्यतानुसार भगवान् विविध रूपोंमें जगत्‌की सृष्टि करते हैं तथा जीवके अदृष्टकी समाप्ति होनेपर जगत्‌का विनाश करते हैं। तब जगत् अपने कारण रूपमें अवस्थान करता है। यह जगत् सत्य है तथा भगवान् श्रीविष्णुके वशवर्त्ती है। इस जगत्‌की नित्यता प्रवाहक्रमसे अर्थात् सृष्टि-स्थिति-लयके प्रवाहक्रम वर्त्तमान है। जगत्‌की सृष्टि ब्रह्मके ईक्षण द्वारा होती है।

आचार्य श्रीविष्णुस्वामीका मत

'जगत्' ब्रह्मका कार्य है। ब्रह्मके साथ अङ्ग और अङ्गीके सम्बन्धसे युक्त तथा ब्रह्म स्वरूप यह जगत्‌रूपी कार्य सत्य है। सर्वकारण ब्रह्म जब सत्य और नित्य हैं, तब उनका कार्यरूप यह जगत् भी सत्य और नित्य है। मिट्टिरूप कारणमें घट आदि कार्य विद्यमान रहनेके कारण मिट्टिसे घटादिकी उत्पत्ति सम्भव होता है, उसी प्रकार सृष्टिके पहले जगत्‌रूप कार्य सर्वकारण ब्रह्मवस्तुमें विद्यमान रहता है। उपादान-कारण ब्रह्मकी जगत्‌रूप कार्य-अवस्था भी उक्त प्रकारसे अवस्थान्तरकी प्राप्तिमात्र है। अतएव जगत् वस्तुका कार्य होनेपर भी वस्तुमें किसी प्रकारका विकारदोष आरोपित नहीं हो सकता है।

आचार्य श्रीनिम्बादित्यका मत

'जगत्' कार्य है, 'ब्रह्म' कारण हैं। ब्रह्म शक्तिमान हैं और जगत् उनकी शक्ति है। 'ब्रह्म' चेतन हैं और 'जगत्' अचेतन है। इसलिए ब्रह्म और जगत्‌में स्वाभाविक भेद और स्वाभाविक अभेद

दोनों ही समान रूपमें सत्य हैं। सृष्टिके पहले जगत् सूक्ष्मशक्ति रूपमें तथा सृष्टिके समय वास्तव-वस्तुके परिणाम रूपमें नित्य सत्य है।

गौड़ीय वैष्णवाचार्य श्रीमत् कृष्णदास कविराज गोस्वामी द्वारा प्रणीत श्रीचैतन्यचरितामृतके अनुसार—

'सेइ त' मायार दुइविध अवस्थिति।
जगतेर उपादान 'प्रधान', 'प्रकृति'॥

जगत्कारण नहे प्रकृति जड़रूपा।
शक्ति सञ्चारिया तारे कृष्ण करे कृपा॥

कृष्णशक्त्ये प्रकृति हय गौण-कारण।
अग्निशक्त्ये लोह यैछे करये जारण॥

अतएव कृष्ण मूल जगत्-कारण।
प्रकृति—कारण, यैछे अजागलस्तन॥'

(चै० च० आ० ५/५८-६१)

मायाकी दो प्रकारकी अवस्थिति है—जगत्के उपादान—'प्रधान' रूपमें एवं जगत्के निमित्त—'माया' रूपमें। प्रकृति वास्तवमें जड़रूपा होनेके कारण जगत्का कारण नहीं है। भगवान्के ईक्षण (दृष्टिपात) द्वारा शक्ति सञ्चारित होनेपर प्रकृति उस शक्तिके बलसे जगत्की सृष्टिका 'गौण' कारण बनती है। जिस प्रकार लोहेमें प्रवेश करके अग्नि उसे जलानेकी शक्ति देती हैं, उसी प्रकार। अतएव श्रीकृष्ण ही जगत्के मूल कारण हैं। अजागलस्तनकी भाँति प्रकृति द्रव्यरूप कारणत्व है अर्थात् प्रकृति बकरीके गलेमें दिखायी देनेवाले स्तनके समान केवलमात्र दिखावेमात्रके लिए ही जगत्का कारण है।

'जीवेर देहे आत्मबुद्धि, सेइ मिथ्या हय।
जगत् जे मिथ्या नहे, नश्वरमात्र हय॥'

(चै० च० म० ६/१७३)

नित्य-कृष्णदास निर्मल जीव, कर्मफल-भोगपर स्थूल-सूक्ष्म रूपी दोनों देहोंमें भ्रमपूर्वक 'मैं' की बुद्धि करता है, यह बुद्धि—मिथ्या है। जगत् वास्तवमें मिथ्या नहीं होनेपर भी काल द्वारा परिवर्त्तन योग्य है।

'अविचिन्त्य-शक्तियुक्त श्रीभगवान्।
इच्छाय जगत्रूपे पाय परिणाम॥
तथापि अचिन्त्यशक्त्ये हय अविकारी।
प्राकृत चिन्तामणि ताहे दृष्टान्त धरि॥
नाना रत्नराशि हय चिन्तामणि हैते।
तथापिह मणि रहे स्वरूपे अविकृत॥'
(चै॰ च॰ आ॰ ७/१२४-१२६)

अचिन्त्यशक्तिसे युक्त श्रीभगवान् अपनी स्वतन्त्र इच्छासे ही जगत्के रूपमें परिणत होते हैं। तथापि वे अपनी अचिन्त्यशक्तिके प्रभावसे अविकारी ही रहते हैं। इसमें प्राकृत चिन्तामणि ही दृष्टान्त है। अनेक रत्न प्रसव करनेपर भी चिन्तामणि स्वरूपतः अविकृत ही रहती है। प्राकृत वस्तुमें यदि इस प्रकारकी अचिन्त्य हो सकती है, तो फिर ईश्वरमें उसकी अपेक्षा अनन्तगुण अचिन्त्यशक्ति होगी, इसमें आश्चर्यकी क्या बात है?

गौड़ीय वेदान्ताचार्य श्रीमद् बलदेव विद्याभूषणका मत

सत्यस्वरूप ईश्वरकी शक्ति होनेके कारण जगत् 'सत्य' है। जन्मादि अनित्यतासे युक्त जगत् सत्य होनेपर भी अनित्य है। जगत् ब्रह्मके अधीन है। पारमार्थिक दृष्टिसे जगत्का निमित्त और उपादान कारण ब्रह्म है। 'परा' नामक शक्तिसे युक्त रूपमें ब्रह्मका निमित्तकारणत्व है तथा जीव-प्रकृति नामक शक्तिसे युक्त रूपमें ब्रह्मका उपादानकारणत्व है।

कार्य-स्वरूप जगत्के परिणामशील या अनित्य होनेपर भी जगत्की कारण-स्वरूप बहिरङ्गाशक्ति अनित्य नहीं है। परमात्माके भीतर सूक्ष्म रूपमें स्थूलजगत्का कारण अवस्थित रहता है।

साधन-तत्त्वके विषयमें

श्रीशङ्कराचार्यका मत

केवल ब्रह्मज्ञानके द्वारा ही मोक्ष प्राप्त होता है। ब्रह्मज्ञान प्राप्त करनेके लिए नित्य-अनित्य वस्तुका विवेक अर्थात् कौन-सी वस्तु नित्य और कौन-सी अनित्य है—इसका निश्चय करना, लौकिक और पारलौकिक विषयभोगसे वैराग्य होना, शम अर्थात् बाहरी इन्द्रियोंका संयम, दम अर्थात् अन्तर इन्द्रियका संयम, उपरति अर्थात् विषयानुभवसे विरक्ति, तितिक्षा अर्थात् शीत-ग्रीष्म आदि सहन करना, समाधि अर्थात् आत्मतत्त्वमें मनका संयोग, 'श्रद्धा' अर्थात् गुरुवाक्य और वेदान्तवाक्यमें विश्वास और मुमुक्षुत्व अर्थात् मुक्त होनेके लिए इच्छा आदिका साधन सबसे पहले आवश्यक है। नित्य-शुद्ध-मुक्त-सत्य स्वभावयुक्त ब्रह्मज्ञान ही मोक्ष प्राप्त करनेका कारण है। इस ज्ञानको प्राप्त करनेके लिए श्रवण-मनन तथा पुनः-पुनः ध्यानके द्वारा समाधिको प्राप्त करना होगा। उपासना द्वारा चित्तकी शुद्धि करनी होगी तथा वह उपासना सगुण और निर्गुण भेदसे हुआ करती है। ब्रह्मबोधके लिए उपासना, प्रतीकोपासना, अहंग्रहोपासना भी आश्रयनीय है।

श्रीरामानुजाचार्यका मत

भक्ति ही अत्यधिक प्रिय है और एकमात्र प्रयोजनीय है तथा वह अन्यान्य समस्त वस्तुओंमें वितृष्णाको उत्पन्न करनेवाला ज्ञानविशेष है। वैसी भक्तियुक्त आत्माके द्वारा ही भगवान् वरणीय और भक्तोंके द्वारा प्राप्य हैं। निरन्तर सम्बन्धविशिष्ट ज्ञान सहित कर्म अनुगृहीत भक्तियोग ही ऐसे परमभक्तिरूप ज्ञान-विशेषका उत्पादक है। वर्णाश्रमधर्मके माध्यमसे परमपुरुषकी उपासना ही भक्तियोग है। पराशर वाक्य यथा—'वर्णाश्रमाचारवता' श्लोक।

उपासना पाँच प्रकारकी है—(१) अभिगमन अर्थात् देव मन्दिर-मार्ग आदि सम्मार्जन और लेपनादि, (२) उपादान अर्थात् गन्ध-पुष्प आदि पूजा सामग्रीका संग्रह, (३) इज्या अर्थात्

विष्णुपूजा, (४) स्वाध्याय अर्थात् अर्थका अनुसन्धानपूर्वक मन्त्रजप, वैष्णवसूक्त-स्तोत्रादिका पाठ, नामसङ्कीर्त्तन, तत्त्वप्रतिपादक शास्त्रोंका पुनः-पुनः आलोचना, (५) भगवदनुसन्धान अर्थात् भगवान्‌की प्राप्तिके लिए उत्कण्ठापूर्वक भक्तिके अङ्गोंका याजन।

श्रीमन्मध्वाचार्यका मत

भक्ति तीन प्रकारकी है—(१) साधारणीभक्ति, (२) परमाभक्ति, (३) स्वरूपभक्ति। सद्गुरुसे शास्त्रश्रवण करनेसे पहले जिस भक्तिका उदय होता है, वह 'साधारणीभक्ति' है। फिर श्रौतपथमें सद्गुरुके चरणकमलका आश्रय पाकर भी तत्त्वज्ञानके अभावमें धन, पुत्र आदिके लिए भगवान्‌से प्रार्थना आदिको 'साधारणीभक्ति' कहना तो दूर रहे, वह अधमाधमा अर्थात् वह अधमसे भी अधम है। उसके द्वारा कभी भी ज्ञान या मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकती है।

अपरोक्ष-ज्ञान या भगवद्दर्शनके बाद जिस भक्तिका उदय होता है, वह 'परमाभक्ति' है। वह कर्म-अभिलाषा आदिसे वर्जित होनेके कारण 'अमलाभक्ति' के नामसे भी विख्यात है। इस 'परमाभक्ति' के द्वारा ही श्रीभगवान्‌की परम कृपा प्राप्त होती है। मोक्षके बाद जीव-स्वरूपमें जो 'नित्यभक्ति' वर्त्तमान रहती है, उसे 'स्वरूपभक्ति' या 'साध्यभक्ति' कहा जाता है।

श्रीभगवान्‌की महिमाके ज्ञान द्वारा 'मैं' और 'मेरा' समस्त वस्तुओंसे अत्यन्त विलक्षण, सुदृढ़, निरुपाधिक स्नेह ही 'भक्ति' कहकर शास्त्रोंमें उक्त हुआ है। इस भक्तिके द्वारा ही मुक्ति प्राप्त होती है, अन्य उपायसे नहीं।

भक्तिका साधनक्रम इस प्रकार है—पहले श्रद्धारूपा भक्ति द्वारा साधु-शास्त्रके माध्यमसे भगवान्‌की महिमाका ज्ञान प्राप्त हुआ करता है। उसके बाद अपरोक्ष-साधनके अन्तर्गत जो भक्ति है, उसका उदय होता है। फिर अपरोक्ष-ज्ञानके प्राप्त होनेके बाद 'परमाभक्ति' तथा उसके बाद मुक्ति अर्थात् श्रीविष्णुके चरणकमलोंकी प्राप्ति हुआ करती है। तब स्वरूपभक्ति या साध्यभक्ति उदित होती है। यही परम सुखस्वरूपिणी है।

आचार्य श्रीविष्णुस्वामीका मत

जो सत्-स्वरूप, चित्-स्वरूप, नित्य-स्वरूप और नित्य-अचिन्त्य हैं तथा पूर्ण-आनन्द ही जिनका एकमात्र विग्रह है, वही परदेवता हैं और उनका भजन ही भक्ति है। श्रीविष्णुस्वामी रुद्रके आनुगत्यमें नृपञ्चास्यकी (श्रीनृसिंहकी) उपासना करते हैं। श्रीविष्णुस्वामी श्रीभगवन्नामके आश्रित थे। वे उपास्य, उपासना और उपासककी नित्यताको स्वीकार करते थे। उनके द्वारा कृत भाष्यमें कथित है—'मुक्ता अपि लीलया विग्रहं कृत्वा भगवन्तं भजन्ते।' अर्थात् मुक्तजीव भी लीलापूर्वक नित्य-विग्रहको धारण करके भगवान्का भजन करते हैं।

आचार्य श्रीनिम्बादित्यका मत

श्रद्धा और निष्ठारूप भगवद्भक्तिका आश्रय ग्रहण करना कर्त्तव्य है। अनन्यभावसे एकमात्र ब्रह्म-शिवादि द्वारा वन्दित सर्वेश्वरेश्वर श्रीकृष्णकी उपासना ही कर्त्तव्य है। विष्णुके अतिरिक्त दूसरे देवताओंकी उपासनाकी निन्दा करनेसे नरकमें पतन होना सुना जाता है।

उपासना या भक्ति दो प्रकारकी है—(१) साधनरूपी अपरा भक्ति, (२) प्रेमलक्षणा उत्तमा भक्ति।

श्रवण-कीर्त्तन आदि नवधा साधनभक्तिके द्वारा प्रेम-लक्षणा उत्तमा भक्तिका उदय होता है।

गौड़ीय वैष्णवाचार्य श्रीमत् कृष्णदास कविराज गोस्वामी द्वारा प्रणीत श्रीचैतन्यचरितामृतके अनुसार—

'कृष्णभक्ति हय अभिधेय-प्रधान।
भक्तिमुख-निरीक्षक कर्म-योग-ज्ञान॥

एइ सब साधनेर अति तुच्छ बल।
कृष्णभक्ति विना ताहा दिते नारे फल॥'

(चै॰ च॰ म॰ २२/१७-१८)

शास्त्रोंमें अनेक स्थानोंपर कर्मको, अनेक स्थानोंपर योगको एवं अनेक स्थानोंपर ज्ञानको 'अभिधेय' कहा गया है, तथापि सर्वत्र भक्तिको ही सर्वप्रधान 'नित्य अभिधेय' के रूपमें वर्णन किया है। इसका तात्पर्य यह है कि श्रीकृष्णभक्ति ही परम पुरुषार्थ (प्रेम) को प्राप्त करनेका एकमात्र प्रधान अर्थात् 'साक्षात्' अभिधेय है। कर्म, योग और ज्ञानमें जो अभिधेयत्व है, वह 'गौण' है, क्योंकि कृष्णभक्तिके आश्रयके बिना कर्म, योग और ज्ञानका बल तुच्छ है, अतः वे कोई फल नहीं दे सकते। भक्तिका आश्रय प्राप्त करनेपर ही कर्म और हठ-योग भुक्तिरूपी फल एवं ज्ञान और राज-योग मुक्ति और सिद्धिरूपी फल दे सकते हैं।

'केवलज्ञान 'मुक्ति' दिते नारे भक्ति बिना।
कृष्णोन्मुखे सेइ मुक्ति हय ज्ञान-बिना॥'

(चै॰ च॰ म॰ २२/२१)

'ज्ञानतः सुलभा मुक्तिः'—इस शास्त्र वचनसे जाना जाता है कि ज्ञान ही मुक्ति दे सकता है, किन्तु इसमें एक गूढ़ बात है—भक्तिके आश्रयके बिना ज्ञान मुक्ति नहीं दे सकता है। पक्षान्तरमें, कृष्णोन्मुखी भक्तिके उदित होनेपर किसी प्रकारकी ज्ञान-चेष्टा नहीं करनेपर भी वह मुक्ति स्वयं उपस्थित होती है।

'कृष्ण-नित्यदास जीव ताहा भूलि गेल।
एइ दोषे माया तार गलाय बान्धिल॥

ताते कृष्ण भजे, करे गुरुर सेवन।
मायाजाल छूटे, पाय कृष्णेर चरण॥'

(चै॰ च॰ म॰ २२/२४-२५)

'जीव श्रीकृष्णका नित्यदास हैं'—इस सत्यके विस्मृत होनेपर ही माया जीवको अनेक प्रकारसे प्रलुब्ध और विमोहित करके उसके गलेको त्रिगुणरूपी पाशसे बाँध देती है। गुरुसेवा और कृष्णभजनके

बलसे बद्धजीव मायाजालसे मुक्त होकर श्रीकृष्णके चरणकमलोंको प्राप्त करता है।

''श्रद्धा'-शब्दे विश्वास कहे सुदृढ़ निश्चय।
कृष्णे भक्ति कैले सर्वकर्म कृत हय॥'
(चै॰ च॰ म॰ २२/६२)

'श्रीकृष्णभक्ति करनेसे ही सब कुछ करना हो जाता है'—ऐसे सुदृढ़ निश्चयात्मक विश्वासको भक्तिमें अधिकार प्रदान करनेवाली 'श्रद्धा' कहते है।

'श्रद्धावान् जन हय भक्ति-अधिकारी।
'उत्तम', 'मध्यम', 'कनिष्ठ'—श्रद्धानुसारी॥'
(चै॰ च॰ म॰ २२/६४)

जिनके हृदयमें श्रद्धा उत्पन्न हो गयी है, वही भक्तिके अधिकारी हैं। वैसे श्रद्धावान व्यक्ति—'उत्तम', 'मध्यम' और 'कनिष्ठ' के भेदसे तीन प्रकारके हैं।

'एबे साधनभक्ति-लक्षण शुन, सनातन।
याहा हैते पाइ कृष्णप्रेम-महाधन॥'
(चै॰ च॰ म॰ २२/१०१)

(श्रीचैतन्य महाप्रभुने कहा—) हे सनातन! अब तुम साधनभक्तिके लक्षण सुनो, जिसके अनुष्ठान द्वारा श्रीकृष्ण-प्रेमरूपी महाधनकी प्राप्ति होती है।

'श्रवणादि-क्रिया—तार 'स्वरूप'-लक्षण।
'तटस्थ' लक्षणे उपजय प्रेमधन॥

नित्यसिद्ध कृष्णप्रेम, 'साध्य' कभु नय।
श्रवणादि-शुद्धचित्ते करये उदय॥

एइ त' साधनभक्ति दुइ त' प्रकार।
एक 'वैधीभक्ति', 'रागानुगा भक्ति' आर॥

'रागहीन जन भजे शास्त्रेर आज्ञाय।
'वैधीभक्ति' बलि तारे सर्वशास्त्रे गाय॥'
(चै० च० म० २२/१०३-१०६)

अनुकूल भावके साथ श्रवण, कीर्त्तन और स्मरण ही उस साधनभक्तिका 'स्वरूप' लक्षण है। अन्याभिलाष-त्याग और ज्ञान-कर्मके साथ सम्बन्ध छेदनरूप तटस्थ-लक्षणके द्वारा वह (साधन) 'प्रेमधन' को उत्पन्न करता है। कृष्णप्रेम—नित्यसिद्ध वस्तु है, वह कभी भी (शुद्धभक्तिके अतिरिक्त अन्य किसी अभिधेयके द्वारा) साध्य नहीं है, केवलमात्र श्रवण आदि द्वारा विशोधित चित्तमें उसका उदित होना सम्भवपर है। अतएव शुद्ध श्रवण-कीर्त्तनरूपी क्रिया ही प्रधानतः साधनभक्ति है। वह दो प्रकारकी है—'वैधी' और 'रागानुगा'। जिनके हृदयमें राग उदित नहीं हुआ, उनकी शास्त्रोंकी आज्ञासे जो भजनप्रवृत्ति होती है, वही 'वैधीभक्ति' है।

'रागात्मिका-भक्ति—मुख्या व्रजवासी-जने।
तार अनुगत भक्तिर 'रागानुगा'-नामे॥'
(चै० च० म० २२/१४५)

व्रजवासी भक्तोंकी जो राग-स्वरूपा भक्ति है, वही मुख्या है अर्थात् वैसी भक्ति और कहीं भी नहीं है। व्रजवासियोंके अनुगत होकर जो भक्ति विद्यमान रहती है, उसका नाम ही 'रागानुगाभक्ति' है।

'इष्टे 'गाढ़-तृष्णा'—रागेर स्वरूप लक्षण।
इष्टे 'आविष्टता'—तटस्थ-लक्षण कथन॥'
(चै० च० म० २२/१४७)

अभीष्ट वस्तुमें प्रबल तृष्णा ही रागका मुख्य अर्थात् स्वरूप लक्षण है। कार्य द्वारा ज्ञान—जिसे तटस्थ-लक्षण कहते हैं, उसीको यहाँपर अभीष्ट वस्तुमें आविष्टता कहा गया है।

'बाह्य, अन्तर—इहार दुइ त' साधन।
'बाह्य' साधक-देहे करे श्रवण-कीर्त्तन॥
'मने' निज-सिद्धदेह करिया भावन।
रात्रि-दिने करे व्रजे कृष्णेर सेवन॥'
(चै॰ च॰ म॰ २२/१५२-१५३)

रागानुगाभक्तिके 'बाह्य' एवं 'अन्तर'—ये दो प्रकारके साधन-अङ्ग हैं। 'बाह्य' रूपसे साधकदेहसे श्रवण-कीर्त्तन आदिका अनुष्ठान करना। 'अन्तर' अर्थात् कि मनमें अपनी सिद्धदेहकी भावना करते हुए रात-दिन निरन्तर व्रजमें श्रीकृष्णकी मानसी सेवा करना।

गौड़ीय वेदान्ताचार्य श्रीमद्बलदेव विद्याभूषणका मत

एकान्तिक भक्ति ही मुक्तिका कारण है। भक्ति मुक्तिका कारण होकर भी स्वयं अहैतुकी है। साधुसेवा और गुरुसेवा ही भक्तिप्राप्त करनेका एकमात्र उपाय है। साधु-सेवादिके बिना यह भक्ति प्राप्त नहीं की जा सकती है। भक्ति ही जीवोंके एकमात्र पुरुषार्थका साधन है। यह भक्ति सम्विद् और ह्लादिनी शक्तिकी सारभूता है, इसलिए भक्ति—ज्ञानरूपिणी और आनन्ददायिनी है। ज्ञानका सार ही भक्ति है।

साधनक्रम—साधुसङ्ग, साधुसेवा, उसके फलस्वरूप स्व-स्वरूप और पर-स्वरूपका बोध प्राप्त करना और उन दोनोंमें सम्बन्धज्ञान। फिर उससे अन्य वस्तुओंमें वैराग्य सहित भक्ति तथा श्रीभगवान्को श्रेष्ठ रूपमें वरण और उनका साक्षात्कार। नवविधा साधनभक्ति, गुरुसेवा ही भगवद्भक्तिको प्राप्त करनेका द्वार है, निष्किञ्चन महतोंके चरणमें सर्वस्व अर्पण करनेके अतिरिक्त हरिसेवाको प्राप्त करना असम्भव है। भगवान्से अभिन्नज्ञानके साथ गुरुकी सेवा। सद्गुरुसे शिक्षा-दीक्षा और सेवाको प्राप्त करना। पञ्चसंस्कारसे युक्त वैध और रागानुगा भक्तिमें दीक्षित् व्यक्ति ही श्रीहरिके चरणकमलोंको प्राप्त करते हैं। नवधा-भक्ति वैधी और रागानुगाके भेदसे दो प्रकारकी है। भक्तिके भेदसे भजनीयका भेद।

साध्य या प्रयोजनतत्त्वके विषयमें

श्रीशङ्कराचार्यका मत

ब्रह्मज्ञान ही पुरुषार्थ है। 'तत्त्वमसि' आदि वेदवाक्योंके श्रवण-मनन आदिके फलसे ब्रह्मज्ञानका उदय होता है तथा स्वरूपकी उपलब्धिके क्रमसे 'अहं ब्रह्मास्मि'—इस प्रकारके ब्रह्मभावमें प्रतिष्ठित हुआ करते हैं। जो सगुण ब्रह्मकी उपासना करते हैं, वे ईश्वर-सायुज्यको प्राप्त करते हैं, अर्थात् ईश्वरके साथ युक्त होकर अवस्थान करते हैं। वे अणिमा-लघिमा आदि सिद्धि प्राप्त करते हैं। जो ब्रह्मज्ञान प्राप्त करते हैं, उन्हें देवयान पथसे जाना नहीं होता है, वे मृत्यु होनेमात्रसे मोक्षको प्राप्त करते हैं। निर्गुण ब्रह्मविदोंकी अनावृत्ति अर्थात् पुनः संसारमें नहीं आना नित्यसिद्ध है।

श्रीरामानुजाचार्यका मत

परव्योमके अधिपति लक्ष्मीनाथ श्रीनारायण ही स्वयं-भगवान् है। (श्रीराधाकृष्ण उपासनाकी अपूर्व चमत्कारिताको वे देख नहीं पाते हैं।) साधन अवस्थामें कर्मके द्वारा अनुगृहीत भक्तियोग द्वारा भगवान्का प्रीतिसाधन करते-करते साध्यावस्था प्राप्त होती है। साध्यावस्थामें जीवित कालमें या जीवित कालके बाद 'श्रीलक्ष्मी-नारायण ही एकमात्र मेरे यथा-सर्वस्व हैं'—ऐसे ज्ञानके साथ एकान्तिक दास्य-रासात्मक-भावमें श्रीभगवान्की साक्षात् सेवा प्राप्त होती है। यही श्रीरामानुजाचार्य और उनके अनुगतजनोंका चरम प्रयोजन है।

श्रीमन्मध्वाचार्यका मत

जीवोंके स्वरूपानुगत धर्मकी अभिव्यक्ति ही 'मुक्ति' है। निर्मला, शुद्धा या अहैतुकी भक्ति ही जीवोंके स्वरूपानुगत धर्मकी अभिव्यक्तिका साधन है। श्रीविष्णुके चरणकमलोंकी प्राप्ति ही

जीवोंकी 'मुक्ति' है और इस मुक्तिका कारण श्रीविष्णुका शुद्धभजन है। 'अपनी सुखकी अनुभूति' ही प्रयोजन है।

आचार्य श्रीविष्णुस्वामीका मत

मुक्तजीवगण भगवान्‌की इच्छासे नित्यविग्रहको धारणकर नित्य सच्चिदानन्द तनु-विशेष सहित श्रीभगवान्‌की सेवा कर और उससे परम आनन्दको प्राप्त करते हैं।

आचार्य श्रीनिम्बादित्यका मत

ब्रह्म-साक्षात्कारका एकमात्र उपाय भक्तिरस है। इसके द्वारा ही जीवोंके स्वरूपधर्मका पूर्ण विकास होता है।

गौड़ीय वैष्णवाचार्य श्रीमत् कृष्णदास कविराज गोस्वामी द्वारा प्रणीत श्रीचैतन्यचरितामृतके अनुसार—

'एबे शुन भक्तिफल 'प्रेम' प्रयोजन।
जाहार श्रवणे हय भक्तिरस-ज्ञान॥

कृष्णे रति गाढ़ हैले 'प्रेम' अभिधान।
कृष्णभक्ति-रसेर सेइ 'स्थायीभाव' नाम॥'

(चै॰ च॰ म॰ २३/३-४)

(श्रीमन् महाप्रभुने कहा—हे सनातन!) अब भक्तिका फल जो प्रेम है, जिसे 'प्रयोजन' भी कहते हैं, उसके विषयमें श्रवण करो। इसके श्रवणसे भक्तिरसका ज्ञान होता है। श्रीकृष्णके प्रति रति (अर्थात् प्रेमकी तरल या अङ्कुरावस्था) के गाढ़ (पक्व-अवस्थाको प्राप्त) होनेपर वह 'प्रेम' कहलाता है। उस प्रेमको कृष्णभक्तिरसका 'स्थायी-भाव' कहते हैं।

'साधनेर फल—'प्रेम' मूल प्रयोजन।
सेइ प्रेमे पाय जीव आमार 'सेवन'॥'

(चै॰ च॰ म॰ २५/१०२)

साधनका फल—प्रेम ही मुख्य 'प्रयोजन' तत्त्व है। उस प्रेमको प्राप्त करके जीव मेरी सेवाको प्राप्त करता है।

गौड़ीय वेदान्ताचार्य श्रीमद्बलदेव विद्याभूषणका मत

एकान्तिक भक्तिकी मोक्षका कारण है इह और परलोकमें कृष्ण-प्रीतिवाञ्छाके अतिरिक्त समस्त कामनाओंका परित्यागकर श्रीकृष्णके प्रेम द्वारा तन्मयता, समस्त उपाधियोंसे विनिर्मुक्त होकर आनुकूल्य रूपसे सभी इन्द्रियों द्वारा कृष्णका अनुशीलन। एकान्तिक कृष्णसेवाकी प्राप्ति ही भक्तिका एकमात्र फल है। वह भक्ति यदि शास्त्रीय (सम्बन्ध) ज्ञान और कृष्णसे इतर विषयोंमें विरक्तिके साथ अनुष्ठित हो, तभी शीघ्र-अतिशीघ्र कृष्णप्रेमरूप प्रयोजन सिद्ध होता है।
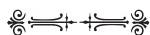
गौड़ीय-दर्शन

दर्शन

'दृश'—धातुके साथ 'ल्युट्' प्रत्यय लगानेसे 'दर्शन' शब्द निष्पन्न होता है। 'दृश्' धातुका अर्थ अवलोकन करना, देखना, साक्षात्कार करना, उपलब्धि करना इत्यादि है। परमात्माका साक्षात्कार ही यथार्थ दर्शन है। जिस साधनके द्वारा अथवा जिस शास्त्र-वाणीकी कृपासे भगवान्‌का दर्शन प्राप्त होता है, वह भी 'दर्शन' पद वाच्य है। "आत्मा वा अरे द्रष्टव्य (बृ॰ उ॰ २/४/५) अर्थात् हे प्रिय मैत्रेयी! आत्माका ही दर्शन करना चाहिये।" इस श्रुतिवाक्यमें जिन परमात्माके दर्शन अथवा साक्षात्कारकी बात उपदिष्ट हुई है, उसका नाम 'दर्शन' है। जिनका चित्त मायाके द्वारा विमोहित हैं, वे न्यायादि विविध दर्शनशास्त्रोंके द्वारा तत्त्व-निरूपण करके भी भगवान्‌को नहीं देख पाते हैं।

दर्शन शब्दके साथ द्रष्टा (दर्शनकारी), दृश्य (जिसे दर्शन किया जाता) और दर्शन-क्रियामें अविच्छेद्य सम्बन्ध है। जीव द्रष्टा नहीं है, परमात्मा ही यथार्थ द्रष्टा हैं और जीव दृश्य है। "यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः (कठ॰ उ॰ १/२/२३) अर्थात् परमात्मा जिसे वरण करते हैं, जिसपर कृपा करते हैं, वह जीवात्मा ही परमात्माका साक्षात्कार या दर्शन करने योग्य होता है।"

दृश्यवस्तुके साथ द्रष्टाके सम्बन्ध-स्थापनको 'दर्शन' कहते हैं। साधारणतः जिस करण (इन्द्रिय) की सहायतासे वस्तु परिदृष्ट होती है, द्रष्टाकी उस इन्द्रियको 'चक्षु' कहते हैं। चक्षु द्वारा वस्तुके बाह्यरूप और आकार आदिका अनुभव होता है। केवल चक्षु रहनेसे ही दर्शन कार्य सम्पन्न होगा—ऐसा नहीं है, क्योंकि दर्शन क्रियाके कारणरूपमें चक्षुके अभिभावकका अथवा बाह्य-इन्द्रियोंके

चालकरूपमें मन अवश्य ही स्वीकार्य है। जहाँ चक्षु द्वारा दर्शनमें बाधा नहीं है, ऐसे स्थलपर भी जिसके कर्त्तृत्वके अभावमें चक्षु कार्य नहीं करते, वही 'मन' के नामसे जाना जाता है। मन केवल चक्षुका ही नायक है, ऐसा नहीं है, अपितु मनकी अधीनतामें चक्षुके समान और भी चार ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। इन ज्ञानेन्द्रियोंके द्वारा मन वस्तुके विषयमें भिन्न-भिन्न अनुभव संग्रह करता है। वस्तुका बाह्यरूप अथवा आकार आदि नहीं रहनेपर अथवा वस्तुके क्षुद्रत्व, बृहत्व या उसके आवरित रहनेसे अथवा उसकी सुदूरमें अवस्थिति होनेसे अनेक समय चक्षुके रहते हुए भी बाह्यवस्तुकी प्रतीति नहीं होती। बाह्यवस्तुका अधिष्ठान चक्षुके अतिरिक्त अन्य चार इन्द्रियोंकी सहायतासे भी उपलब्ध होता है। ज्ञान संग्रहके उपयोगी करण या इन्द्रियोंकी सहायतासे इन्द्रियपति मन विभिन्न इन्द्रियोंके द्वारा स्वतन्त्रभावसे अनुभव न किये जानेवाली वस्तुओंकी भी धारणा करनेमें समर्थ होता है। मुख्यरूपमें ज्ञानेन्द्रियाँ जिस अनुभवको संग्रह करनेमें असमर्थ हैं, उसे भी मन समस्त इन्द्रियोंके बलसे प्रत्यक्ष-पथके अतिरिक्त अनुमान-पथसे निरूपण कर सकता है। यद्यपि प्रत्यक्ष-दर्शन आदि एकमात्र स्वानुभव पथ है, तथापि दोषदुष्ट नहीं होनेसे अनुमान-पथ भी प्रत्यक्षकी सहायता करता है। किन्तु कभी-कभी प्रत्यक्ष भी सत्यका आलाप करके मनको वस्तुकी सत्यानुभूतिसे वञ्चित कर देता है। मादक-द्रव्यादिकी सहायतासे इन्द्रियोंके द्वारा किया गया अनुभव भ्रान्तिका कारण ही बनता है।

'दर्शन' शब्द साधारणतः चक्षुके कार्यके रूपमें समझे जानेपर भी अन्य इन्द्रियोंके द्वारा गोचरीभूत वस्तुकी प्रतीति भी 'दर्शन' नामसे जानी जाती है। जड़ीय वस्तुसत्ताके दर्शनको 'जड़विज्ञान' तथा जड़ातीत चेतनाभास वस्तुसत्ताके दर्शनको 'मनोविज्ञान' के नामसे जाना जाता है। भारतीय दर्शन-शास्त्रोंमें मनके कारणरूपमें बुद्धि, बुद्धिके कारणरूपमें अहङ्कार, अहङ्कारके कारणरूपमें चित्त अथवा महत्तत्त्व एवं चित्तके कारणरूपमें प्रकृति अथवा अव्यक्त-

तत्त्वका निर्देश देखा जाता है। प्रकृति, चित्त, अहङ्कार, बद्धि और मन—अंश-अंशीके रूपमें क्रमान्वयमें अवस्थित है।

भारतमें प्रचलित विभिन्न-दर्शन

प्राचीन कालसे भारतमें छह विभिन्न दर्शन प्रसिद्ध है—कणादका वैशेषिक-दर्शन, गौतमका न्याय-दर्शन, कपिलका सांख्य-दर्शन, पतञ्जलिका योग-दर्शन, जैमिनीका पूर्व-मीमांसा दर्शन और श्रीवेदव्यासका उत्तर-मीमांसा या वेदान्त-दर्शन। इसके अतिरिक्त मध्ययुगमें चार्वाकका नास्तिक्य-दर्शन, नकुलका पाशुपत-दर्शन, रसेश्वर-दर्शन, अर्हत्-दर्शन (जैन-दर्शन), सौगत-दर्शन (बौद्ध-दर्शन) आदि और भी दस प्रकारके दार्शनिक मतोंका न्यूनाधिक परिचय सायन-माधवके ग्रन्थसे जाना जा सकता है।

श्रीव्यासदेवने आप्तवाक्य—शब्द अथवा श्रुतिको मूल-प्रमाणके रूपमें स्वीकारकर प्रत्यक्ष और अनुमानको आप्त-वाक्यके सहायक-ज्ञानके रूपमें ग्रहणकर अन्यान्य सब दार्शनिक मतोंका खण्डन किया है। इस प्रकार उन्होंने निखिल वैदिक सिद्धान्तोंका समन्वय करके 'ब्रह्मसूत्र' नामक एक ग्रन्थकी रचना की है, जो कि वेदोंके शिरोभाग 'उपनिषदों' का एकमात्र सार-स्वरूप है। इन उपनिषदोंका तात्पर्य धारावाहिक भावसे प्रकृत द्रष्टाके दर्शनमें उपलब्ध हो, ऐसा विचार करके ही श्रील व्यासदेवने ब्रह्मसूत्रका प्रणयन किया। वही 'ब्रह्मसूत्र'—उत्तर-मीमांसा, शारीरक सूत्र अथवा वेदान्त-दर्शनके नामसे प्रसिद्ध हुआ है। सभी भारतीय वैदिक-धर्मप्रणालियाँ न्यूनाधिक वेदान्त-दर्शनके आधारपर ही गठित हैं। इस शारीरक-मीमांसाकी व्याख्या करनेवालेके रूपमें हम असंख्य भाष्यकारोंको देख सकते हैं। उनमेंसे प्राचीन व्याख्याता बौधायन, टङ्क, भौरुचि, द्रमिड़ आदि विशेष रूपमें प्रसिद्ध हैं। श्रीशङ्कराचार्य आदि अनेक जन शारीरक-भाष्य आदिका निर्माणकर वेदान्ताचार्यके रूपमें सम्मानित हैं। यादवाचार्य, प्रभाकर और भास्करभट्ट आदि विद्वानोंने भी वेदान्तके शिक्षकके रूपमें कुछ ग्रन्थ और मतभेद प्रचार किये

हैं। श्रीशङ्कराचार्यके अनुगामी-सम्प्रदायमें हम आनन्दगिरि और सायन-माधव आदिकी लेखनीमें तथा वाचस्पतिमिश्रकी 'भामति' टीका आदिमें केवलाद्वैतवादमतकी ही पुष्टि लक्ष्य करते हैं।

कुछेक शताब्दी पहले ब्रह्मसूत्र अथवा उत्तरमीमांसाके आधारपर निर्विशेष-विश्वास-मूलक केवलाद्वैतमतके विरुद्धमें ब्रह्मके सविशेषत्वको लक्ष्य और विश्वास करनेवाले अनेक मेधा सम्पन्न भगवद्भक्तिपरायण आचार्योंका उदय हुआ था। वे ही सविशेष-ब्रह्मदर्शनके रक्षक और प्रचारक थे। वे केवलमात्र खण्ड-दार्शनिक नहीं, परन्तु सम्बन्धज्ञान विशिष्ट और सिद्धान्तपारङ्गत थे, इसलिए वे वास्तव सत्य-वस्तु सम्बन्धित अभिधेय और प्रयोजन दर्शनसे भी विमुख नहीं थे।

यद्यपि श्रीशङ्कर प्रमुख दार्शनिक मनीषियोंने वेदान्त-दर्शनमें जड़ीय भेद-दर्शनका निरास किया है, तथापि जीवात्माको दृष्टा, भोक्ता या विषयरूपमें तथा जगत्को दृश्य, भोग्य और आश्रयरूपमें प्रतिष्ठित करनेके कारण वे परमसत्यके विचित्र-विलाससे बहुत दूर अवस्थित हैं। परमसत्यके इस वैचित्र्य-विलासका प्रदर्शन करनेका सामर्थ्य एकमात्र वैष्णव-दर्शनमें ही निहित है।

वैष्णव-दर्शन

ब्रह्मसूत्रपर दो प्रकारके सम्प्रदायों द्वारा दो प्रकारके भाष्य हैं—एक केवलाद्वैत या निर्विशेषवाद-मूलक और दूसरा सविशेषवाद-मूलक। प्रथमोक्त सम्प्रदाय माया द्वारा या खण्डज्ञान प्रतीतिसे वस्तुके दर्शनमें व्यस्त रहनेवाले मायावादी वैदान्तिक हैं, तथा जो स्वप्रकाश वस्तुके आनुगत्यमें वस्तुका दर्शन करते हैं, वे ही तत्त्ववित् वैष्णव हैं। तत्त्ववस्तु केवल माया नहीं है, अपितु अखण्ड परमसत्य अद्वयज्ञान है। अतएव तत्त्ववित्गण अर्थात् वैष्णव तीन प्रकारके दर्शन या प्रतीतिमें उस एक ही सच्चिदानन्द अद्वयज्ञान वस्तुको ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्—ये तीन नाम प्रदान करते हैं। केवल चित् या सम्वित्-वृत्ति द्वारा उस

तत्त्ववस्तुकी उपलब्धिका नाम ब्रह्मदर्शन, सत् और चित्-वृत्ति द्वारा प्रतीतिका नाम परमात्मदर्शन एवं सत्, चित् और आनन्द—इन तीन वृत्तियों द्वारा उपलब्धिका नाम भगवद्दर्शन या विष्णुदर्शन है। प्रथम ब्रह्मदर्शन असम्पूर्ण-दर्शन है, द्वितीय परमात्म-दर्शन खण्ड-दर्शन है तथा अन्तिम भगवद्दर्शन सम्पूर्ण-दर्शन है। प्रथम दोनों दर्शनोंके मूलमें आरोह-पन्था तथा तृतीय दर्शनके मूलमें अवरोह-पन्था दृष्ट होता है। प्रथम सम्प्रदाय 'ज्ञानी', द्वितीय सम्प्रदाय 'योगी' एवं तृतीय सम्प्रदाय 'वैष्णव' या 'भक्त' नामसे परिचित हैं।

श्रुतिमें उक्त है—'ॐ तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः दिवीव चक्षुराततम्।' दिव्य-महापुरुष—वैष्णव दृश्यवस्तुको सर्वदा ही श्रीविष्णुके परम-पदके रूपमें देखते हैं। वे उपादेय रहित देश-कालसे परिच्छिन्न अचित्-दर्शनमें विष्णुत्व या वस्तुत्वको आबद्ध नहीं करते हैं। वे विष्णुकी चित्-शक्ति या अचित्-शक्तिसे परिणत वस्तुकी प्रतीतिको कभी भी 'विष्णु' नहीं कहते हैं तथा विष्णुके अतिरिक्त किसी अन्य अधिष्ठानको भी स्वीकार नहीं करते हैं। विष्णु-सम्बन्धिनी उन्मुख-वस्तुकी प्रतीतिको या वस्तु-सत्ताको 'चित्' तथा विष्णुविमुख वस्तुप्रतीति या वस्तुसत्ताको 'अचित्' या 'जड़' नामसे भेद स्वीकार करते हैं। नित्यभेद दर्शन करनेके कारण उन्हें 'बहु-ईश्वर-वादी' नहीं कह सकते हैं। वैष्णवगण एक-ईश्वर 'विष्णु' वस्तुका ही दर्शन करते हैं—विष्णु ही 'तद्-वस्तु' हैं और वैष्णवगण ही उनके 'तदीय' हैं। विष्णु और वैष्णव क्रमशः नित्यशक्तिमान और शक्ति-परिणत हैं तथा विषय और आश्रय-स्वरूप होकर नित्यरसके आलम्बन हैं तथा एक-दूसरेसे सम्बन्धयुक्त हैं। दोनोंकी सेव्य और सेवन वृत्ति नित्य है, इसलिए कालके द्वारा क्षोभित नहीं होनेके कारण वे नश्वर अथवा कर्मसे बाधित नहीं हैं, परन्तु अनादि हैं।

वैष्णव-दर्शनमें तत्त्ववस्तुको भगवान् कहा गया है। भगवान् मायाके अन्तर्गत नश्वर वस्तु नहीं हैं। मायाके अन्तर्गत वस्तुमात्रमें ही नाम, रूप, गुण और क्रियाका परस्पर भेद है, किन्तु मायातीत

भगवानके नाम, रूप, गुण और लीलामें वैसा भेद नहीं है, अतः भगवान् ही अद्वयज्ञान वस्तु हैं। मायिक या बद्धज्ञानमें सच्चिदानन्द-विग्रह भगवान्के साथ परमात्मा और ब्रह्मका पार्थक्य कल्पित होनेपर भी मायातीत मुक्त विचारमें मायाका वैसा प्रभाव लक्षित नहीं हो सकता है। भगवान्का नित्यनाम, नित्यरूप, नित्यगुण, नित्यलीलाको माया द्वारा रचित देखनेसे ही भगवत्ताकी कल्पना होती है। इस कल्पना या वास्तव-दर्शनके अभावसे ही साध्य-साधनके भेद-दर्शनके मूलमें ही पञ्चोपसानाकी सृष्टि हुई है। किन्तु एकमात्र विष्णु-उपासक ही वास्तविक दार्शनिक हैं—वे पञ्चोपासक नहीं हैं अर्थात् साधनकी अनित्यताके कारण उस (साधन) को साध्यसे विभिन्न जानकर वे अपने सूक्ष्म दर्शनाभावका परिचय नहीं देते।

विष्णुके सेवकोंका नाम ही वैष्णव है। अवैष्णव इसके विपरीत अर्थात् अनित्य अज्ञान और निरानन्दके सेवक हैं। जो वस्तु सत्य अर्थात् नित्यकाल अवस्थित है, जिस वस्तुमें नित्यकाल मायाका गन्धलेश भी नहीं है और जो वस्तु नित्य पूर्णानन्दमय है, वही विष्णु हैं। वैष्णवगण एकमात्र परमेश्वर विष्णुके ही आश्रित हैं। वे विष्णुके अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तुकी सेवा नहीं करते।

जो स्वयंको अपने नित्य स्वरूपसे वैष्णव जानते हैं, वे ही वैष्णवगुरुके आश्रित—गुरुदास हैं। गुरुपरम्पराके क्रममें श्रुतिपथसे जो सत्य विष्णुसे प्रकटित या अवतीर्ण होता है, वैष्णवगण शुश्रूषा क्रमसे उसी सत्यज्ञानको प्राप्तकर अन्यान्य जीवोंके हृदयमें उसी सत्यका कीर्त्तनकर अपने गुरुदास्यकी सार्थकताका प्रदर्शन करते हैं। ऐसे गुरुदासगण ही यथार्थ दार्शनिक हैं। वैष्णव नित्य हैं, अतः अवैष्णवाभिमानी जीवोंकी मिश्रित चित्तवृत्तिके आकर मन और अचित्-वृत्तिसे गठित स्थूलदेहको 'नित्य स्वरूप' कहकर निर्देश नहीं करते। देहमें आत्मबुद्धि अर्थात् एक वस्तुमें अन्य

वस्तुका भ्रम ही विवर्त्त बुद्धि है। वैष्णव वेदान्त-दर्शनकी भाषामें ब्रह्मके भेदाभेद-प्रकाश, शक्तिमान परमात्माकी तटस्थाशक्ति या भगवान् विष्णुके नित्यदास हैं। अतः वे विवर्त्तवादी न होकर शक्ति-परिणामवाद ही स्वीकार करते हैं।

अनभिज्ञ या अवैष्णव जिस समय अभिज्ञ वैष्णव—गुरुदेवके चरणकमलोंका आश्रय करके प्रणिपात, परिप्रश्न और सेवावृत्तिके अतिरिक्त अन्य समस्त वृत्तियोंसे रहित हो जाते हैं, तभी वे गुरुदास हो सकते हैं। अपने श्रीगुरुमुखसे श्रुत श्रीनामरूपमें अवतीर्ण उन स्वप्रकाश विष्णु-वस्तुका नित्य अनुशीलन करते-करते द्वितीयाभिनिवेशसे उत्पन्न अनर्थोंका अतिक्रमणकर श्रद्धा सहित नित्यरसमय हरिलीलामें अनुप्रवेश करते हैं। ऐसे गुरुदासगण ही अधोक्षज सेवक वैष्णव दार्शनिक हैं। स्वयं ब्रह्मसूत्रके रचयिता श्रीनारद शिष्य गुरुदास—श्रीवेदव्यासने समाधि योगमें सेवाप्रवृत्तिसे युक्त होकर वास्तव-वस्तुका दर्शन किया। यथा—

‘भक्तियोगेन मनसि सम्यक् प्रणिहितेऽमले।
अपश्यत् पुरुषं पूर्णं मायाञ्च तदपाश्रयाम्॥’

(श्रीमद्भा॰ १/७/४)

अर्थात् भक्तियोगके प्रभावसे श्रीव्यासदेवका मन पूर्णतः एकाग्र और निर्मल हो गया। तब उन्होंने लीला-परिकरोंके साथ पूर्णपुरुष श्रीकृष्णका दर्शन किया और उनके पृष्ठ भाग (पीछे) में लज्जित भावसे आश्रय लेकर खड़ी बहिरङ्गा मायाको भी देखा।

ब्रह्मसूत्र या वेदान्तदर्शनका अकृत्रिम भाष्य-स्वरूप श्रीमद्भागवत-ग्रन्थ ही ‘सर्वदर्शन-शिरोमणि’ के रूपमें विद्वत् परमहंस वैष्णव समाजमें अनादिकालसे सुप्रसिद्ध हैं, क्योंकि जितने भी दार्शनिक तथ्य हैं, वे इस सर्व-वेदान्तसार ग्रन्थमें विस्तृत रूपमें प्रदर्शित हुए है।

❋ ❋ ❋ ❋ ❋

[ॐ विष्णुपाद श्रीश्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी 'प्रभुपाद' द्वारा ११ अगस्त १९२९ को कलकत्ताके एल्बर्ट हालमें गौड़ीय-दर्शनके सम्बन्धमें प्रदत्त भाषण]

मङ्गलाचरण और वक्ताका दैन्य

'मूकं करोति वाचालं पङ्गुं लङ्घयते गिरिम्।
यत्कृपा तमहं वन्दे श्रीगुरुं दीनतारणम्॥'

जिनकी कृपा गूङ्गेको वाचाल एवं पङ्गुको पर्वत-लङ्घन करा सकती है, दीनोंका उद्धार करनेवाले उन्हीं श्रीगुरुदेवकी मैं वन्दना करता हूँ।

मैं दीन, पतित और सब प्रकारसे अयोग्य हूँ। आपके समान महा-मनीषियोंके समक्ष कुछ बोलनेकी योग्यता मुझमें नहीं है। किन्तु जिस दिनसे श्रीगुरुदेवके मुखसे श्वेताश्वतरके इस मन्त्रको श्रवण किया है, उस दिनसे हृदयमें बहुत साहस हुआ है—

'यस्य देवे परा भक्तिर्यथादेवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥'

जिनकी श्रीभगवान्‌में पराभक्ति है और श्रीभगवान्‌के समान ही श्रीगुरुदेवके प्रति भी शुद्धभक्ति है, उसी महात्माके हृदयमें श्रुतियोंके सभी मर्मार्थ प्रकाशित होते हैं।

सभापतिका आवाहन[१]

जिन श्रीगुरुपादपद्मने एक-जगद्गुरु-मतवादका तिरस्कार करके आम्नाय-परम्परागत महान्त-जगद्गुरुवादके सौदर्न्यके प्रदर्शन द्वारा समस्त प्रकारके कुरूपको दूरकर रूपका राज्य प्रदर्शित किया है तथा वाक्य, चिन्ता और आचरण (अर्थात् काय, मन और

[१] साधारणतः किसी विशेष सभामें सभापतिको मनोनीत करेनकी प्रथा सर्वत्र प्रचलित है। श्रील प्रभुपादने गौड़ीय-दर्शनके सम्बन्धमें वक्तृताके अवसरपर लौकिक दृष्टिकोणसे अप्रकटलीलामें प्रविष्ट अपने गुरुदेवको ही सभापति मनोनीतकर गुरु-निष्ठाका एक अपूर्व आदर्श प्रस्तुत किया है।

वाक्य) से उसी राज्यकी सेवाका अत्यधिक सुयोग प्रदान किया है, वे गुरुपादपद्म ही आज सभापतिके आसनको विभूषित करें। वही गुरुदेव आजकी सभाके सभापतिके पदपर प्रतिष्ठित होकर मेरे वचनोंके नियामक हों।

आपलोग सामने उपस्थित सभापतिके लकड़ीके आसनपर किसीको भी बैठे हुए नहीं देख रहे हैं, किन्तु वास्तवमें यह आसन खाली नहीं है। श्रीगुरुदेव क्षण-ध्वंसी रक्त-मांसके पिण्डमात्र नहीं हैं—यह बात श्रीमद्भागवतमें स्वयं-भगवान्ने हमें बतलायी है—

"आचार्य मां विजानीयान्नावमन्येत कर्हिचित्।
न मर्त्यबुद्ध्यासूयेत सर्वदेवमयो गुरुः॥"

सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र श्रीगुरुदेव स्वेच्छावशतः महान्त-गुरुके रूपमें कृपापूर्वक हमारे नयनपथके पथिक होते हैं और फिर स्वेच्छाक्रमसे अप्रकटलीला प्रकाशित करते हैं। प्रकट और अप्रकटके भेदसे दोनों लीलाओंमें ही वे नित्य हैं। अतएव वे सदैव ही हमारे नियामकके रूपमें अवस्थान करके हमारी बुद्धि-वृत्तिको प्रेरणा देते हैं। वे गुरुदेव ही आज हमारे सभापतिके पदपर अधिष्ठित होकर हमें शोधन करें। जो गूङ्गेमें कवित्व-शक्तिका सञ्चार कर सकते हैं—जो हमारे जैसे पतितोंका उद्धार कर सकते हैं, वे गुरुदेव ही सभापतिके आसनको अलंकृत करें। श्रीकृष्णके प्रियतम उन श्रीगुरुदेवको मैं सभापतिके पदपर वरण करता हूँ, अतएव अन्य किसी लौकिक सभापतिको आवाहन करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

वक्ता द्वारा अपना और गुरुका परिचय प्रदान

आपलोग मुझसे पूछ सकते हैं—"आप कौन हैं?" इसके उत्तरमें मेरा कहना है—"मैं ॐ विष्णुपाद श्रीश्रील गौरकिशोर प्रभुपादका एक अयोग्य सेवक हूँ। अत्यन्त अयोग्य होनेपर भी उनका नित्य किङ्कर हूँ।" उनके पार्थिव परिचयके सम्बन्धमें

जिज्ञासा करनेपर मैं यह बोलनेके लिए बाध्य हो रहा हूँ कि वे अपना एक 'गौड़ीय' के रूपमें परिचय दिया करते थे। गौड़देश (बङ्गाल) के अधिवासी होनेके कारण ही वे अपनेको 'गौड़ीय' कहते हो, ऐसी बात नहीं, क्योंकि किसी एक स्थूल-देशके अधिवासीके रूपमें परिचय देनेकी आकांक्षा उनमें नहीं थी। श्रीश्रीराधामदनमोहन, श्रीश्रीराधागोविन्ददेव और श्रीश्रीराधागोपीनाथ—इन तीन ठाकुरोंने जिन गौड़ीयगणोंको आत्मसात् किया है, वे उसी गौड़ीयके परिचयसे परिचित थे। उनके जैसा अलौकिक-चरित्र मनुष्यमें सम्भव नहीं है। अतएव वे दैन्यके कारण 'गौड़ीय' के रूपमें भी अपना परिचय न देकर 'गौड़ीयगणोंका दासानुदास' कहकर परिचय देते थे। वे—आत्मवित् अर्थात् आत्मतत्त्वको जाननेवाले—कृष्णतत्त्ववित् अर्थात् श्रीकृष्णके तत्त्वको जाननेवाले थे। महान्त जगद्‌गुरुवादके विचारमें वे श्रीचैतन्यके अत्यधिक प्रिय निजजन थे तथा हमारे जैसे पतितोंका उद्धार करनेके लिए जगत्‌में अवतीर्ण हुए थे। वे कर्मवादी नहीं थे, वे लीलामय भगवान्‌की लीलाके पार्षद अर्थात् सङ्गी थे।

गौड़ीय-दर्शनमें कर्म और लीला

कर्म और लीलामें जो आकाश एवं पातालका अन्तर है, उसे हममेंसे बहुत-से लोग ही नहीं समझते है। कर्मकी भूमिका—जगत् है, कर्मका आधार—सूक्ष्म अथवा स्थूल उपाधि है। कर्म—अनित्य है, किन्तु लीला—नित्य है। कर्म—अस्वतन्त्र जीवोंका त्रिताप भोग अथवा दण्ड है, तथा लीला—सर्वतन्त्र स्वतन्त्र स्वराट् पुरुषोत्तमकी निरङ्कुश इच्छासे उत्पन्न आनन्दमय क्रीड़ा है। लीलाकी भूमिका—चतुर्द्दश ब्रह्माण्डसे अतीत, विरजा ब्रह्मलोकसे भी अतीत वैकुण्ठ और गोलोक है। लीला लीलामयकी लीलाशक्तिकी इच्छासे जगत्‌में प्रकाशित होनेपर भी अतीन्द्रिय (इन्द्रियोंसे अतीत) और अविचिन्त्य (चिन्ता-धारणासे अतीत) स्वभाववशतः प्राकृत (जड़) के साथ लिप्त या प्राकृतके अधीन नहीं है, यही गौड़ीय-दर्शनका विचार है।

गौड़ीय-दर्शनमें गुरु और शिष्य

हमारे गुरुदेव कर्मी, ज्ञानी, योगी, तपस्वी या किसी प्रकारके अन्याभिलाषी अथवा मिथ्या भक्तकी श्रेणीके अन्तर्गत नहीं थे। वे उन्हीं लीलापुरुषोत्तमकी लीलाके सङ्गी थे। अतएव हमारा परिचय है कि हम श्रौत-गुरुपादपद्मके किङ्कर हैं।

गौड़ीय-दर्शनमें श्रुति और श्रौत विचार

आध्यक्षिक (इन्द्रिय-गोचर ज्ञान संग्रह करनेवाले) सम्प्रदाय 'श्रुति' या 'श्रौत' शब्दकी जिस रूढ़िवृत्तिको ग्रहण करते हैं, अधोक्षजके सेवक विद्वत्-सम्प्रदाय 'श्रुति' या 'श्रौत' शब्दका उस प्रकारका साधारण रूढ़िमात्र अर्थ ग्रहण नहीं करते। श्रौत-श्रीगुरुके मुखसे अविमिश्र भावसे सेवा-स्निग्ध-शिष्यके विशुद्ध-हृदय-आकाशमें जो वास्तव-सत्य-सुधाकी सञ्जीवनीधारा उसके कर्णरूपी अञ्जलिके द्वारसे सञ्चारित होती है, वही 'श्रुति' है। जिन श्रीगुरुपादपद्मसे सेवोन्मुख-स्निग्ध-शिष्य सत्यको प्राप्त करता है, वही गुरुपादपद्म यदि नित्य और श्रौत नहीं हो अर्थात् उन गुरुदेवने यदि अपने श्रौत-गुरुदेवसे नित्यसत्यका श्रवण नहीं किया हो तथा उनके वे गुरुदेव यदि उसी प्रकार श्रौत और नित्य नहीं हो, तो फिर वैसी सामयिक गुरु-शिष्य-परम्पराके अभिनयमें कभी भी श्रुति अपनेको प्रकाशित नहीं करती—

"यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥"

गौड़ीय-दर्शनमें गुरुतत्त्व

'पराभक्ति' शब्दका अर्थ अन्याभिलाषसे रहित, कर्म-ज्ञान-योगादिके आवरणसे सम्पूर्ण रूपसे मुक्त, आनुकूल्य-कृष्णानुशीलनमयी अहैतुकी और अप्रतिहता (बाधासे रहित) शुद्धाभक्ति है। माता, पिता, ज्येष्ठभ्राता, पूर्वपुरुष—ये सब लौकिक गुरु होनेपर भी काल द्वारा

नष्ट होनेवाले हैं, अतः इनकी नित्यता नहीं हैं। पाठशालाके गुरु महाशय, वाद्य-यन्त्रोंकी शिक्षा देनेवाले गुरु महाशय—ये 'गुरु' के नामसे परिचित होनेपर भी इनका गुरुत्व सार्वकालिक या नित्य नहीं है। फिर उपाय और उपेय-भेदवादी ज्ञानी, योगी, तपस्वी आदि जिन सब गुरुओंको स्वीकार करते हैं, उनका भी नित्यत्व नहीं हैं। (द्रष्टा, दृश्य और दर्शन) त्रिपुटी नष्ट होनेपर गुरु-शिष्यका सम्बन्ध नहीं रहता। योगसिद्धिमें कैवल्य प्राप्त करनेके बाद गुरु-सेवाकी आवश्यकताका ही बोध नहीं होता, इसलिए उस प्रकारके तात्कालिक या क्षणिक गुरु-स्वीकारवादमें पराभक्ति नहीं है। देवता जिस प्रकार नित्य हैं, गुरु भी उसी प्रकार नित्य हैं। 'देवता' शब्दका अर्थ—अप्राकृत कामदेव श्रीकृष्ण है। श्रीगुरुदेव वही श्रीकृष्णस्वरूप हैं—श्रीकृष्णसे अभिन्न हैं, श्रीकृष्णके प्रकाश विग्रह हैं।

"साक्षाद्धरित्वेन समस्तशास्त्रैरुक्तस्तथा भाव्यत एव सद्भिः।
किन्तु प्रभोर्यः प्रिय एव तस्य वन्दे गुरोः श्रीचरणारविन्दम्॥"

यद्यपि समस्त शास्त्रोंने जिन्हें साक्षात् 'कृष्णस्वरूप' कहकर कीर्त्तन किया है एवं साधु भी जिनकी उसी रूपमें भावना करते हैं, तथापि जो श्रीमन् महाप्रभुके एकान्त प्रिय हैं, भगवान्‌के ऐसे अचिन्त्यभेदाभेद-प्रकाश-विग्रह श्रीगुरुदेवके चरणकमलोंकी मैं वन्दना करता हूँ।

आम्नाय

गौड़ीय-दर्शनमें गुरुतत्त्वका विचार ऐसा ही है। इसलिए श्रीगुरुदेव और श्रीकृष्णमें नित्य-अभिन्न-बुद्धि रखनेके कारण गौड़ीयगण श्रीगुरुदेवमें पराभक्तियुक्त हैं। यह पराभक्ति-वृत्ति जिनमें पूर्णमात्रामें विराजमान है, उनके ही कर्णमें श्रीगुरुमुखसे निकली श्रौतवाणी पूर्ण रूपसे प्रविष्ट होती है। हरिसेवा-रहित चेष्टा, कर्म, ज्ञान, योग, तपस्या आदिके आवरणसे आकृष्ट रहनेवाले कानके मलसे कर्णपुटके अवरुद्ध रहनेपर उनमें श्रुति सञ्चारित नहीं हो

सकती। सेवोन्मुख-कर्णमें प्रविष्ट होनेवाली परव्योमसे अवतीर्ण नित्य-शब्द परम्पराको 'श्रुति' कहा जाता है। भ्रमादि चार-प्रकारके दोषोंसे युक्त जीवको विषय-दर्शनके दोषसे दुष्ट ज्ञानके स्थानपर दोषातीत 'आम्नाय' को ही बोध अर्थात् ज्ञानका मूल जानना होगा।

शब्द

शब्द दो प्रकारके हैं—नित्य और अनित्य। महर्षि पाणिनि आदि व्याकरणकी रचना करनेवालोंने स्फोटात्मक रूपमें शब्दके नित्यत्व एवं वर्णात्मक रूपमें शब्दके अनित्यत्वका विचार किया है। पतञ्जलीका मत भी पाणिनिके अनुरूप ही है।

स्फोटवाद-विचार

पाणिनिने जगत्के आदि कारण स्फोट नामक नित्य शब्दको साक्षात् ब्रह्म कहा है—'जगन्निदानं स्फोटाख्यो निरवयवो नित्यः शब्दो ब्रह्मैवेति।'

श्रीहरिने स्वयं ब्रह्मकाण्डमें कहा है—

"अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
निवर्त्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥"

—शब्दतत्त्व अनादिनिधन[१]

और अक्षय ब्रह्मस्वरूप है। इसीसे ही जगत्की प्रक्रिया प्रारम्भ हुआ करती है।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि [किसी वस्तुके] अर्थके ज्ञानका भलीभाँति उत्पादन कौन करता है? व्यस्त (विभक्त या अलग किये हुए) वर्ण अथवा समस्त (एकत्रित) वर्ण? महर्षि पाणिनी कहते हैं कि व्यस्त वर्ण अथवा समस्त वर्ण—इनमेंसे कोई भी अर्थके ज्ञानको उत्पादन करनेमें समर्थ नहीं है, क्योंकि व्यस्त वर्णसे अर्थात् अलग किये हुए वर्णसे अर्थ-ज्ञान सम्भवपर ही

---

[१] कभी भी नष्ट नहीं होनेवाला।

नहीं हो सकता है। जिस प्रकार 'भक्षण' शब्दके 'भ', 'क', 'ष', 'ण' द्वारा पृथक् रूपमें भक्षण-क्रियाके विषयमें अर्थका ज्ञान बिल्कुल भी नहीं होता है। और सभी वर्ण जब क्षणिक हैं, तब उनका एकत्रित होना भी असम्भव है। 'भ', 'क', 'ष' एवं 'ण'—इन चारों वर्णोंका नाद एकके बाद एक लयको प्राप्त हो जानेसे उन चारों वर्णोंके द्वारा एकत्र अवस्थान करनेपर भी 'कमलपत्र-शतवेधन्याय' (अर्थात् सौ-कमलकी पंखुड़ियोंको बीधँनेमें जितना समय लगेगा उतने ही अल्प समय) के विचारके अनुसार अर्थका बोध उत्पन्न कराना असम्भव है। फिर व्यास और समास—इन दोनोंके द्वारा अन्य प्रकारसे भी साधित नहीं हो सकता है। इस कारणसे समस्त वर्णोंकी स्फोटसे विच्छिन्न स्वतःसिद्ध वाचकता अप्रमाणित होती है। इसलिए जिसके बलसे, अर्थ-प्रतीति समुत्पन्न होती है, उसीको 'स्फोट' कहते हैं—

'तस्माद्वर्णानां वाचकत्वानुपपन्नो यद्बलार्थप्रतिपत्तिः स स्फोट इति वर्णातिरिक्तो वर्णाभिव्यङ्गोऽर्थप्रत्यायको नित्यः शब्दः स्फोट इति तद्विदो वदन्ति। अतएव स्फुट्यते व्यज्यते वर्णैरिति स्फोटो वर्णाभिव्यङ्ग स्फुटीभवत्यस्मादर्थ इति स्फोटोऽर्थप्रत्यायक इति स्फोट-शब्दार्थमुभयथा निराहुः॥'

अर्थात् समस्त वर्णोंकी वाचकताके असङ्गत होनेके कारण जिसके बलसे अर्थ-प्रतीति समुत्पादित होती है, उसीको ही 'स्फोट' कहते हैं। तत्त्ववित् पण्डितगण कहते हैं कि वर्णके अतिरिक्त वर्णके अभिव्यङ्ग्य अर्थ-ज्ञानको भलीभाँति उत्पन्न करनेवाला नित्यशब्द ही 'स्फोट'-पदवाच्य है। 'वर्णाभिव्यङ्ग'—वर्णके द्वारा 'अभिव्यङ्ग' अर्थात् 'अभि'—सर्वतोभावसे व्यक्त या स्फुटित होनेके कारण उसका नाम 'स्फोट' है। और इसके द्वारा अर्थ स्फुटित होनेके कारण इसे अर्थ-ज्ञानको भलीभाँति उत्पन्न करनेवाला 'स्फोट' कहा जाता है। इस रूपमें दोनों प्रकारसे 'स्फोट' शब्दका अर्थ कहा गया है।

पतञ्जलि, कैयट आदिने भी स्फोटके विचारको प्रदर्शित किया है। मीमांसा-श्लोकवार्तिकके भट्टाचार्यगणने भी स्फोटवादकी आलोचना की है। सर्वदर्शन-संग्रहकर्त्ताने स्फोटवादकी जिस आलोचनाको प्रदर्शित किया है, उसके विषयमें संक्षेपमें यही कहा जा सकता है कि पाणिनि आदि प्रमुख व्याकरणिक-स्फोटवादिगणोंने कहा है कि स्फोटके नहीं रहनेपर केवल वर्णात्मक शब्दके द्वारा अर्थका बोध नहीं होता। जैसे 'अ', 'ग', 'न' और 'ई'—इन चारों वर्णोंका स्वरूप जो 'अग्नि' शब्द है, उसके द्वारा 'आग' का बोध होता है, किन्तु यह बोध केवलमात्र चार वर्णोंके द्वारा सम्पादित नहीं हो सकता। यदि इन चार वर्णोंके प्रत्येक वर्णके द्वारा ही आगका बोध होता, तो फिर केवल 'अ' कार अर्थात् 'अ' वर्ण अथवा 'ग' कार अर्थात् 'ग' वर्णके उच्चारण करनेपर भी 'आग' का बोध क्यों नहीं होता? यदि कोई कहें कि यद्यपि ये चार वर्ण पृथक्-पृथक् उच्चारित होकर 'आग' का बोध नहीं कराते, किन्तु ये चार वर्ण एकत्रित होकर तो 'आग' का बोध करा ही देते हैं। इस विषयमें स्फोटवादिगण कहते हैं कि इस प्रकारकी युक्ति बाल-कोलाहलमात्र है, क्योंकि सभी वर्ण अतिशीघ्र ही विनष्ट हो जाते हैं। परवर्त्ती वर्णोंकी उत्पत्तिके समय पूर्ववर्त्ती सभी वर्ण विनष्ट हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त अर्थबोधकी बात तो दूर रहे, उनका एकत्र अवस्थान ही सम्भवपर नहीं होता। अतएव इन चार वर्णोंके द्वारा सर्वप्रथम स्फोटकी अभिव्यक्ति अर्थात् स्फुटता उत्पन्न होती है तथा बादमें स्फुटके स्फोट द्वारा 'आग' का बोध होता है।

इस स्थानपर कोई-कोई पूर्वोक्त रीतिक्रमसे पूर्वपक्ष किया करते हैं कि प्रत्येक वर्णके द्वारा स्फोटकी अभिव्यक्ति स्वीकार करनेसे पूर्वोक्त प्रत्येक वर्णके द्वारा अर्थबोध होनेका दोष घटित होता है। पुनः सभी वर्णोंके द्वारा स्फोटकी अभिव्यक्ति स्वीकार करनेसे भी वही दोष ही उत्पन्न होता है। साथ ही दोनों पक्षोंमें ही जब इस

प्रकारका दोष विद्यमान रहता है, तब स्फोटवादका आवाहन करनेकी आवश्यकता ही क्या है?

स्फोटवादिगण इस पूर्वपक्षके उत्तरमें कहते हैं—जिस प्रकार केवल एकबार पढ़नेसे ही स्वाध्यायका तात्पर्य भलीभाँति ज्ञात नहीं होता, किन्तु बारम्बार आलोचना या अभ्यासके द्वारा ही पढ़े जानेवाले ग्रन्थका तात्पर्य दृढ़ रूपसे निश्चित होता है, उसी प्रकार प्रथम वर्ण 'अ' कारके द्वारा स्फोटकी किञ्चित्मात्र स्फुटता उत्पन्न करनेपर भी बादमें द्वितीय, तृतीय इत्यादि वर्णोंके द्वारा क्रमशः स्फुट-तर और स्फुट-तम होकर स्फोट 'अग्नि' का बोधक होता है। किञ्चित्मात्र स्फुट होनेसे ही स्फोट अर्थ-बोधक होगा, ऐसा नहीं है। जिस प्रकार रत्नतत्त्व[१] उसकी प्रथम प्रतीतिमें ही स्पष्ट रूपमें ज्ञात नहीं होता, किन्तु अन्तमें चित्तमें यथावत् अभिव्यक्त होता है, उसी प्रकार प्रथमतः नादके द्वारा जीव आकृष्ट होता है, तथा बादमें अन्तिम धवनिके साथ आवृत्तिके परिपक्व होनेपर उसकी बुद्धिमें शब्द निश्चित हो जाता है।

स्फोटके विषयमें पतञ्जलीका विचार

पतञ्जली कहते हैं—(पातञ्जल सू॰ ३/१७) वर्णसमूह एक ही समयमें उत्पत्तिशील नहीं होनेपर अर्थके प्रतिपादनमें एक-दूसरेके सहायक नहीं हो सकते। वे पदको स्पर्श न कर, उस पदको प्रकाशित नहीं करके अर्थात् उसके प्रकाश होनेके पूर्व ही आविर्भूत और तिरोहित हुआ करते है। अतएव वे सभी वर्ण पद-स्वरूपमें गण्य नहीं होते। परन्तु प्रत्येक वर्ण ही पदात्मक एवं समस्त अर्थ-प्रकाशक शक्तिसे युक्त होते हैं, अतः सहयोगी अन्यान्य वर्णोंके साथ विभिन्नक्रमसे संयुक्त और विभिन्न रूप प्राप्त होकर विभिन्न अर्थोंके प्रतिपादक होनेपर भी पहलेवाला वर्ण बादवाले वर्णके द्वारा एवं बादवाला वर्ण पहलेवाले वर्णके द्वारा किसी नियम-बद्ध रूपमें किसी विशेष निश्चित अर्थके लिए ही

---

[१] वस्तुतत्त्वका सम्यक् ज्ञान।

स्थापित रहता है। इस प्रकार क्रमके अनुरोधसे मिलित बहुत-से वर्ण किसी विशेष-अर्थके सूचकके रूपमें ही निर्दिष्ट हुआ करते हैं। जिस प्रकार 'ग' कार, 'औ' कार एवं विसर्ग वर्ण प्रत्येकमें सर्व-अर्थ प्रकाशक शक्ति रहनेके कारण ही किसी निर्दिष्ट क्रमसे सज्जित होकर 'गौः' इस आकारके पदरूपमें सास्ना अर्थात् गलकंबल (गायके गलेका लटकता हुआ झालर) आदिसे युक्त प्राणिविशेषका ही प्रकाशक हुआ करता है। अतएव इन सब वर्णोंके उच्चारणके बाद (विनाश होनेपर भी) अर्थ प्रकाशकके रूपमें निश्चित इन वर्णोंके उच्चारण-क्रमकी स्मृतिके बलसे एक साथ संगृहीत होनेपर जिस प्रकारकी बुद्धिका प्रकाश होता है, वही 'पद' (स्फोट) के नामसे जाना जाता है एवं वही वाच्यवस्तुके वाचक रूपमें स्थिर हुआ करता है।

स्फोटके विषयमें जैमिनीका विचार

जैमिनीने शब्दकी नित्यताको स्थापित करनेकी युक्तिको प्रदर्शित करके कहा है—'नित्यस्तु स्याद्दर्शनस्य परार्थत्वात्।' (१/१/१८)। शब्दका नित्यत्व स्वीकृत क्यों होगा? जैमिनीने उसका कारण निर्देश करते हुए कहा है—शब्दको 'नित्य' के रूपमें ही स्वीकार करना होगा, क्योंकि उच्चारणके द्वारा पहलेसे अवगत शब्द ही बादवाले शब्दका बोध करानेका कारणस्वरूप होता है। शब्द तो पहलेसे ही है। शब्द पहलेसे ही बुद्धिमें प्रतिष्ठित होकर किसी एक विशेष अर्थके साथ सम्बन्धविशिष्ट होकर रहता है। वक्ताकी बुद्धिमें उसके पहले दृष्ट होनेपर ही उसे प्रकाशित करनेवाली ध्वनि वक्ताके द्वारा उच्चारित होती है। बादमें श्रोता भी उस ध्वनि द्वारा प्रबुद्ध होकर उस स्फोटसे शब्दका अर्थबोध करता है। साथ ही 'स्फोट'-शब्द ध्वनिसे पृथक् है। उदाहरणके रूपमें कहा जा सकता है—'प्रकाश और दृष्टिशक्तिकी सहायतासे एक वस्तु अब मेरे दर्शनका विषय हुई है', ऐसा कहनेसे जिस प्रकार उस वस्तुको उस समय ही प्रकाशके द्वारा उत्पन्न वस्तु नहीं कहा जायेगा, उसी

प्रकार शब्द भी उच्चारण-क्रियाकी सहायतासे अब बुद्धिमें आरूढ़ होनेके कारण शब्दको उच्चारणसे उत्पन्न ध्वनि नहीं कहा जायेगा, वह ध्वनिसे निरपेक्ष एक सत्-वस्तु है और वास्तवमें ही शब्द—नित्य है।

सांख्यका विचार

सांख्य विचार द्वारा व्याकरणिकोंके स्फोटवादका निरास हुआ है—'प्रतीत्यप्रतीतिभ्यां न स्फोटात्मकः शब्दः॥' (५/५७) अर्थात् वर्णसमूह उच्चारणके बाद तृतीय क्षणमें ही विनाशशील हो जाते हैं, अतः उनके मिलित भावमें शब्द रूपमें किसी अर्थको प्रतिपादित करनेका सामर्थ्य नहीं रहनेके कारण ही पतञ्जलि आदि शास्त्रकार शब्दको वर्णात्मक रूपमें स्वीकार नहीं करते। परन्तु इस वर्णसमूहके उच्चारण द्वारा प्रकाशित 'स्फोट' नामक कोई अतिरिक्त पदार्थ ही—शब्दका स्वरूप है और उसे ही वे अर्थ प्रतिपादकके रूपमें कल्पना किया करते हैं। उनके इस उक्त मतको खण्डन करनेके लिए सांख्यकार इस सूत्रमें कहते हैं—तुमलोग अर्थकी प्रतीतिजनक रूपमें जिस स्फोट पदार्थको स्वीकार (कल्पना) कर रहे हो, वह यदि स्वयं प्रतीत होता, तब उन सभी वर्णोंके उच्चारणसे अर्थकी प्रतीति भी उत्पन्न हो सकती है, मध्यवर्त्ती 'स्फोट' नामक अतिरिक्त पदार्थकी कल्पना आवश्यक नहीं होती। पक्षान्तरमें, यदि कहो कि स्फोट पदार्थ स्वयं प्रतीत नहीं होकर ही अर्थकी प्रतीति करानेवाला होता हो, तब वक्तव्य यह है कि कोई वस्तु स्वयं अप्रतीत होकर अन्य किसी वस्तुकी प्रतीति करानेमें समर्थ नहीं होती। अतएव प्रतीति और अप्रतीति—दोनों पक्षके विचारमें स्फोटका साधन असम्भवपर होनेके कारण शब्द स्फोटात्मक नहीं है।

अन्तरस्फोट और बहिःस्फोट

किसी-किसी आचार्यने अन्तरस्फोट और बहिःस्फोटका विचार किया है। वे कहते हैं—अनन्तर उस नादसे अव्यक्तप्रभव स्वतः

हृदयमें प्रकाशमान त्रिमात्र अर्थात् कण्ठ-औष्ठादि द्वारा उच्चारित होनेवाले अथवा 'त्रिवृत' शब्दसे 'अ' कार, 'उ' कार, और 'म' कारात्मक ॐकार उत्पन्न हुआ। यह ॐकार—परब्रह्म, परमात्मा और भगवान्को समझनेका द्वार अथवा अवयव स्वरूप है। श्रीमद्भावतके इस प्रमाणके अनुसार प्रणवात्मक वर्णोंकी नित्यता प्रमाणित हो रही है। आकाशके नित्य-द्रव्यत्व होनेके कारण उस आकाशके गुण-स्वरूप शब्दका भी नित्यत्व युक्ति द्वारा सिद्ध है। वायुके प्रेरण और अप्रेरण वशतः ही जब शब्दकी अभिव्यक्ति और अनभिव्यक्ति हुआ करती है, तब शब्द—नित्य पदार्थ है। अन्तःकरणमें उपलब्ध होनेवाले यह नित्य वर्ण ही अन्तरस्फोट है। शब्दार्थ यदि अन्तरमें अनुभव होता है, तब वह अन्तरस्फोट वाच्य है। उसमें जो शब्द स्फोट है, वही शब्दब्रह्म है। यह अन्तरस्फोट—अंशसे रहित, वर्णके साथ अभिन्न नित्यज्ञान स्वरूप और शब्दार्थमय है। इस मतमें प्रणवसे ही समस्त वेदोंका आविर्भाव है। अन्तरमें उपलब्ध होनेके कारण वही प्रणव अन्तरस्फोट अर्थात् अव्यक्त उदाहरण स्वरूप है। ये लोग कहते हैं कि जो जन्मसे ही अन्धे, गूँगे, बहरे होते हैं, उनमें चक्षु आदि इन्द्रियोंका अभाव होनेपर भी उनके अन्तःकरणमें स्वतः ही शब्दके अर्थका परामर्श घटित होता है तथा उनमें वाक्य और शब्दार्थका बोध भी उत्पन्न होता है, यही अन्तरस्फोट है।

व्याकरिणकगण शब्द बोधके प्रति बहिःस्फोटको ही कारणके रूपमें निर्देश करते हैं। उनके विचारमें पूर्व-पूर्व वर्णोंके उच्चारणसे जो संस्कार अभिव्यक्त होता है, उस प्रकारके संस्कारसे युक्त जो चरम संस्कार है, उसी संस्कारनिष्ठापदके लिए एकपदके अर्थका बोध कराना ही 'पदस्फोट' है। इस प्रकार पूर्व-पूर्व पदके उच्चारणसे जो संस्कार अभिव्यक्त होता है, उन संस्कारोंके साथ फिर जो चरम पदसंस्कार है, उस संस्कारसे निष्ठ वाक्यके लिए एकवाक्यकी बोधकता ही 'वाक्य-स्फोट' हैं। अद्वितीय, नित्य, पदाभिव्यङ्ग्य, वाक्याभिव्यङ्ग्य, अखण्ड एवं वैसे अनेक पदोंसे

घटित महावाक्य-स्फोट ही—'जातिस्फोट' कहलाता है। इस वाक्य-स्फोटके साथ जातिस्फोट ही महावाक्यके लिए शब्दके बोधका कारण है। यही व्याकरणिकोंका मत है। वे कहते हैं कि पदके उद्‌गमके समयमें स्फोटके द्वारा ही शब्दका बोध हुआ करता है। इस विषयमें प्रत्यक्ष और अर्थापत्ति—दोनों प्रमाणोंकी सम्भावना है। जिस प्रकार 'गौः' उच्चारण करनेसे 'ग' कार, 'औ' कार और विसर्ग प्रतीत नहीं होता है, गलकंबलादिसे युक्त कोई पदार्थ ही प्रतीत हुआ करता है, यही प्रत्यक्ष है। तथा 'गो' कार आदि वर्णसमूह पृथक् रूपमें और एकत्रित रूपमें अर्थके बोधको उत्पन्न करानेवाले नहीं होते। इसका कारण भी पहले कहा जा चुका है अर्थात् व्याकरणिकगण कहते हैं कि एक वर्णके द्वारा ही अर्थकी प्रतीति होनेपर अन्यान्य वर्णोंका उच्चारण करना व्यर्थ होता है। तथा वर्ण जब उत्पन्न होकर ही विनष्ट हो जाता है, तब वर्णोंका सम्पूर्ण ज्ञान भी असम्भव है। इस प्रकार स्फोट ही अर्थापत्ति-प्रमाण[१] होना सिद्ध हुआ।

आनुपूर्वी (वर्णक्रमसे) रहित संस्कारोंके प्रत्येक वर्णके उच्चारणके क्रमानुसार परस्पर आनुपूर्वी रूप सम्बन्धयुक्त चरमवर्णके ज्ञानसे शब्द-ज्ञानका उत्पन्न होना ही स्फोटत्व है। इस प्रकारके स्फोटको स्वीकार नहीं करके उन-उन वर्णोंके ज्ञानके लिए शब्द-ज्ञानको स्वीकार करनेसे 'रस' के स्थानपर 'सर' अथवा 'नदी' के स्थानपर 'दीन' इस प्रकारके प्रतिलोम पाठमें भी रेफ-स-कारादि वर्णके लिए संस्कारकी विद्यमानताके कारण 'सर' और 'नदी' दोनों वस्तुओंके शब्दका ज्ञान हो सकता है। अनुलोम संस्कारके कारण जिस प्रकारके अर्थसे युक्त जो पद उत्पन्न होगा, प्रतिलोमसे उच्चारित वे सभी वर्ण कभी भी वैसे पदको उत्पन्न नहीं कर सकते। यदि ऐसा ही होता, तब अनुलोम और प्रतिलोम पदोंका कोई भेद ही नहीं रहता।

---

[१] मीमांसा दर्शनके एक भाष्यकार।

श्रील जीव गोस्वामीका विचार

गौड़ीय-दार्शनिक गुरु, 'सर्वसम्वादिनी' के रचयिता श्रील जीव गोस्वामिपादने साधारण स्फोटवादका खण्डनकर वर्णरूप 'वेद' शब्दकी नित्यता और अर्थप्रमाणिकताको स्थापित किया है—"देवात्मक सभी शब्द ही समस्त स्वार्थके विषयमें प्रमाणिकता प्राप्त होनेके कारण वे शब्द किस रूपमें अर्थके प्रकाशक होते हैं, उसीके विषयमें बतलाया जा रहा है। सर्वप्रथम यह आपत्ति है कि वर्णसमूहके शीघ्र विनाशशील अर्थात् तृतीय क्षणमें ही विनाशी होनेके कारण अर्थके प्रतिपादनमें उनकी शक्ति सम्भवपर नहीं होती है। अतएव कोई-कोई ऐसे मतको प्रकाश किया करते हैं कि शब्दमें स्थित पूर्व-पूर्व अक्षरोंके उच्चारणसे उत्पन्न संस्कारके साथ संयुक्त अन्तिम अक्षर ही अर्थका प्रकाशक होता है। उन सब पूर्व-पूर्व वर्णोंके उच्चारणसे उत्पन्न संस्कार अप्रत्यक्ष पदार्थ होनेके कारण केवलमात्र अर्थ प्रकाशरूप कार्यके द्वारा ही प्रतीतिके विषय हुआ करते हैं। अन्य कोई-कोई कहते हैं कि पूर्व-पूर्व वर्ण जिस प्रकार क्रमशः उच्चारित होते हैं, उसी प्रकार उनके उच्चारणसे उत्पन्न संस्कारोंके कार्य-स्वरूप स्मरण भी क्रमशः ही होता है, परन्तु एककालमें नहीं। अतएव एक ही कालमें सभी वर्णोंकी प्रतीति नहीं होनेके कारण उसका सहयोगी अन्तिम वर्ण भी अर्थ प्रतीतिजनक नहीं हो सकता। इस अभिप्रायसे वे 'स्फोट' नामक पदार्थविशेषको ही अर्थ-प्रतीतिको उत्पन्न करनेवालेके रूपमें कहा करते हैं।

"वर्णसमूहके अनेकत्वके कारण एक प्रतीति असम्भव होनेके कारण एक-एक वर्णकी जो प्रतीति है, उक्त प्रतीतिसमूह द्वारा जो संस्कार उपस्थित होगा, उक्त संस्काररूप बीजसे युक्त और अन्तिम वर्णकी प्रतीतिसे उत्पन्न अनुभवसे युक्त पुरुषमें एक प्रतीतिके विषयके रूपमें उक्त स्फोट प्रकाशमान हुआ करता है।" अतएव स्फोट-स्वरूप होनेके कारण वेद नित्य है। इसका कारण यह है

कि प्रत्येक वर्णके उच्चारणमें ही उसका प्रत्यभिज्ञ अर्थात् पूर्व-पूर्व संस्कार ज्ञान वर्त्तमान है। वेदान्तिकगण कहते हैं—"भगवान् उपवर्ष[१] वर्णसमूहको ही शब्दस्वरूप कहा करते हैं।"—इस नीतिका अनुसरण करके 'द्विगौ अर्थात् दो गाय', इस स्थानपर एक शब्दका ही उच्चारण हुआ है, परन्तु दो 'गौ' शब्दका उच्चारण नहीं, क्योंकि यहाँ एकत्व रूपमें ही पहचान हुई है। अतएव वर्णात्मक रूपमें ही शब्दके नित्यत्वको स्वीकार किया गया है। उक्त वर्णसमूह पंक्तिमें स्थित चींटियोंके समूहके समान क्रमशः अनुगृहीत अर्थविशेषके साथ सम्बन्धयुक्त होकर अपने व्यवहारमें भी एक-एक वर्णके उच्चारणके बाद समस्त वर्णोंकी प्रतीतिको प्रकाश करनेवाली बुद्धिमें अर्थविशेष सम्बन्धके रूपमें ही प्रकाशमान होकर नियमित रूपमें उक्त अर्थकी प्रतीतिको उत्पन्न करते हैं। अतएव वर्णवादियोंकी कल्पनाकी लघुता (महत्त्व-हीनता) हुआ करती है। स्फोटवादियोंके मतमें अर्थकी प्रतीतिके विषयमें दृष्ट-वर्णोंको परित्याग करनेके कारण दृष्टहानि और अदृष्ट-स्फोटके उपादानके कारण अदृष्ट कल्पनारूप दो प्रकारके दोष उपस्थित होते हैं। विशेषतः ये सभी वर्ण ही एकबार क्रमशः उच्चारित होकर स्फोटको प्रकाश करते हैं, पुनः यह स्फोट-पदार्थ अर्थको प्रकाशित करता है, इस कल्पनाके पक्षमें कल्पना-गौरवरूप दोष घटित होता है। अतएव इस प्रकार वर्णात्मक वैदिक शब्दोंका ही नित्यत्व और अर्थ-प्रतीतिजनकत्व अङ्गीकृत हुआ।

शाङ्करभाष्यपर रत्नप्रभा-टीका, आनन्दगिरि, भामती, जयन्तभट्टकृत न्यायमञ्जरी आदिमें स्फोटवादकी बहुत आलोचना दिखायी देती हैं, किन्तु श्रीमन् महाप्रभुने अपनी अध्यापक-लीलामें, आचार्य-लीलामें जिस अभूतपूर्व स्फोटवादका विचार प्रदर्शित किया है, वैसा विचार परमार्थ-विज्ञान-विश्वमें इससे पहले इतने सुन्दर रूपमें कभी भी प्रकाशित नहीं हुआ। श्रील जीव गोस्वामिपादने तत्त्व-सन्दर्भकी अनुव्याख्यामें साधारण स्फोटवादको दूर करके जिन

[१] दस प्रमाणेंमें एक प्रमाण।

वर्णरूपी वेद-शब्दोंका नित्यत्व और अर्थ-प्रमाणिकताको स्वीकार किया है, उसके द्वारा श्रीमन् महाप्रभुने अध्यापक-लीलामें जिस स्फोटवादके विद्वद्रूढ़िगत विचारको प्रदर्शित किया था, वही स्थापित हुआ है। श्रीजीव गोस्वामिपादके श्रीहरिनामामृत-व्याकरणकी अवतारणा, पाणिनीयके साधारण स्फोटवादका खण्डनकर स्फोटवादकी विद्वद्रूढ़िकी स्थापनाके अभिप्रायसे ही हुई है। विद्वद्रूढ़िगत स्फोटवाद गौड़ीय-दर्शनकी सार-शिक्षा श्रीनामभजनमें ही प्रस्फुटित हुआ है। शिक्षाष्टकमें जो 'विद्यावधुजीवन' द्वारा श्रीनामसङ्कीर्त्तनकी विजय-दुन्दुभि घोषित हुई है, उससे विद्वद्रूढ़िगत स्फोटवाद ही परिस्फुटित हो गया है।

वर्णके उच्चारणको समझानेवाले वेदाङ्ग-शास्त्रको 'शिक्षा' कहते हैं। उदात्त, अनुदात्त आदि स्वरविज्ञानकी शिक्षा वेदाङ्गका आलोच्य विषय है। किन्तु श्रीमन् महाप्रभुका शिक्षाष्टक वैसा वेदाङ्गमात्र नहीं है। शिक्षाष्टकके अन्तर्गत ही अङ्गों सहित समस्त वेद हैं। शिक्षाष्टकमें जो शिक्षा है, उसमें वेदाङ्ग-शास्त्रोंके विद्वद्रूढ़िगत विचारोंको वेदके अङ्गमात्रमें ही आबद्ध न रखकर समस्त अङ्गों सहित वेदोंको ही क्रोड़ीभूत कर डाला है। उस शिक्षाष्टकमें नामीसे अभिन्न स्वराट् श्रीकृष्णचैतन्य-रस-विग्रह श्रीनामचिन्तामणि स्फोटवादकी बात व्यक्त हुई है।

व्याकरणिकगणोंने शाब्दिकगणों अथवा स्फोटको वर्णसे अतिरिक्त अथवा वर्णसे भिन्न रूपमें विचारकर विभिन्न प्रकारके साम्प्रदायिक वाद-असहमतीकी सृष्टि की है। किन्तु गौड़ीय-दर्शनके श्रीनामके विचारमें साधारण स्फोटवादके समस्त साम्प्रदायिक विवाद प्रशमित हुए है। साधारण स्फोटवादमें वर्ण और वर्णीमें भेद है, क्योंकि उनके वर्ण अथवा शब्दका विचार प्रकृति या इस जगत्के व्योमके अन्तर्गत है, किन्तु विद्वद्रूढ़िगत स्फोटवादके विचारमें किसी प्रकारकी मायाका व्यवधान नहीं है। उसमें वर्ण और वर्णीमें, शब्द और शब्दीमें, वाच्य और वाचकमें कोई भेद नहीं है। उसमें सभी वर्णोंका वाचकत्व असम्भावित नहीं है, क्योंकि

उसमें वर्ण और वर्णी, शब्द और शब्दी, वाच्य और वाचक—दोनों ही परव्योमकी वस्तुएँ हैं। श्रीमद्भागवतमें इस प्रकारके विद्वद्रूढ़िगत स्फोटवादके सम्बन्धमें कहा गया है—

"श्रृणोति य इमं स्फोटं सुप्तश्रोत्रे च शून्यदृक्।
येन वाग्व्यज्यते यस्य व्यक्तिराकाश आत्मनः॥

स्वधाम्नो ब्रह्मणः साक्षाद्वाचकः परमात्मनः।
स सर्वमन्त्रोपनिषद्वेदबीजं सनातनम्॥"

(श्रीमद्भा॰ १२/६/४०-४१)

अर्थात् जिस समय आच्छादन आदिके कारण श्रवणेन्द्रिय वृत्तिशून्य हो जाती हैं, उस समय भी जो स्वाभाविक ज्ञानशाली पुरुष इन्द्रियोंकी सहायताके बिना स्फोट अर्थात् अव्यक्त ॐकार ध्वनिको श्रवण किया करते हैं, वे ही परमात्मा हैं। इस स्फोट (ॐकार) के द्वारा ही समस्त अर्थोंको प्रकाश करनेवाले विस्तृत वेद-वाक्योंका प्रकाश होता है तथा यह स्फोट स्वयं हृदयाकाशमें जीवात्मासे प्रकाशित हुआ करता है। यह स्फोट अपने कारणस्वरूप परमात्मा ब्रह्मवस्तुका साक्षात्-वाचक है एवं यही समस्त मन्त्रोंका रहस्य और वेदसमूहका सनातन बीज स्वरूप है।

स्फोटवादका विद्वत्-तात्पर्य

स्फोट—ब्रह्मवस्तुका साक्षात् वाचक है। साधारण विचारमें 'स्फोट' शब्दका तात्पर्य ब्रह्म है। क्षुद्र विचारोंके परवर्त्ती श्रेष्ठ विचारमें उन्नत दर्शनमात्र ही ब्रह्म है। बृहत्वको बोध करानेवाले विचारका ज्ञापन करनेके लिए उसे 'ब्रह्म' कहा जा रहा है। क्षुद्रताको दूरकर 'ब्राह्म अर्थात् ब्रह्म-सम्बन्धी' शब्दकी अवतारणाके लिए बृहत्ववाचक स्फोटवादका विचार है। हिरण्यगर्भगण कहते हैं—वह विचार परमात्मामें आबद्ध है। वैसा विषय इस प्रकारके विचार द्वारा ग्राह्य नहीं है। 'नव' और 'वन' शब्दकी समानताके विचारसे शब्दके अर्थका विचार होगा। 'नदी', 'दीन', 'सर', 'रस'

आदि शब्दोंके विन्यासकी विपरीतताके अनुसार उद्दिष्ट वस्तुका भेद लक्षित होता है। 'ब्रह्म' शब्द इन सभी शब्दोंके समान नहीं है। मनोधर्मसे प्रेरित होकर 'ब्रह्म' शब्दकी व्याख्या करनेसे शब्दका सत्य-अर्थ प्रकाशित नहीं होता। श्रीगुरुपादपद्मके आश्रित व्यक्तिके समीप वह अर्थ स्वयं प्रकाशित होता है।

तीन प्रकारकी रूढ़ि

स्फोटके विचारके समृद्ध होनेपर रूढ़ि[१] प्रकाशित होती है। रूढ़ि तीन प्रकारकी है—अज्ञरूढ़ि, साधारणरूढ़ि और विद्वद्रूढ़ि। विद्वद्रूढ़ि अद्वयज्ञानको लक्ष्य करती है, साधारणरूढ़ि व्यवहारिक परिभाषागत वस्तुकी धारणामें बुद्धिवृत्तिको आबद्ध करती है, अज्ञरूढ़ि साधारणरूढ़िकी अपेक्षा और भी सङ्कीर्णताको पोषण करके व्यवहारिक जगत्में रज और तमो गुणकी भी मर्यादा स्थापन करती है। जीवोंकी विभिन्न प्रतीतिके लिए यह सब विचार आकर उपस्थित होते हैं। वास्तवमें स्फोटवादकी विद्वद्रूढ़ि परब्रह्म-वस्तुको ही लक्ष्य करती है। वहाँ स्फोट केवल वाचकमात्र नहीं है, बल्कि उसमें वाच्यका विचार भी परिस्फुटित है, तभी हम जान पाते हैं कि नाम और नामी अभिन्न हैं।

श्रौतपन्था और स्फोटका कदर्थ

जिस पन्थाके प्रतिकूलमें अन्य कोई भी तर्कवादका आश्रय लेकर उसकी वास्तविकताको अवरुद्ध नहीं कर सकते, वही श्रौतपन्था है। यदि शब्दकी विद्वद्रूढ़ि स्थूल-सूक्ष्म आकारमें चेतनके समीप आवृत होती है, तभी स्फोटका कदर्थ हुआ करता है। तब शब्द क्षुद्र परिच्छिन्न वस्तुका ज्ञान उपस्थित करता है। यद्यपि शब्द गीत होकर कर्ण-कुहरोंमें प्रविष्ट तो होता है, किन्तु चिदाकाशमें विचरणशील वास्तविक कर्णमें प्रवेश करनेका अवसर प्राप्त नहीं करता। इससे शब्दका वास्तविक विज्ञान आविष्कृत

[१] रूढ़ि अर्थात् शब्दकी शक्ति जो यौगिक न होनेपर भी अर्थको स्पष्ट करती है।

नहीं हो पानेके कारण उसका परिच्छिन्न, सङ्कीर्ण, विकृत और विवर्त्तग्रस्त ज्ञान स्फोटको आवृत कर डालता है।

गौड़ीयाचार्य और श्रीमन् महाप्रभुका स्फोटके विषयमें विचार

श्रील जीव गोस्वामी प्रभु एवं श्रील बलदेव विद्याभूषण प्रभु आदि गौड़ीय-दार्शनिक गुरुओंने अचिन्त्यभेदाभेद-सिद्धान्तमें स्फोटके विचारको इस प्रकार प्रदर्शित किया है—श्रीमन् महाप्रभुका शिक्षाष्टक स्फोटविचारका ही प्रस्फुटित विज्ञान है। श्रीमन् महाप्रभुने बहुत कम शब्दोंमें ही स्फोटके विचारको इस प्रकार कहा है—कीर्त्तनीयः सदा हरिः अर्थात् श्रीहरि (के नाम, रूप, गुणादि) सदैव कीर्त्तनीय हैं। जिनसे अद्वयज्ञानका व्याघात हो, उन शब्दोंके द्वारा जगत्को आच्छन्न करनेका उपदेश श्रीमन् महाप्रभुने नहीं दिया। विद्वद्रूढ़ि-वृत्तिमें प्रत्येक शब्द ही विष्णु-वाचक अर्थात् परब्रह्म-वाचक है। प्रत्येक शब्दमें ही स्फोट-धर्मसे विद्वद्रूढ़ि प्रकाशित होती है। जब महान्त गुरुके द्वारा कर्ण-बेध संस्कार (दीक्षा प्राप्त) होनेपर दिव्यज्ञान प्राप्त होता है, उस समय जीवके हृदयमें स्फोटधर्मगत विद्वद्रूढ़ि प्रकाशित होती है। रूढ़िवृत्ति श्रीमूर्त्तिको प्रकाशित करती है। अज्ञ और साधारणरूढ़िमें वाच्य-वाचक और शब्द-शब्दीमें भेद होनेके कारण उनमें पौत्तलिकता या प्राकृत-सहजियावाद उपस्थित होता है, किन्तु विद्वद्रूढ़िमें वाच्य-वाचकमें आवरण न होनेके कारण उसमें पौत्तलिकताका कोई स्थान नहीं है। श्रील जीव गोस्वामी प्रभुने षट्सन्दर्भमें, श्रील रूप-सनातन प्रभुने [क्रमशः लघु और बृहद्] भागवतामृत आदिमें एवं सभी गौड़ीय-दार्शनिकोंने ही श्रीमन् महाप्रभु द्वारा कथित इस विचारको विशेष रूपसे प्रदर्शित किया है।

जड़ाकार, चिदाकार और शब्द-अर्चा

जब तक कोई भी वस्तु आकारसे युक्त नहीं होती, तब तक वह हमारे दर्शनका विषय नहीं होती। अवास्तव दार्शनिकोंकी

केवल निराकारकी धारणा आकाशके पश्चात्‌की भूमिकाकी कल्पनामात्र है। जो वस्तु कुछ समय तक स्थूल-सूक्ष्म आकारका संरक्षणकर नित्य चिदाकारका संरक्षण नहीं कर सकती, वह वस्तु अवास्तव कल्पनामात्र है, वह कभी भी सच्चिदानन्द वस्तु नहीं हो सकती। गौड़ीय-दर्शनमें जिस सच्चिदानन्द-विग्रह सर्वकारण-कारण परमेश्वर-वस्तुकी बात कही गयी है, वह नित्य चिदाकार-विग्रह है। वही परमेश्वर-वस्तु ही वास्तविक दार्शनिकोंका मूल प्रतिपाद्य विषय है और वही परमेश्वर-वस्तु ही स्फोटकी विद्वद्‌रूढ़ि द्वारा श्रीगुरुपादाश्रित विद्वत्-जनोंकी श्रुति अर्थात् उनके कानों और उनकी वाणीमें शब्दरूपी अर्चा-विग्रहके आकारमें प्रकाशित होती है। गौड़ीय-दार्शनिक गुरुओंके पादत्राणवाहीके(१) सम्बन्धसे हम प्रत्येक मुहूर्त्तमें कह रहे हैं कि काल द्वारा क्षोभित होनेवाले कर्मकी कथाओंकी भाँति इन सब कथाओंको श्रवण नहीं करना चाहिये। गौड़ीय-दर्शनमें गौड़ीय कथाके अनुसार—'कर्म' और 'लीला' में आकाश-पातालका भेद है। 'कर्म'—बहिर्मुख जड़-इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य है, जबकि 'लीला'—सेवान्मुख चित्-इन्द्रियों द्वारा ही ग्राह्य है। लीला ऐसा कोई कार्य प्रकाश नहीं करती कि उसे इन्द्रियोंसे उत्पन्न ज्ञानके द्वारा भोग्य-जड़के समान समझ लिया जाये। मनके द्वारा जड़के जिस आकारकी धारणा की जा सकती है, वह वस्तुके वास्तविक आकारके साथ भेद स्थापन करती है। किन्तु शब्द इस दुर्भेद्य दुर्गरूपी देह और मनको भेदकर चेतनकी सन्धिनी भूमिकामें प्रकाशित होता है। विद्वद्‌रूढ़िरूपमें वह शब्द साक्षात् विग्रहवान श्रीहरिके रूपमें गौड़ीय-दार्शनिकोंके दर्शनका विषय होता है।

शास्त्रोंमें सर्वत्र ही श्रीहरिका कीर्त्तन

सर्वत्र ही श्रीहरिका गान है। जिन्हें अँग्रेजीकी परिभाषामें scripture कहा जाता है—जिन्हें 'शास्त्र' कहा जाता है—'वेद',

(१) पादुकाको वहन करनेवाले।

'भागवत', 'पुराण' कहा जाता है, उन सबमें ही श्रीहरिकी कथाओंका ही वर्णन है—"वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा। आदावन्ते च मध्ये च हरिः सर्वत्र गीयते। अर्थात् वेद, रामायण, पुराण तथा महाभारतके प्रारम्भ, मध्य और अन्तमें सर्वत्र ही श्रीहरिका गुणगान किया गया है।"

कृष्णतत्त्व कर्मके अन्तर्गत नहीं है

वेद आदिमें लीलाकी भाषामें 'हरि' शब्दकी अवतारणा हुई है। श्रीगीतामें उद्दिष्ट श्रीकृष्णतत्त्वको विद्वद्रूढ़िगत विचारके अनुसार न समझ पानेके कारण बहुत-से लोगोंने उसे स्वकपोल-कल्पना या मनोधर्मरूपी आवरणसे ढक दिया है। 'गौड़ीय-दर्शन' शास्त्रको इस प्रकारके मनोधर्मके द्वारा ढकनेका पक्षपाती नहीं है, क्योंकि उससे शास्त्रके वास्तविक अर्थकी उपलब्धि नहीं हो सकती। श्रीकृष्णतत्त्व कर्मके अन्तर्गत नहीं है। जो स्वराट् हैं—जो सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र हैं—जो एकमात्र स्वेच्छामय हैं, वह कर्मके अधीन नहीं हो सकते। गौड़ीय-दर्शनमें इस चरम सत्यकथा अर्थात् परम सत्यकी स्वेच्छामयता, लीलामयताका दर्शन—'जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितर' इत्यादि (श्रीमद्भा॰ १/१/१) में किया जाता है। श्रीमद्भागवत इस गौड़ीय-दर्शनका भाष्य-ग्रन्थ है। श्रीमद्भागवतमें जो नैष्कर्म्यवाद आविष्कृत हुआ है, वह कर्मवादकी निन्दा करनेवाले केवलाद्वैतवाद मात्रको ही लक्ष्य नहीं करता। 'श्रीमद्भागवतम् पुराणममलं यद्वैष्णवानां प्रियं यस्मिन् पारमहंस्यमेकममलं ज्ञानं परं गीयते। यत्र ज्ञान-विराग-भक्ति-सहितं नैष्कर्म्यमाविष्कृतं तच्छ्रुण्वन् सुपठन् विचारणपरो भक्त्या विमुच्येन्नरः॥' (श्रीमद्भा॰ १२/१३/१८) अर्थात् "श्रीमद्भागवत अमल पुराण है जो वैष्णवोंको अत्यन्त प्रिय है। इसमें परमहंसोंके द्वारा एकमात्र अमल परम-ज्ञान गाया गया है। इसमें ज्ञान, वैराग्य, भक्ति सहित नैष्कर्म्य आविष्कृत हुआ है। इसे भक्तिपूर्वक सुननेवाले, सुष्ठु रूपसे पढ़नेवाले तथा विचार करनेवाले मनुष्य समस्त बन्धनोंसे मुक्त हो जाते हैं।"

गौड़ीय-दार्शनिकोंका वैशिष्ट्य

जब तक भक्तिके विचारोंका अवलम्बन न किया जाये, तब तक कर्म-ज्ञान-योग आदि जागतिक और असम्पूर्ण विचारोंके हाथसे किसी भी प्रकारसे छुटकारा नहीं पाया जा सकता। गौड़ीय-दार्शनिक न होने तक कुदार्शनिक विचारोंके हाथसे उद्धार प्राप्तकर वास्तविक विचारोंकी परिपूर्ण पदवीपर आरुढ़ नहीं हुआ जा सकता। मनोधर्म तथा देहधर्मने विविध प्रकारके धर्मोंका आवाहन किया है। जब तक हृदयमें मनोधर्म और देहधर्म रूपी विविध प्रकारके धर्मोंकी धारणा और कर्त्तव्यता प्रबल रहती है, तब तक गौड़ीय-दर्शनके अकलुषित साम्राज्यमें प्रवेश प्राप्त नहीं होता। समस्त जगत् जिन सब कथाओंमें व्यस्त है, गौड़ीय-दार्शनिक उन सब कथाओंके लिए अधिक समय व्यर्थ नहीं करते—"सतां प्रसङ्गान् मम वीर्य संविदो भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः। तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि श्रद्धा-रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति॥ (श्रीमद्भा॰ ३/२५/२५) अर्थात् साधुओंके उत्तम सङ्गमें मेरी जो वीर्यवती कथाएँ सुननेको मिलती हैं, वे वीर्यवती कथाएँ हृदय और कानोंको आनन्द प्रदान करती हैं। उनके सेवनसे जीव शीघ्र ही अपवर्ग अर्थात् मोक्षके मार्गमें प्रवृत्त होकर क्रमशः श्रद्धा, रति तथा प्रेमाभक्तिको प्राप्त कर लेता है।"

शब्दब्रह्मकी नित्य आराधना करना ही कर्त्तव्य है

एकमात्र स्फोटाकारमें जो अद्वयज्ञान—स्वतःसिद्ध कथाएँ शब्द रूपमें आविर्भूत हुई हैं, सर्वदा उनकी आलोचना करना ही कर्त्तव्य है। एकबार नहीं, दो बार नहीं, विश्राम लेकर नहीं, बाधा देकर नहीं, अपितु नित्यकाल, विश्राम-रहित, बाधा-रहित भावसे उस स्फोट-ब्रह्मकी अर्थात् भगवन्नामकी आलोचना करनी होगी—समस्त इन्द्रियोंपर उसे नृत्य कराना होगा।

लीला प्रवेश

वैसा स्फोटाकार शब्द ही हृदय और कानोंको रसयुक्त करता है। असाधुके सङ्ग अथवा अपने-आपमें निर्जनमें या फिर अन्यमनस्क (उदासीन) होनेपर हृदय-कर्ण रसयुक्त नहीं होते। स्वरूपकी उपलब्धिके क्रमसे सेवोन्मुख-कानोंमें साधुके [कथारूप] प्रसङ्गके माध्यमसे हृदय और कान रसयुक्त होते हैं। जिन्होंने साधुओंका सङ्ग करना आरम्भ कर दिया है, वे अन्य कार्योंमें समय नहीं दे सकते, वे समस्त चित्-इन्द्रियोंके द्वारा इन्द्रियोंके अधिपति श्रीहृषीकेशको आकर्षित करते हैं तथा स्वयं भी प्रकृतिके वास्तवविषय अप्राकृत हृषीकेशके आकर्षणसे आकृष्ट होते हैं, यही है—लीलामें प्रवेश।

साधुसङ्ग ही मूल

मुक्तिके पथपर आबद्ध रहनेकी जो विचार प्रणाली है, उससे मुक्त होकर—काल्पनिक मुक्ति—इन्द्रियोंसे उत्पन्न ज्ञानसे मुक्त होकर परम मुक्तगणोंके उपास्य लीलापुरुषोत्तमके नाम-रूप-गुण-लीलामें प्रवेश साधुओंके प्रकृष्ट सङ्गसे ही सम्भव होता है। तब फिर कर्त्तृत्व-सत्तागत विचारोंमें और आबद्ध होकर नहीं रहना पड़ता।

जड़-अभिज्ञान तथा श्रीगुरु-कृष्णकी कृपासे सञ्चारित अभिज्ञान

'श्रद्धा' शब्दका अर्थ निर्भरता है। जड़-जगत्के इन्द्रियोंसे उत्पन्न ज्ञानने जिसे सत्य कहकर स्थिर कर दिया है, उसपर निर्भरकर जो 'कर्मवीर' के रूपमें प्रतिष्ठित होनेकी इच्छा करते हैं, उनका इन्द्रियोंसे उत्पन्न वह ज्ञान दूसरे मुहूर्त्तमें ही उन्हें ठगता है। यदि मैं phenomena में श्रद्धा करूँ, तो उससे केवल कर्मालान (कर्मचक्र) में बद्ध होऊँगा। जिस समय हमारा—'यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरो। तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते

महात्मनः॥'—ऐसा श्रेय[१] सम्बन्धित विचार उत्पन्न होता है, तभी श्रुतिगत शब्दकी विद्वद्रूढ़िवृत्ति हमारे द्वारा ज्ञात हो जाती है। इन्द्रियों द्वारा अर्थात् आँख-नाक द्वारा—मानसिक पर्यालोचना द्वारा शब्दका जो अर्थ-विलास है, वह अचित्-विचार है। इन समस्त इन्द्रियोंकी परिचालना भोगमात्र है। बाहरी जगत्का अर्थ हमें श्रौतपथसे विचलित करता है—वास्तव सत्यसे भ्रष्ट करता है, क्योंकि उस प्रणालीसे हम परमेश्वरका सन्धान नहीं पा सकते। भूत-आकाशके शब्दने स्फोटाकार धारण किया है, यह देखकर उस वस्तुको यदि 'ब्रह्म' कहें, तब फिर उस प्रकारकी analogy draw (सादृश्य अनुमान) करके सत्यविषयका वास्तविक ज्ञान नहीं भी हो सकता है। कर्मका विचार कभी भी सुष्ठु नहीं हो सकता। ज्ञान भी—खण्डज्ञान और अखण्डज्ञान है, किन्तु सम्पूर्ण ज्ञान नहीं है। कर्मका त्याग नहीं करनेसे ज्ञानमें प्रवेश नहीं होता, पुनः ज्ञानके द्वारा 'अतन्निरसन्' (अर्थात् यह नहीं, यह नहीं) ही हो सकता है। किन्तु भगवत्-सम्बन्धज्ञानका उदय होनेपर जीवके लिए सेवा-पथ आविष्कृत होता है। अतन्निरसनमें 'तत् अर्थात् वह' निर्दिष्ट होता है, वह 'तत्' वस्तु जब स्वयं ही स्वयंको प्रकाशित करती है, तभी उसी स्फोटाकार 'ॐ तत्सत्' का स्वरूप हमारी निर्मल चेतनवृत्तिमें प्रकाशित होता है—"यावानहं यथाभावो यद्रूपगुणकर्मकः। तथैव तत्त्वविज्ञानमस्तु ते मदनुग्रहात्॥ (श्रीमद्भा॰ २/९/३२) अर्थात् स्वरूपतः मेरा जो परिमाण (आकार) है, सत्तायुक्त होना जो लक्षण है तथा मेरे जो-जो रूप (श्याम, चतुर्भुज आदि रूप), गुण (भक्तवात्सल्यादि) और कर्म (लीलाएँ) हैं, तुम उन सब विषयोंका वैसा ही अनुभव मेरी कृपासे सम्पूर्ण रूपसे प्राप्त करो।" भगवान्की कृपा होनेसे वे शब्दके रूपमें आकर उपस्थित होते हैं। वे रूपधारी, गुणमय, लीलामय, परिजनों द्वारा परिवेष्टित हैं। उनका अपना धाम है। यह जगत् उनके

---

[१] वास्तविक रूपमें कल्याणकारी।

नाम-रूप-गुण-लीला-परिकर वैशिष्ट्यका ही विकृत तुच्छ प्रतिफलन है। वे श्रीहरि ही कृपा करके—'वे किस आकारके हरि हैं, किस वर्णके हरि हैं'—सभी कुछ चेतनकी वृत्तिमें प्रकाशित कर देते हैं।

गौड़ीय और अगौड़ीय दर्शन; जड़विशेष, निर्विशेष और चित्-विशेष

गौड़ीय-दर्शनमें पूर्ण वस्तुका दर्शन किया जाता है और अगौड़ीय-दर्शनमें विकृत, असम्यक्, आंशिक दर्शनकी प्रचेष्टा है। गौड़ीय-दर्शनमें नित्य-दर्शनीय वस्तुको हम अपने भोग्यके रूपमें नहीं जानते। भोक्ता—कर्त्तृत्व अभिमानमें व्यस्त है। कर्त्तृत्व अभिमानको लेकर जिन समस्त दर्शनोंकी प्रचेष्टा है, उनसे भगवान्‌का दर्शन नहीं होता। शुद्धाद्वैत, विशिष्टाद्वैत विचारमें हम विवर्त्तवादको छोड़ सकते हैं। निर्विशेष विचारमें कुछ खराब नहीं है, क्योंकि जड़विशेषता ही पौत्तलिकता है। जड़विशेषसे रहित होना आवश्यक है, किन्तु जड़विशेषसे रहित अवस्था ही अन्तिम या चरम अवस्था है—ऐसी बात नहीं है। जड़विशेषका अतिक्रमकर नित्य चित्-विशेषके राज्यमें आरुढ़ होना ही चेतन वस्तुका अपने स्वभावमें आगमन है।

गौड़ीय-दर्शनमें सर्वसमन्वय

जो 'साकारवाद', 'निराकारवाद' या 'निर्गुणवाद' के विचारोंको लेकर मारा-मारी (वाद-विवाद) कर रहे हैं, वे यदि गौड़ीय-दर्शनके सुसम्यक् विचारका भलीभाँति दर्शन करें, तो वे उक्त प्रकारकी एकदेशीय-दर्शिता और साम्प्रदायिक विवादसे मुक्त हो सकते हैं। गौड़ीय-दर्शन एकदेशदर्शी जड़साकारवादियोंका समर्थन नहीं करता, या फिर एकदेशदर्शी निर्गुणवादियोंको भी प्रश्रय नहीं देता। गौड़ीय-दर्शनका साकारवाद जड़साकारवाद नहीं है। गौड़ीय-दर्शन जड़साकारवादको दूरकर अविचिन्त्यशक्ति-सम्पन्न सच्चिदानन्द-विग्रहके निराकार आकार या सूक्ष्म भूताकाशमय आकारकी कल्पनाकर

दूसरे प्रकारके कपटतामय जड़-साकारवादरूपी पौत्तलिकता अथवा पापका आवाहन नहीं करता, या फिर अविचिन्त्यशक्ति-सम्पन्न परमेश्वरके परम-ऐश्वर्यको मानवीय मस्तिष्क या मनोधर्मके साँचेमें ढालकर अपराधमय आकारकी कल्पना करनेके लिए धावित नहीं होता, अथवा तथाकथित निर्गुणवादके आवाहनके नामपर त्रिगुणातीत शुद्धसत्त्व-शरीरयुक्त, कल्याण-समुद्रका मानवीय अकल्याणमय चिन्तास्रोतके द्वारा विचारकर परमेश्वरको शून्यवादके यूपकाष्टमें (अर्थात् यज्ञमण्डपमें बलि चढ़ानेवाले पशुको बाँधे जानेवाले खम्भेसे बाँधकर) बलि देनेके उद्देश्यसे पाषण्डता भी नहीं करता। गौड़ीय-दर्शन चित्-विशेष या चित्साकारवादको स्वीकार करता है। जड़साकारवादको दूरकर गौड़ीय-दर्शनमें 'अतन्निरसन्' नामक निराकारवादका भी सामञ्जस्य है, किन्तु निराकारवादकी एकदेशदर्शिता और तुच्छता नहीं है। गौड़ीय-दर्शनमें मिश्रसत्त्व, रजः और तमः—इन प्राकृत गुणोंको पूर्णचेतन परमेश्वरमें आरोप न करनेके कारण तथा परमेश्वरको शुद्धसत्त्व-तनु एवं अखिल कल्याणके आलयके रूपमें विचार करनेके कारण निर्गुणवादका भी वास्तविक तात्पर्य गौड़ीय-दर्शनमें ही समन्वित हुआ है।

श्रवणके अनुग्रहसे दर्शन

स्फोट किसे लक्ष्य कर रहा है—किस आकारको लक्ष्य कर रहा है? स्फोट जब स्फुटित, अभिव्यक्त होता है, तब वह अभिव्यक्ति अथवा स्फोटके लक्ष्य स्वरूप नाम-रूप-गुण-लीलाके वास्तविक ज्ञानको ही 'दर्शन' कहते हैं। श्रवणका अनुग्रह होनेपर जब वह वास्तविक ज्ञान आकर उपस्थित होता है, तभी उसे 'दर्शन' कहा जा सकता है। साधुके मुखसे स्फोटका नाम-रूप-गुण-लीला अर्थात् नामका नाम, नामका रूप, नामका गुण, नामकी लीलाकी कथाका श्रवण करनेवाला ही स्फोटवादके यथार्थ तात्पर्यकी उपलब्धि करनेमें समर्थ होता है।

जीवोंमें बद्ध अभिमान कब तक विद्यमान?

जीवके स्वरूपमें ज्ञान-स्वरूपता और ज्ञातृत्व-स्वरूपता—दोनों ही हैं। जब तक जीवमें आनन्दधर्म प्रस्फुटित नहीं होता, तब तक ही बद्धजीव होनेका अभिमान रहता है। जब साधुके सङ्क्रमसे भगवान्‌की कथाओंको श्रवण करनेका सुयोग प्राप्त होता है, तभी जीव समझ पाता है कि उसमें भी आनन्द-धर्म है। अप्राकृत आनन्दके अनुसन्धानको छोड़कर जीव ज्ञानके पथपर प्रधावित होता है—"ज्ञाने प्रयासमुदपास्य नमन्त एव जीवन्ति सन्मुखरितां भवदीयवार्त्ताम्। स्थाने स्थिताः श्रुतिगतां तनुवाङ्मनोभिर्ये प्रायशोऽजित जितोऽप्यसि तैस्त्रिलोक्याम्॥ (श्रीमद्भा॰ १०/१४/३) अर्थात् इन्द्रियज ज्ञानकी सहायतासे इन्द्रियातीत वस्तुकी प्राप्तिका नाम आरोहवाद या अश्रौतपन्था है। परन्तु जो ज्ञानके लिए कुछ प्रयत्न न कर कायमनोवाक्यसे साधुमुखसे निःसृत आपकी लीला-कथाओंका सत्कारकर जीवन धारण करते हैं, उनके द्वारा कोई कर्म न करनेपर भी आप अजित होकर उनके द्वारा जीत लिये जाते हैं। आप उनके प्रेमके अधीन हो जाते हैं।"

अक्षज ज्ञानकी असम्पूर्णता

Emperic activity (अक्षज चेष्टा) के द्वारा बाह्य जगत्‌की समस्त बातोंको आधार बनाकर अभिज्ञताकी सीढ़ी प्रस्तुत करते-करते यदि हम रावणकी भाँति स्वर्गकी ओर बढ़नेका प्रयास करते रहें, तो फिर वास्तविक आनन्दको प्राप्त करनेका सौभाग्य नहीं होगा—जो वस्तु हमारी आत्माका अभीष्ट है, हम उस वस्तुको प्राप्त नहीं कर पायेंगे। Sir Isac Newton जैसे मनीषी (विद्वान) तकने भी जागतिक अभिज्ञता और ज्ञान-विज्ञानकी निरर्थकताको हृदयङ्गमकर ऐसा कहा है—ज्ञानके समुद्रमें अवगाहन करनेकी बात तो दूर, मैं उसका स्पर्श भी नहीं कर पाया हूँ, केवलमात्र उसके तटपर खड़ा होकर पत्थरके टुकड़ोंका संग्रह कर रहा हूँ।

अभिज्ञतावादमें अधोक्षज ज्ञान अगम्य

बाह्य जगत्का दर्शनकर इन्द्रियोंसे उत्पन्न ज्ञानकी सहायतासे जो अभिज्ञता (समझ) प्राप्त होती है, उस अभिज्ञता (समझ) का अवलम्बनकर कभी भी अधोक्षज-ज्ञान प्राप्त करनेकी सम्भावना नहीं होती। जब हम समस्त जागतिक अभिज्ञताके अभिमानका परित्याग करते हैं, तभी हम अधोक्षज-ज्ञानको जान सकते हैं। मैंने बहुत-से शास्त्रोंका अध्ययन किया है, समस्त पृथ्वीका दर्शन किया है, लोगोंकी धारणाको परिवर्त्तित कर सकता हूँ—इस प्रकारके विचारोंको लेकर हम पूर्णज्ञान, शुद्धज्ञान अथवा मुक्त अवस्थाके ज्ञानको कभी भी प्राप्त नहीं कर सकते।

खण्डित वस्तुका ज्ञान पूर्णज्ञानका जनक नहीं

क्रमपूर्वक विकसित ज्ञान या खण्डित वस्तुके ज्ञानके द्वारा ज्ञानकी सम्पूर्णता सम्पादित नहीं होती। हमारी अनुचेतन वृत्तिका एकमात्र स्वभाव—शरणागत होना—बृहत् चेतनका आश्रय ग्रहण करना है। बाह्य जगत्की बातोंका आश्रय लेकर हम श्रद्धायुक्त नहीं हो सकते, उसके द्वारा स्थायीभाव—रतिका उदय नहीं होता। जो बाह्य जगत्की किसी वस्तुकी आकांक्षा नहीं करता, जो अकिञ्चन है, प्राकृत जगत्के दृश्य जिनके अवलम्बनीय नहीं हैं, वे ही श्रद्धायुक्त हो सकते हैं। जीवन्त शास्त्र—जीवन्त भागवतसे शास्त्रोंके उपदेश—भवदीय वार्त्ता अर्थात् हरिकथाका श्रवण करते-करते हम अधोक्षज पूर्णज्ञानको प्रत्यक्ष कर सकते हैं। खण्डज्ञानसमूह मायाका आश्रय करके विराजित है और पूर्णज्ञानके अतिरिक्त सबकुछ माया है—

'ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि।
तद्विद्यादात्मनो मायां यथाभासो यथा तमः॥'

(श्रीमद्भा॰ २/९/३३)

वास्तव प्रयोजन तत्त्वके अतिरिक्त जो कुछ भी प्रतीत होता है अथवा सत्तायुक्त होनेपर भी मेरे अधिष्ठानमें जिसकी प्रतीति नहीं है, उसे ही मेरी माया समझो। उदाहरण स्वरूप—जिस प्रकार दो चन्द्रमाओंका अधिष्ठान न रहनेपर भी काँचादिमें दो चन्द्रमाओंकी प्रतिछवि दिखायी देती है, अथवा जिस प्रकार राहु ग्रह-मण्डलमें रहनेपर भी दिखायी नहीं देता, उसी प्रकार। भावार्थ यह है कि ज्योतिर्मय वस्तुके दर्शनके समय आभास और अन्धकारका दर्शन कुछ भी नहीं होता और आभास तथा अन्धकारके दर्शनकालमें ज्योतिर्मय वस्तुका दर्शन भी नहीं होता; तथा आभास और अन्धकारकी कर्त्तृत्व-सत्तामें ज्योतिर्मय वस्तुके अतिरिक्त स्वतन्त्रता नहीं है। उसी प्रकार भगवान् और उनकी माया हैं। श्रीभगवान् ज्योतिर्मय वस्तु हैं—उनकी माया दो प्रकारकी हैं—आभास-स्थानीय जीव-माया और तम-स्थानीय गुण-माया। दोनोंके ही श्रीभगवान्के आश्रित होनेपर भी भगवदन्तरङ्ग-प्रतीतिमें जीव और मायाकी प्रतीतिका अभाव है और जीव और मायिक प्रतीतिमें भी भगवत्-प्रतीति नहीं होती है।

पूर्णज्ञानके अतिरिक्त अन्यत्र मायाका अवकाश

भगवत्-प्रतीति या अखण्ड वस्तुकी प्रतीतिके अतिरिक्त अन्य जो भी प्रतीति होती है, वही माया है। बाह्य जगत्के अध्यापकोंकी श्रेणीसे शब्दकी सहायताके द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह सभी मायामय है। यदि गुरु आत्मतत्त्ववित् न हों, तो उनके वचन एवं मुख-निःसृत शास्त्रोंके उपदेश भी मङ्गल साधन नहीं कर पायेंगे।

आरोह-तर्क-वितर्कसे वास्तव सत्य तक नहीं पहुँचा जा सकता

सायनमाधव द्वारा कथित सोलह दर्शन या पाश्चात्य दार्शनिकोंके द्वारा कथित विभिन्न दार्शनिक मतवादोंका संग्रह करनेपर भी हम अधोक्षज दर्शनके विषयमें कुछ भी नहीं जान पायेंगे। पूर्वोक्त

पथसे दार्शनिक सत्यका अनुसन्धान करनेमें केवल परस्परका तर्क-वितर्क होगा—उससे वास्तव सत्यके अनुसन्धानका पथ सुगम नहीं होगा। यदि सभी सेवोन्मुख इन्द्रियों द्वारा वास्तव वस्तुका अनुशीलन किया जाये—२४ घण्टेमेंसे २४ घण्टे अनुशीलन किया जाये, तभी दार्शनिक सत्य हमारे समक्ष प्रकाशित होगा।

सेवोन्मुखता ही मङ्गल-प्राप्तिकी एकमात्र योग्यता

"मेरा अधिकार नहीं हुआ, संस्कृत भाषाको मैं अति उन्नत रूपमें नहीं जनता हूँ, मुझमें कर्म-ज्ञान-योग-तपस्या आदि कुछ भी नहीं है"—इत्यादि विचार करके हताश होनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। जड़की किसी भी प्रकारकी अभिज्ञता (समझदारी) चेतनका दर्शन नहीं कर सकती। चेतनकी वृत्ति द्वारा—चेतनके चक्षु द्वारा ही चेतनका दर्शन होता है। इसलिए गौड़ीय-दर्शन कहता है—'स्थाने स्थिताः' अर्थात् जो मनुष्य जहाँ भी रहता है, वह वहीं रहें, कोई बात नहीं, किन्तु मनुष्योंके चेतन धर्ममें जो अद्वयज्ञानकी कथा है, उसका यदि चेतन-कानोंके द्वारा श्रवण करे—यदि तर्कपन्थाका अवलम्बन न करे—'तद्विद्धि प्रणिपातेन' श्लोकपर विचार करे—यदि श्रवणोन्मुख कानोंको प्रदान करे—यदि श्रवणके लिए प्रस्तुत हो, तभी उसका वास्तविक मङ्गल होगा। 'हमारा academical career अधिक रहना आवश्यक है' आदि विचार आरोहवादियोंके हैं।

अप्राकृत क्रमविकासका सिद्धान्त

पाश्चात्य-देशोंमें जड़देहके क्रमविकासवादने जड़विज्ञानको अत्यधिक उन्नत किया है। किन्तु भारतके अप्राकृत क्रमविकासवादने आत्माकी सेवा-वृत्तिके क्रमविकासके साथ सेव्य-परमात्माकी सेवाके योग्य उनके नित्य नाम-रूप-गुण-लीलाओंके अप्राकृत विज्ञानका आविष्कार किया है। आत्माकी सेवावृत्तिकी संकुचित-अवस्था, खर्व (अर्थात् विकलाङ्ग) अवस्था, मुकुलित-अवस्था, विकसित-अवस्था

और पूर्ण-प्रस्फुटित-अवस्थाके साथ परमात्माके उन सभी नित्य नाम-रूपादिका भी प्राकट्य होता है। विष्णुके अवतारोंके वर्णनमें मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, बलराम, बुद्ध और कल्कि मानव-हृदयके क्रमविकासको प्रदर्शित करते हैं। श्रीवामनदेव छोटे (बौंने) मनुष्यके आकारके हैं—पूर्ण पुरुषके आकारके नहीं। श्रीवामनदेवके पूर्व आधे नर और आधे पशुराज सिंहके मिलित विग्रह अर्थात् श्रीनृसिंहदेव हैं। छोटे मनुष्यकी अवस्थाके बाद असभ्य मनुष्यकी अवस्था, उसके बाद सभ्य मनुष्यकी अवस्था या नीतिवान मनुष्यकी अवस्था है, उसके बाद पुरुषकी निरङ्कुश स्वेच्छामयता या पूर्ण ज्ञानावस्था है। बुद्धमें अतिज्ञानावस्था और कल्किमें प्रलयावस्था है।

प्राकृत नायकपूजा निर्विशेषवादके आधारपर उत्पन्न

सनातन दार्शनिकोंके अवतार-विज्ञानका अनुकरण हम आध्यक्षिक-गणों (अर्थात् अपनी इन्द्रिय गोचर ज्ञानसे समझनेकी चेष्टा करनेवालों) की नायकपूजामें लक्ष्य करते हैं। यह नायकपूजा निर्विशेषवादसे उत्पन्न हुई है, यह एक प्रकारका नास्तिक्यवाद है। २४ भगवत्-अवतारोंके अनुकरणमें २४ 'जिन' या 'तीर्थाङ्करों' की उपासना आदि इस नायकपूजाके अन्तर्गत है। वर्द्धमानके ज्ञातिपुत्र, सिद्धार्थ आदि नायकोंकी उपासना अथवा जैनोंका निर्ग्रन्थ-विचार, श्रमणों (बुद्ध या जैन संन्यासियों) का वैराग्य विचार आदि—'अचिन्मात्रवाद' या 'शून्यवाद' के विचारोंमें प्रतिष्ठित है। मायावादियोंके निर्विशेष विचारके आधारपर जो आचार्य-उपासना आदि देखी जाती है, वह भी नायकपूजाके अन्तर्गत विशेष नास्तिक्य-मतवाद ही है। कर्मियों द्वारा पितरों और देवताओंका अर्चन आदि, प्राकृत साहित्यकारों द्वारा साहित्यिक पूजा आदि भी नायक-पूजाके ही अन्तर्गत है। इस प्रकार कर्मवादमें कर्मफल-बाध्य नश्वर देह-मनका धर्म प्रबल होनेके कारण उसमें भगवत्-उपासना या वास्तविक आस्तिकताका लेशमात्र भी नहीं है। कर्मियों द्वारा किये गये इस

प्रकारके पितरों और देवताओंका अर्चन या नश्वर-नायककी पूजाके प्रतियोगी होनेके उद्देश्यसे उनके समान अन्य प्रकारके नायकके पूजक अर्थात् जड़देहको ही आत्माके रूपमें पूजनेवाले चार्वाकने पितर-देवताओंका अर्चन करनेवालोंको भण्ड (ढोंगी), धूर्त्त, निशचर (राक्षस) और उनकी वाक्-वैखरी (वाक्शक्ति) की 'जर्झरी', 'तुर्झरी' आदि शब्दोंसे व्याख्या की गयी है। परवर्त्ती कालमें नास्तिक्यवाद, सन्देहवाद, अज्ञेयतावादने इस प्रकारके आध्यक्षिक विचारोंके अग्निकुण्डमें और भी घीकी आहुति दी है। गौड़ीय-दर्शनमें भगवदवतारोंकी पूजा इस प्रकारकी नायक पूजाके अन्तर्गत नहीं है। गौड़ीयजन कर्मफल-बाध्य किसी नायककी उपासना नहीं करते। इसलिए गौड़ीय-दर्शनमें कर्मफल-बाध्य पितरों और देवताओंके अर्चनका कोई विधान नहीं है। चार्वाक गौड़ीय-दर्शनपर आक्रमण नहीं कर सकता। चार्वाकका दर्शन कर्मियोंकी हेयताकी सीमा तक ही पहुँच सकता है। ज्ञानियोंके दर्शनकी सीमा 'अतन्निरसन्' तक ही है, उसके बाद वह निरस्त हो जाता है। किन्तु गौड़ीयजनोंका दर्शन—अधोक्षज दर्शन है। कर्मियोंका सत्कर्म-असत्कर्मका विचार, ज्ञानियोंका 'अतन्निरसन्', यहाँ तक कि अप्राकृत राज्यके ऐश्वर्य विचार तकको भी अतिक्रम करके एकमात्र एकछत्र नायक स्वराटकी सर्वाङ्गीन सेवा ही गौड़ीय-दर्शनका उद्दिष्ट विषय है।

मध्ययुगके आचार्यगण

मध्ययुगमें भगवत्-विश्वासकी आलोचना करनेपर हम कर्म, ज्ञान और बहिर्मुख युक्तियोंकी अकर्मण्यताके विचारसे सायनकी लेखनी (अर्थात् सर्वदर्शन संग्रह) में श्रीरामानुजाचार्यके विशिष्टाद्वैतवाद, श्रीमध्व नामक आनन्दतीर्थके वेदान्तका द्वैतपरक विचार और उनके अनुगत श्रीजयतीर्थके न्यायसुधा, श्रीव्यासतीर्थके न्यायामृत आदिको लक्ष्य करते हैं। श्रीजयतीर्थने न्यायसुधामें और श्रीव्यासतीर्थने न्यायामृतमें निर्विशेषवादको खण्डित-विखण्डित किया है। श्रील

लक्ष्मण देशिक (श्रीरामानुजाचार्य) के विशिष्टाद्वैतवादने मायावादियोंकी जिह्वाको पक्षाघात (लकवे) से ग्रस्त कर दिया, इसीलिए प्रच्छन्न-बौद्ध मायावादियोंने श्रीरामानुजाचार्यको प्रच्छन्न तार्किक कहकर स्वयंको छिपानेकी चेष्टा की है। जिन समस्त आचार्योंने विष्णुभक्तिका आश्रय ग्रहणकर जगत्‌में मायावादका खण्डन किया है, उनमें श्रीरामानुज और श्रीमध्व ही विशेष रूपसे प्रसिद्ध हैं। श्रीनिम्बार्कके नामसे लिखित उनके वर्त्तमान भाष्यमें निर्विशेष मतवादका वैसा स्पष्ट खण्डन नहीं है। श्रीविष्णुस्वामीके सर्वज्ञसूक्तके प्राचीन शुद्ध-अद्वैत-विचारोंको आधुनिक केवलाद्वैतवादियों द्वारा चातुर्यपूर्ण कौशलसे 'सर्वज्ञात्म मुनि' के नामपर आरोपितकर उसे निर्विशेष मतवादमें बदलनेकी चेष्टा हुई है। बोधायन ऋषिके विचारोंका आश्रय लेकर श्रीयामुनाचार्य, श्रीरामानुजाचार्य आदिने, औडुलोमी आदिके विचारोंका आश्रय लेकर श्रीनिम्बार्कने, श्रीव्यासदेवके विचारोंका आश्रय लेकर श्रीमध्वाचार्यने और श्रीरुद्रके विचारोंका आश्रय लेकर श्रीविष्णुस्वामीने जगत्‌में विष्णुभक्तिकी कथाओंका प्रचार किया है। शुद्धाद्वैतवादी प्राचीन श्रीविष्णुस्वामीकी विचार प्रणाली आधुनिक केवलाद्वैत निर्विशेष-मायावादियोंके विचारके माध्यमसे, सायन-माधव द्वारा लिखित रसेश्वर दर्शनमें कुछ-कुछ लिखित है, किन्तु श्रीधरस्वामिपादके दार्शनिक साहित्यमें आदि श्रीविष्णुस्वामीके विचारोंकी विवृति देखी जाती है। श्रीनृपञ्चास्य अर्थात् श्रीनृसिंहदेव श्रीविष्णुस्वामीपादके आराध्य हैं। प्राचीन श्रीविष्णुस्वामीके मतसे आधुनिक श्रीवल्लभाचार्य द्वारा प्रस्तावित श्रीविष्णुस्वामीके मतने कुछ पार्थक्य प्राप्त किया है। आधुनिक श्रीपुरुषोत्तम महाराज, श्रीव्रजनाथ आदि पण्डितोंने वेदान्त-दर्शनके भाष्य, 'प्रमेयरत्नार्णव' आदि ग्रन्थोंमें जो समस्त विचार प्रदर्शित किये हैं, अथवा श्रीवल्लभाचार्यपादने स्वयं प्राचीन श्रीविष्णुस्वामीके अधःस्तन पूर्व-श्रीधरस्वामिपादकी विचार प्रणालीसे पृथक् होकर मायावादका खण्डन करनेके उद्देश्यसे जो अनुभाष्य आदि लिखे हैं, उनमें सर्वज्ञमुनि (श्रीविष्णुस्वामिपाद) का प्राचीन शुद्धाद्वैत मत

सम्पूर्ण रूपसे नहीं पाया जाता। केवलाद्वैत विचारकी कल्पनाके प्रारम्भिक कालमें श्रीलक्ष्मीधर और श्रीधरस्वामिपाद नामक दो गुरुभ्राताओंने श्रीनृसिंहदेवके उपासक प्राचीन विष्णुस्वामी-सम्प्रदायके अधःस्तनके रूपमें श्रीनामकी महिमाका विस्तार किया है। श्रीलक्ष्मीधरकी 'नामकौमुदी' में और श्रीरूप गोस्वामिपादकी पद्यावलीमें उद्धृत श्रीधरस्वामिपाद और श्रीलक्ष्मीधर स्वामिपाद द्वारा रचित श्लोकावलीमें उक्त विष्णुस्वामी-सम्प्रदायके अधःस्तन इन दोनों गुरुभ्राताओंकी श्रीनाममें निष्ठा प्रकटित हुई है। श्रीमद्भागवतके प्रथम श्लोकमें श्रीधरस्वामिपादने अपने स्व-सम्प्रदाय अर्थात् श्रीविष्णुस्वामि-सम्प्रदायके मतको अत्यन्त अल्प और सार वाक्योंमें कहा है। 'संक्षेप शारीरक' के विचार शुद्धाद्वैतवादसे पृथक् होकर श्रीशङ्कर द्वारा प्रवर्त्तित नये केवलाद्वैतवादके रूपमें विकृत हुए हैं।

ब्रह्मसूत्रकी व्याख्याओंमें भेद; अकृत्रिम भाष्य श्रीमद्भागवत

श्रीव्यासदेवके द्वारा रचित सूत्रोंके आधारपर परस्पर व्याख्याकारोंके मत भेदोंने इतना पार्थक्य स्थापित किया है कि वास्तविक विचार क्या है, यह साधारण लोग किसी भी उपायसे नहीं जान सकते। इसलिए महाभारतमें कहा गया है—

"तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना नासावृषिर्यस्य मतं न भिन्नम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पन्थाः॥"

(महाभारत, वन पर्व ३१३/११७)

अर्थात् "तर्क सहज रूपमें ही अप्रतिष्ठित होता है, श्रुतियाँ भी भिन्न-भिन्न हैं, जिसका मत भिन्न नहीं है, वह 'ऋषि' ही नहीं बन सकता। इन सब कारणोंसे धर्मका तत्त्व गूढ़ रूपसे आच्छादित है अर्थात् शास्त्र आदि पढ़कर धर्मतत्त्वको प्राप्त करना बहुत कठिन है। अतएव साधुजनोंने जिन्हें 'महाजन' कहकर निर्धारित किया है, उन्होंने जिस पन्थाको 'शास्त्रीय-पन्था' कहा है, अन्य सभी व्यक्तियोंको उसी पथपर ही चलना चाहिये।"

इसलिए सूत्रकर्त्ता श्रीव्यासदेवने स्वयं सूत्रोंके भाष्यकी रचना की है। उस अकृत्रिम भाष्यस्वरूप श्रीमद्भागवतमें समस्त मतोंका वास्तविक समन्वय हुआ है। अनेक स्वकपोल-कल्पित नवीन भाष्य अथवा विभिन्न मतवादोंसे युक्त भाष्य अकृत्रिम वेदान्त-भाष्यरूप सूर्य श्रीमद्भागवतके प्रकटित होनेसे निस्तेज हुए हैं।

समस्त महाजनोंके शिरोमणि श्रीगौरसुन्दर

उसी श्रीमद्भागवतके मूर्त्त-लीलामय विग्रह तथा भूत, भविष्य और वर्त्तमान कालके समस्त महाजनोंके शिरोमणि रूपमें श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुने जगत्को जो गौड़ीय-दर्शन प्रदान किया है, उससे ही वास्तविक अप्राकृत-सविशेष-वेदान्त और श्रुतियोंका अर्थ हृदयङ्गम होता है।

तर्कपथ विपदाओंसे परिपूर्ण

तर्कपथ भयङ्कर विपदाओंसे परिपूर्ण है। तर्कपथमें अनेक-अनेक जन्म व्यतीत हो जायेंगे—अभिज्ञतावादके पथपर उत्तरोत्तर विपत्तियाँ ही आयेंगी। अभिज्ञतावादी होकर ज्ञान-संग्रहकी चेष्टा सत्यके अनुसन्धानमें बाधा देती है।

हरिकथा श्रवण करनेवालेका किसी भी कालमें विनाश नहीं

हरिकथा श्रवण करते-करते यदि कोई व्यक्ति अपक्व दशामें पतित हो जाये अथवा मृत्युको प्राप्त हो जाये, तो भी उसका अमङ्गल नहीं होता। किन्तु हरिकथाका परित्यागकर यम-नियम आदि चेष्टाओंसे धर्ममेघ (वृत्तियोंसे मुक्त चित्तकी अवस्था) के सञ्चारसे समाधि आदि दशा प्राप्त करनेपर भी व्यक्तिका वास्तविक मङ्गल नहीं हो सकता—

"त्यक्त्वा स्वधर्मं चरणाम्बुजं हरेर्भजन्नपक्वोऽथ पतेत्ततो यदि।
यत्र क्व वाभद्रमभूदमुष्य किं को वार्थ आप्तोऽभजतां स्वधर्मतः॥"

(श्रीमद्भा॰ १/५/१७)

प्रापञ्चिक नित्य-नैमित्तिक कर्म अथवा वर्णाश्रमधर्मके पालनका परित्यागकर आत्मवृत्ति रूप भक्तिमें प्रविष्ट होकर भी यदि कोई व्यक्ति प्रपञ्चमें रहते समय दुर्भाग्य-क्रमसे भजनके परिपक्व होनेके पहले ही भजनसे किसी प्रकारसे भ्रष्ट अथवा उसकी मृत्य हो जाये, तो भी आंशिक स्वरूपके उद्‌बोधनके लिए अग्निकी चिंगारीके समान सेवा-वाञ्छा रहनेके कारण उसका कोई अमङ्गल नहीं होता, किन्तु जिन्होंने हरिकथा श्रवण नहीं की अथवा जो भजनहीन हैं—ऐसे व्यक्तियोंका भक्तिशून्य, अनित्य अज्ञानसे मिश्रित और निरन्तर आनन्दके रूपमें बोध होनेवाले स्वधर्मके पालन द्वारा कोई भी नित्य प्रयोजन सिद्ध नहीं होता।

एकादश-स्कन्धमें भगवान् श्रीकृष्णने श्रीउद्धवसे कहा है—"हे उद्धव! तुम एकमात्र केवलाभक्तिका आश्रय करो। कर्म-ज्ञान एवं योगादिके आश्रयसे कभी भी मङ्गलकी प्राप्ति नहीं होगी। जो व्यक्ति मेरी कथाओंको श्रवण करता है, उसका कभी भी अमङ्गल नहीं होता।"—

"बाध्यमानोऽपि मद्भक्तो विषयैरजितेन्द्रियः।
प्रायः प्रगल्भया भक्त्या विषयैर्नाभिभूयते॥"
(श्रीमद्भा॰ ११/१४/१८)

यद्यपि साधारण व्यक्तियोंके दृष्टिकोणसे कभी-कभी मेरे भक्तको अजितेन्द्रिय होकर विषयोंके प्रति आकृष्ट होते हुए देखा जाता है, तथापि परम समर्था भक्तिके प्रभावसे वह कभी भी विषयोंके द्वारा विमोहित नहीं होता।

भगवद्भक्तोंका सङ्ग गृहव्रतरूपीधर्मका विनाशक

भगवद्भक्तोंका सङ्ग प्राप्त होनेपर देही जीव देहमें संक्रमित समस्त विषयोंको भूल जाता है। यथा—

"ते न स्मरन्त्यतितरां प्रियमीश मर्त्यम्
ये चान्वदः सुतसुहृद्गृहवित्तदाराः।

ये त्वब्जनाभ भवदीयपदारविन्द-
सौगन्धलब्धहृदयेषु कृतप्रसङ्गाः॥"

(श्रीमद्भा० ४/९/१२)

"हे श्रीपद्मनाभ, आपके श्रीचरणकमलोंके सौरभके प्रति लुब्ध-हृदयवाले जो समस्त भक्त इस जगत्में विराजमान हैं, उनके सङ्गमें आपकी कथाओंको श्रवण करनेवाले व्यक्ति अत्यन्त प्रिय अपने मानव-शरीर तथा मानव-शरीरके अनुगामी गृह, धन, सृहृत्, पुत्र, पत्नी आदि सभी कुछ भूल जाते हैं।"

भगवद्भक्तोंके सङ्गके साथ कर्म-ज्ञान-योगादिकी तुलना नहीं हो सकती

"न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्म एव च।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्त्तं न दक्षिणा॥
व्रतानि यज्ञश्छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः।
यथाऽवरुद्धे सत्सङ्गः सर्वसङ्गापहो हि माम्॥"

(श्रीमद्भा० ११/१२/१-२)

"बाहर और भीतरकी असीम आसक्तिका खण्डन करनेवाला साधुसङ्ग मुझे जिस प्रकार वशीभूत करता है, योग, सांख्य, धर्म, वेदाध्ययन, तपस्या, इष्टापूर्त्ति, दान, व्रत, यज्ञ, वेदमन्त्रपाठ, तीर्थभ्रमण, नियम, यम—ये सब मुझे उस प्रकार वशीभूत नहीं कर पाते।"

आरोहवादियोंकी चेष्टा और साधन प्रणालीकी अकर्मण्यता

हम स्वाध्यायमें रत होकर—गुरुकुलमें वासकर—दूसरे पक्षोंका खण्डन करनेमें प्रवृत्त होकर—योगादि साधनमें रत होकर, क्या प्राप्त कर सकते हैं? यदि योगादि साधनके सिद्ध होनेके पहले ही काम-क्रोधरूपी शत्रु आकर हमपर आक्रमण कर दें, तो हमें किस प्रकार अपने अभीष्टकी प्राप्ति होगी? जङ्गलमें जाकर डाली तोड़ते-तोड़ते, लकड़ी काटते-काटते यदि बाघ आकर

हमपर आक्रमण कर दें, तब हम और लकड़ी नहीं काट पायेंगे, बाघको मार भी नहीं पायेंगे, अपितु बाघके हाथों मारे जायेंगे। डॉक्टरको बुलाते-बुलाते यदि मृत्यु हो जाये, तो डॉक्टर आकर और क्या करेगा? रेचक-पूरक-कुम्भक आदि द्वारा धर्ममेघ (चित्तवृत्तियोंका रोधरूप) समाधिका सञ्चार होनेके पहले ही यदि काम-क्रोध आदि व्याघ्र आकर उपस्थित हो जायें, तो फिर ऐसी योग-समाधि हमारा क्या मङ्गल करेगी? जगत्में योग-व्रत-तपस्या आदि जितने भी मत हैं, उनमेंसे कोई भी साध्य या उपेय नहीं है—यह बात इन सब पथोंपर चलनेवाले पथिकगण भी स्वीकार करते हैं, किन्तु आत्मवृत्तिरूप भक्ति उपाय और उपेय, साधन और साध्य—दोनों ही है, अतः भक्तिपथपर जितना अग्रसर हुआ जाये, उतना ही मङ्गल है। पूर्ण अग्रसर होनेपर पूर्ण मङ्गलकी प्राप्ति होती है। किन्तु भक्ति-रहित योगादि पथ ऐसे नहीं है, उनसे पतित होनेपर फिरसे केंचे (एक प्रकारका कबूतर) को हाथमें करना होगा [अर्थात् उड़ गये पक्षीको फिर पकड़ना होगा]। यह सब experimental आरोहवाद हैं। एक experiment के विफल होनेपर, पुनः एक नया experiment करना होगा। इस प्रकार experiment करते-करते जीवन समाप्त हो सकता है—डाली काटते-काटते बाघके हाथोंसे मृत्यु हो सकती है, तब फिर लाठीको तैयार करनेरूपी अभिधेयके बलसे बाघको मारकर शान्ति प्राप्त करनेका प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा। श्रीगौरसुन्दर या गौड़ीय-दर्शन इस प्रकारके आरोहवादियोंके अभिज्ञतावादसे उत्पन्न साधन-प्रणालीके विचारोंको स्वीकार नहीं करते।

गौड़ीय-वैष्णवधर्मकी सम्पूर्ण निर्मलता

यद्यपि श्रीरामानुजाचार्यके पूर्वगुरु श्रीगोष्ठीपूर्ण आदिमें किञ्चित् योगादि-मिश्रित भक्ति दिखायी देती है, किन्तु गौड़ीय-वैष्णव-दर्शनमें वैसी योग पद्धति तकका भी परित्याग हुआ है। गौड़ीय-दर्शनने अन्याभिलाष, ज्ञान, कर्म, अष्टाङ्गयोग, व्रत, तपस्या आदि सब

प्रकारके आवरणोंका परित्यागकर आनुकूल्य रूपमें कृष्णानुशीलन अर्थात् सब प्रकारके आवरणोंको हटाकर कृष्ण-दर्शनके विषयको ही प्रतिपादित किया है। गौड़ीय-दर्शनमें साक्षात् भगवान्के नाम-रूप-गुण-लीलाकी बात शब्दके आकारमें स्फुटित होकर 'दर्शन' शब्दकी चरम सार्थकताको प्रकाशित करती है। जिस प्रकार पुरुषोत्तम भगवान्की लीला-कथाको नश्वर कर्मराज्यके अन्तर्गत मानना उचित नहीं है, उसी प्रकार उसमें आध्यात्मिक विचारको लाना भी विशेष बुद्धिमत्ताका परिचय नहीं है।

महान्त-जगद्गुरु और एक-जगद्गुरुवाद

गौड़ीय-दर्शनमें महान्तगुरुके अद्वयत्व-विचारमें और महात्मा यीशु (Jesus Christ) के अनुगत सम्प्रदायके एक-जगद्गुरुवादमें अन्तर है। एक-जगद्गुरु-मतवादीगण महात्मा यीशुके अतिरिक्त किसी अन्यको गुरु नहीं करेंगे। उनके परवर्त्तीकालमें यदि किसी महान्तने उदित होकर अपने पूर्व जगद्गुरुकी वाणीको हमारे कान तक पहुँचा भी दिया, तो भी मैं उन्हें जगद्गुरु या भगवत्प्रकाशविग्रहके रूपमें वरण करनेके लिए प्रस्तुत नहीं होऊँगा। एक-जगद्गुरु-मतवादियोंके विचारोंको ग्रहणकर वर्त्तमानमें किसी महान्तगुरुको साक्षात रूपमें न पानेके कारण श्रौत-प्रणालीकी अटूट धाराकी प्राप्तिमें बाधा उपस्थित होती है। केवल यीशुको जगद्गुरु मानकर १९०० वर्षके बाद यदि यीशुके आदर्श-उपदेशोंको केवल ग्रन्थोंमें ही अनुसन्धान करनेकी चेष्टा हो, किसी श्रौत-गुरुपरम्परामें आनेवाले साक्षात् जीवन्त महान्तगुरुकी चेतनमयी वाणीसे कान परितृप्त नहीं हो तथा उस आदर्शसे चेतनकी अस्मिता (अहंमता) अनुप्राणित (प्राणवान) नहीं हो, तो नाना प्रकारके मनोधर्म आकर हमें वास्तविक सत्य, यहाँ तक कि महात्मा यीशुके द्वारा प्रचारित वास्तविक मतसे भी दूर फैंक सकते हैं। इसलिए गौड़ीय-दर्शनमें श्रीगुरुदेवका अद्वयत्व स्वीकृत होनेपर भी श्रौत-परम्परामें भगवान् द्वारा प्रेरित उनके निजजन हमारे निकट तक आकर हमारे

कानोंमें परम चेतनमय मन्त्र प्रदानकर हमारा मनोधर्मसे उद्धार करते हैं। जिन महान्तगुरुके चरणकमल कृपापूर्वक मेरे समीप तक आये हैं, मैं उन चरणकमलोंको उन महान्तगुरुकी कृपासे ही स्पर्श कर सकता हूँ। महान्तगुरुके वे चरणकमल विभिन्न कालोंमें श्रौत-परम्परामें उदित जगद्गुरुओंके साथ तथा जगद्गुरुओंके भी गुरु—श्रीकृष्णके चरणकमलोंसे अभिन्न अद्वयतत्त्व हैं। एक-जगद्गुरु-मतवादमें मैं वास्तविक मतसे भ्रष्ट हो सकता हूँ, किन्तु महान्तगुरुके अद्वयत्वके विचारसे मेरे समीप कृपापूर्वक जो गुरुपादपद्म उदित होते हैं, वे मुझे भगवान् द्वारा प्रणीत बनाये गये श्रौतमार्गीय वास्तविक सत्यधर्मसे केशके अग्रभागके समान भी अर्थात् तनिक मात्र भी विपथगामी नहीं कर सकते। भगवान् द्वारा प्रणीत भक्तिसिद्धान्त यथायथ अर्थात् अपने वास्तविक स्वरूपमें गुरु-परम्परारूपी धाराके माध्यमसे श्रीकृष्णके चरणकमलोंसे आरम्भकर सेवोन्मुख चेतनता तक आ पहुँचते हैं।

गौड़ीय-दर्शनमें गुरुतत्त्व

गौड़ीय-दर्शनमें गुरुतत्त्वका जैसा विचार है, वैसा विचार और कहीं नहीं है। भगवान्से अभिन्न होनेके विचारसे श्रीगुरुदेव उपास्यकी पराकाष्ठा हैं। गौड़ीय-वैष्णवाचार्य श्रीविश्वाथ चक्रवर्ती ठाकुरने कहा है—"साक्षाद्धरित्वेन समस्तशास्त्रैरुक्तस्तथा भाव्यत एव सद्भिः। किन्तु प्रभोर्यः प्रिय एव तस्य वन्दे गुरोः श्रीचरणारविन्दम्॥ अर्थात् समस्त शास्त्रोंने जिनका श्रीहरिसे अभिन्न विग्रह रूपमें कीर्त्तन किया है तथा साधुगण भी जिनका उसी रूपमें ही भावना करते हैं, ऐसा होनेपर भी जो भगवान्के एकान्त प्रेष्ठजन हैं, मैं (भगवान्के अचिन्त्यभेदाभेद-प्रकाश विग्रह) उन श्रीगुरुदेवके चरण-कमलोंकी वन्दना करता हूँ।" गौड़ीय-दर्शनके विचारसे श्रीगुरुदेव—आश्रयजातीय विष्णु-विग्रह-लीलाको प्रकट करनेवाले—विष्णु-वैष्णव—अचिन्त्यभेदाभेद-प्रकाश-तत्त्व हैं। श्रीगुरुदेव—आश्रयजातीय तत्त्व हैं और श्रीकृष्ण—विषयजातीय तत्त्व हैं। श्रीगुरुदेव—सेवक

भगवान् हैं और श्रीकृष्ण—स्वयं-भगवान् हैं। श्रीगुरुदेव—स्वयं प्रकाशके प्राकट्य हैं और श्रीकृष्ण—स्वयंरूप हैं। श्रीगुरुदेव—मुकुन्दप्रेष्ठ हैं तथा रागमार्गमें स्वरूपसिद्ध शिष्यके दर्शनुसार कृष्णशक्ति श्रीवार्षभानवी—श्रीराधाजीके अभिन्न प्रकाश हैं।

श्रौतपन्थीगण गुरुके नित्यत्वको स्वीकार करनेवाले तथा श्रौतब्रुव मायावादी गुरुद्रोही

जो श्रौत-प्रणाली या वेद-पन्थाको स्वीकार करते हैं, वे ही श्रीगुरुदेवके नित्यत्वको स्वीकार करते हैं। सभी वेदान्तिकगणोंने आचार्यके नित्यत्वको स्वीकार किया है। वेदान्तिकब्रुव, केवल मुखसे वेदोंको माननेवाला मायावादी-सम्प्रदाय इत्यादि मुखसे आचार्य या गुरुको स्वीकार करनेपर भी अपनी जागतिक बहादुरीके लिए आचार्यके नित्य अस्तित्वको स्वीकार नहीं करते, अतः इनके द्वारा किया गया सबकुछ ही कपटता है। इनका वेदोंको मानना भी कपटता है, वेदान्त पढ़ना भी कपटता है, गुरुको मानना भी कपटता है, साधन भी कपटता है, सिद्धि भी कपटता है। आचार्यके पारमार्थिक नित्यत्व और वेदोंके पारमार्थिक नित्यत्वको स्वीकार न करनेके कारण ये वेदविरोधी प्रच्छन्न-बौद्ध हैं। चार्वाक, बौद्ध, अर्हत् और निर्विशेष मतावलम्बी दार्शनिकब्रुवगण—इनमेंसे कोई भी गुरुके नित्यत्वको स्वीकार नहीं करते।

विभिन्न मतवाद और अचिन्त्यभेदाभेद-सिद्धान्त

श्रीगौरसुन्दर जब दक्षिण भारतमें परिभ्रमण कर रहे थे, तब बौद्ध, शैव, मायावादी आदि भक्ति-विरोधी सम्प्रदायोंके मतने दक्षिण देशको प्लावित कर रखा था। सायनमाधवने चार प्रकारके शिव उपासकोंके सम्बन्धमें लिखा है—नकुलीश-पाशुपत, पत्यभिज्ञा, महेश्वर, रसेश्वर। ये सभी मत निर्विशेषवादके आधारपर सृष्ट है। Dr. Mcnikel बम्बई अञ्चलकी शिवभक्तिका उस प्रकार आदर नहीं कर पाये, अपितु उन्होंने विष्णुभक्तिको ही श्रेष्ठ बतलाया है।

निर्विशेषवाद ही जिनका लक्ष्य है, जो भजनीय वस्तुके अप्राकृत आकारको स्वीकार नहीं करते, मुक्तिके समय नित्य नाम-रूप-गुण-परिकर वैशिष्ट्य-लीलाके अप्राकृतत्वका विचार नहीं करते, वे समस्त दार्शनिकब्रुव-सम्प्रदाय वेदान्तकी विचार प्रणालीसे पृथक् होकर विविधप्रकारके मनोधर्म-परक मतवादोंको वैदान्तिक मतवादके रूपमें ग्रहणकर भ्रान्त होते हैं। किन्तु अचिन्त्यभेदाभेद-विचारके प्रचारकगण ऐसे विचारोंका आदर नहीं करते। अन्यान्य सभी दार्शनिकगण न्यूनाधिक रूपमें प्रच्छन्न या स्पष्ट इन्द्रिय-तर्पणकारी हैं। कामदेवके काम, नाम और धामकी परिपूर्ण सेवा या पूर्ण श्रद्धा—जिसका वेदान्त-भाष्य-स्वरूप श्रीमद्भागवतने कीर्त्तन किया है, वह एकमात्र गौड़ीय-दर्शनके विचारमें ही परिपूर्णतम रूपमें दृष्ट होती है। दक्षिण देशमें लिङ्गायत्-सम्प्रदायकी कथा भी एक समयमें बहुत प्रचलित थी। श्रीकरमिश्र आदि श्रीविष्णुस्वामीके ही अनुगत हैं—प्रेमाकर आदि श्रीरुद्र-सम्प्रदायके अन्तर्गत होनेपर भी वे विष्णुभक्तिके ही प्रचारक हैं। लिङ्गायत्-सम्प्रदाय तथा श्रीविष्णुस्वामी और श्रीरुद्र-सम्प्रदायमें एकबार भयङ्कर विवाद और असहमति उपस्थित हुई थी। जहाँ भक्तिका नित्यत्व स्वीकृत नहीं हुआ—जहाँ स्फोट अनित्य आकारमें स्फुटित हो रहा है, श्रीचैतन्यदेव उसका आदर करनेके लिए प्रस्तुत नहीं हुए।

शैवमतवादका विचार

शैव-अद्वैतवाद, शैव-द्वैतवाद तथा परिमलके लेखकका शैव-विशिष्टाद्वैत-परक भाष्य—ये सभी विचार सुदार्शनिक विचारोंसे विक्षिप्त हुए हैं। श्रीगौरसुन्दरने कहा है—"ब्रह्म शब्दे मुख्य अर्थे कहे भगवान् अर्थात् ब्रह्म शब्दका मुख्य अर्थ भगवान् है।" कुदार्शनिकगणोंमें भगवान्‌का निर्विशेष विचार विविध प्रकारसे पल्लवित हुआ है। इस श्रेणीके लोगोंका साकार-निराकारका खण्डित विचार—सभी कुछ मनोधर्मके अन्तर्गत हैं। नकुलीश-पाशुपत शैवगण महादेवको परमेश्वर और जीवोंको पशु कहते हैं।

नकुलीश-पाशुपात मतवादने मध्व-सिद्धान्तसे प्रतियोगिताकर निर्विशेष मतको ही स्थापित करनेकी चेष्टा की है। मनोधर्मी नकुलीश-पाशुपतने कहा है—"श्रीमध्वाचार्य द्वारा कथित भगवद्दास्यकी प्राप्तिको मुक्ति कहना केवल उक्तिमात्र है, क्योंकि यदि मुक्त व्यक्ति दासत्वरूपी अधीनताकी बेड़ीमें ही बद्ध हुआ, तब उसे मुक्त किस प्रकार कहा जा सकता है?" मुक्तोंके भगवद्दास्यको समझ न पानेके कारण नकुलीश-पाशुपतने कहा है—अमूल्य मणिमाणिक्य-रत्नादि द्वारा विनिर्मित शृङ्खलासे बद्ध व्यक्तिको भी लोग बद्ध ही कहा करते हैं। अन्धेको कमलदल-लोचन कहनेकी भाँति भगवद्दास्यत्वमें बद्ध व्यक्तिको मुक्त कहना नितान्त युक्ति-विरुद्ध और हास्यास्पद है, किन्तु गौड़ीय-दर्शन इस मनोधर्मके ज्ञानकी फल्गुता (असत्यता) का प्रदर्शन करते हुए कहता है—"मुक्तिर्हित्वान्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः। अर्थात् जब अनर्थयुक्त जीव अपने कृष्णदास्यरूपी नित्यस्वरूपको जान लेते हैं, तभी वे भगवद्दास्यरूपी नित्यधर्ममें नित्य आसक्त होकर अत्यन्त मुक्तजनोंके प्रेमधर्मको प्राप्त करते हैं।" यही चरम स्वाधीनता है। श्रीकृष्णके साथ बन्धन, जागतिक नश्वर मायिक राज्यके छोटे-छोटे तथाकथित स्वाधीनताके बन्धन अथवा निर्विशेषवादियोंकी फल्गुमुक्तिरूपी इन्द्रियतर्पणका दास्य नहीं है। स्वराट् पुरुषोत्तमका दास्य ही पूर्णतम स्वाधीनता है तथा पूर्णतम रूपसे तुच्छताका छेदन करनेवाला है। परम मुक्तगण भी इस बन्धनकी आकाङ्क्षा किया करते हैं। सामवेदीय छान्दोग्य उपनिषदमें कहा गया है—जिस प्रकार गिद्ध-पक्षी सूत्रके द्वारा विशेष रूपसे आबद्ध होकर इधर-उधर भागनेकी चेष्टा करता है, किन्तु अन्य किसी स्थानपर आश्रय न पाकर अन्तमें बन्धनको ही स्वीकार कर लेता है, उसी प्रकार मनोधर्मके द्वारा चालित व्यक्ति मनोधर्मसे मुक्ति पानेके लिए विविध प्रकारके अनुसन्धान करता है, कितनी ही चेष्टाएँ करता है—मुक्त होनेके लिए। कोई समझता है कि इस जगत्के क्षुद्र सुख प्राप्त होनेपर ही स्वाधीनता मिलेगी, कोई समझता है कि इस जगत्में कुछ समय तक स्वतन्त्र

शासन प्राप्त करनेसे ही स्वाधीनता प्राप्त होगी, कोई समझता है कि स्वर्गसुख प्राप्त होनेसे ही स्वाधीनता प्राप्त होगी और कोई समझता है कि ब्रह्मके साथ एक हो जानेसे ही स्वाधीनता प्राप्त होगी—इस प्रकार नाना प्रकार (अर्थात् बँधनें) से जड़ित होनेकी कामनासे जड़भोगमय स्वाधीनताके लिए चेष्टा करते-करते लोग जब शान्त और क्लान्त हो जाते हैं—अन्य कहीं स्वाधीनता नहीं है, आश्रय नहीं है—जब ऐसा समझ जाते हैं, तब वे समस्त प्राणोंके प्राण—समस्त स्वाधीनतम पुरुषोंके स्वाधीन स्वराट् पुरुषोत्तमके चरणकमलोंका आश्रय ग्रहण करते हैं तथा उन चरणकमलोंके नित्यबन्धनको ही—प्रेमबन्धनको ही स्वाधीनताकी चरमसीमा समझ पाते हैं। श्रीगौरसुन्दरने हमें यह बतलाया है—"तबे हय मुक्त सर्व बन्धेर विनाश। मुक्त हईलेई हय सेई गोविन्देर दास अर्थात् भगवान्के प्रति प्रेमकी अवस्थाके प्राप्त होनेपर ही कोई मुक्त होता है तथा उसके समस्त बन्धन खुल जाते है। मुक्त होनेपर ही वह श्रीगोविन्दका दास बन जाता है।"

श्रीविष्णुस्वामिपादने सर्वज्ञसूक्तमें 'मुक्तपुरुषों द्वारा ही भगवत्-सेवा' की बात कही है—"मुक्ता अपि लीलया विग्रहं कृत्वा भगवन्तं भजन्ते अर्थात् मुक्तगण भी लीलापूर्वक विग्रह ग्रहणकर भगवान्की सेवा करते हैं।" श्रीमन् महाप्रभुने 'आत्मारामश्च' श्लोककी व्याख्यामें मुक्तपुरुषों द्वारा भगवत्-सेवाकी बात कही है। मुक्त न होने तक कोई भी चित्-विलास राज्यकी कथाको नहीं समझ सकता। जो क्षुद्र-क्षुद्र भोगोंकी चेष्टा या मुक्तिकी चेष्टाको कल्पित स्वाधीनता जानकर भ्रान्त होते हैं, उनका अधिकार और आशा अत्यन्त क्षुद्र है। गौड़ीय-दर्शनमें वैसी क्षुद्र सङ्कीर्ण आशा-आकांक्षाकी कथा कहकर लोगोंको विपथगामी नहीं किया गया। कोई कहता है, पारद (पारेका)-रसका आश्रय करनेसे ही उत्तमा मुक्ति प्राप्त होगी, मूर्च्छित पारदके द्वारा व्याधि विनष्ट होती है, मृत पारदके द्वारा जीवित हुआ जा सकता है, शून्य पारदके द्वारा गति शक्ति उत्पन्न होती है। पारद संसार-समुद्रकी

यन्त्रणासे पार करता है। पारदसे निर्मित शिवलिङ्गकी पूजा काशी आदि तीर्थोंकी शिवपूजाकी अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ है। कुछ लोग मानते हैं कि छः गुणोंसे शोधित किये गये मकरध्वज आदि द्वारा देहको स्वस्थ रखनेसे मनको शान्ति प्राप्त होगी। महादेवका आश्रयकर हम इस प्रकार भुक्ति-मुक्तिकामी हो जायेंगे। ये सब क्षुद्र-क्षुद्र मत या क्षुद्र-क्षुद्र स्वाधीनताकी चेष्टाएँ जीवोंकी बद्धदशाकी चेष्टामात्र है। गौड़ीय-दर्शन इस प्रकारकी बद्धदशाकी कथा अथवा जीवको और अधिक रूपमें बद्धदशामें लानेके शिक्षा-कौशलकी बात नहीं कहता। गौड़ीय-दर्शनमें अमुक्तोंकी वास्तव मुक्तिकी कथा तथा मुक्तगणों द्वारा परममुक्तगणोंकी चित्-विलास-सेवाकी कथा अत्यन्त सुन्दर रूपसे कीर्त्तित हुई है। रसेश्वर-शैवगण मानते हैं कि यदि प्रतिमा पूजाकी व्यवस्था हो सकती है, तो पारद निर्मित शिवपूजाकी व्यवस्था क्यों नहीं होगी? उन्होंने पञ्चोपासककी अनित्य प्रतिमाकी पूजा या प्रतीककी पूजाको ही लक्ष्य किया है। गौड़ीय-दर्शनमें जिस श्रीविग्रहकी पूजाकी कथा वर्णित है, वह इन सब पौत्तलिक पूजाओंसे बहुत-बहुत दूर है। यह सब कुदार्शनिकोंके विचार हैं, भारतीय षड्दर्शनमेंसे केवला-द्वैतवादियोंके स्वकपोल-कल्पित वेदान्त-विरुद्ध भाष्य और अन्य पाँच दर्शनोंके[१] विचारोंका श्रीगौरसुन्दरने केवल कुछ शब्दोंमें ही खण्डन कर दिया है।

'ब्रह्म' शब्दका मुख्यार्थ है—विष्णु

निमित्त और उपादान कारण ब्रह्ममें अवस्थित हैं। 'ब्रह्म' शब्दसे विष्णु ही लक्षित होते हैं। जड़जगत्से ग्रहण किया गया भाव ईश्वर नहीं है। ब्रह्मकी सर्वशक्तिमत्ता या सर्वतन्त्र-स्वतन्त्रता है। भगवान् बगानके माली नहीं हैं अथवा हमारे किरायेदार नहीं हैं, इसलिए वे प्रकृतिके द्वारा बाध्य भी नहीं होते। वे हमारी मनगढ़न्त आशाओंको परिपूर्ण करनेके लिए नहीं आयेंगे।

---

[१] व्यासदेवकी उत्तरमीमांसा अथवा वेदान्तको छोड़कर।

भोगियोंकी विचार प्रणाली यह है कि विष्णु भी कर्मफल द्वारा बाधित होंगे—हमारा इन्द्रितर्पण करेंगे। यदि प्रत्येक कार्यके द्वारा ईश्वरकी सेवा न हो, किन्तु अन्य किसी उद्देश्यमें ही प्रविष्ट हो जाया जायें, तो फिर सत्यकी सेवा नहीं होगी, अपितु काम-क्रोध एवं लोभ वर्द्धित होनेके कारण एक-एक दलबाजीमें समय नष्ट होगा। मनुष्यका समय क्या इतना व्यर्थ पड़ा है? यदि इस प्रकारके कर्मोंमें आग्रह और अन्याभिलाषितामें प्रमत्त हुआ जायें—भगवान्‌की सेवाको छोड़कर यदि अन्य कार्योंमें समय नष्ट किया जायें, तब उसके सुख-दुःखरूपी फलको भोग करना होगा। मनुष्यके पास इतना समय ही कहाँ है कि वह दाँव खेलकर अर्थात् अपने जीवनको दाँवपर लगाकर व्यर्थकी बातोंमें समय नष्ट करनेके लिए अवकाश पायेगा?

भगवान् ही मूल हैं

हमें भगवान्‌को केन्द्रित करके ही सब कार्योंको करना होगा। हम भगवान्‌के इन्द्रियतर्पणके लिए समस्त चेष्टा करेंगे—आकाश और पातालको भी एक कर देंगे, प्रबल उत्साहके साथ भगवत्-सेवा सम्पादन करेंगे। भगवान्‌के और भगवान्‌के भक्तोंके अवशेष (अच्छिष्ट) के अतिरिक्त जो कुछ भी ग्रहण किया जाता है, वह स्थूल पदार्थ होनेपर विष्ठा (मल) और तरल पदार्थ होनेपर मूत्रके समान होता है। प्रसादको ग्रहण करनेके अतिरिक्त अन्य वस्तुओंको ग्रहण करना असुविधा (अमङ्गल) लाता है।

निर्विशेषवादीका विचार और गति

बहुत-से लोग भगवान्‌के हाथ-पैर-मुख आदिको विच्छेद (भङ्ग) करनेके लिए व्यस्त हैं। वे मानते हैं कि भगवान्‌में ये सब अङ्ग क्यों रहेंगे? वे सोचते हैं कि हम उन्हें ठूँटोराम (बिना हाथ-पैरके) बनाकर रख देंगे, और आँख, मुख, नाक, कान सब हमारे ही रहेंगे; हम कृष्णको ठेंगा दिखलाकर स्वयं ही सब भोग

करेंगे, और कभी श्रौतब्रुव होकर 'अपाणिपादः' श्लोकका कदर्थकर स्वयं भोगोंका भोग करेंगे। जो अद्वितीय भोक्ताके इन्द्रिय-तर्पणके महामहोत्सवका परित्यागकर स्वयं भोग करने जाते हैं, वे अपने पाशमें स्वयं ही बद्ध हो जाते हैं।

श्रीकृष्णानुशीलन ही पूर्णमङ्गलका साधक

हमारे प्रत्येक पद-विक्षेपमें, भ्रमणमें, जागरणमें, शयनमें, तीर्थ-भ्रमणमें, सत्-असत् कार्यकालमें श्रीकृष्ण यदि हमारे स्मृतिपथपर नहीं रहेंगे, तो हम निश्चय ही विपथगामी होंगे। विकृत स्वदेशगत अथवा विदेशगत वर्णाश्रमधर्म—प्रस्तावित वर्णाश्रमधर्म आदि द्वारा हमारा मङ्गल नहीं होगा। एकमात्र पारमहंस्य-धर्ममें अवस्थित अर्थात् निरन्तर समस्त इन्द्रियोंके द्वारा आनुकूल्य रूपमें श्रीकृष्ण-अनुशीलनके अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रकारसे जीवोंका पूर्ण मङ्गल नहीं है, नहीं है, नहीं है। इसलिए ही श्रीगौरसुन्दरने कहा है—"एत सब छाड़ि आर वर्णाश्रम-धर्म। अकिञ्चन हइया लय कृष्णेर शरण अर्थात् अन्यान्य समस्त पथोंका परित्याग करनेके साथ-साथ वर्णाश्रमधर्मको भी छोड़कर अकिञ्चन होकर श्रीकृष्णकी शरण ग्रहण करो।"

शरणागति और उसका प्रतिकूल निर्भेदज्ञान

श्रीकृष्णकी पूर्ण शरण ग्रहण करनेके बिना जीवोंको पूर्ण मङ्गलकी प्राप्ति नहीं होती। इन्द्रियोंसे उत्पन्न ज्ञानसे 'मैं' और 'मेरा' भाव प्रबल होनेसे मङ्गल नहीं होगा। 'हम भोक्ता हैं, जड़जगत् भोग्य है'—इस बुद्धिसे आवृत हो जानेसे हम अधःपतनमें चले जायेंगे। हम—चित् हैं और जड़जगत्—अचित् है; हम जिसे भोग कर सकते हैं, उसे 'जड़' कहते हैं। हम एक ओरका विचार करते समय 'अचित्-वस्तु हमारी भोग्य है और हम भोक्ता हैं'—इस प्रकारके अहङ्कारके वशीभूत हो जाते हैं। हमारा भोक्तृत्ववाद विस्तारित होकर अहङ्कारमें पर्यवसित होता है।

अहङ्कार प्रबल होकर—'मैं ब्रह्म हूँ', 'मैं खुदा या अल्लाह हूँ'—ऐसा विचार आता है।—'मैं बड़ा होऊँगा, मैं ही सबकुछ हूँ, मैं व्यापक हूँ'—इस प्रकारके विचारोंसे आच्छन्न होनेपर जीवोंके मङ्गलका मार्ग पूर्णतया अवरुद्ध हो जाता है। हमारे बड़ा होनेकी पिपासाके बढ़ते-बढ़ते घटाकाश-पटाकाशकी विचार-प्रणाली और बिम्ब-प्रतिबिम्बवादका विचार हमारे हृदयमें अधिकार कर लेता है, तब केवलाद्वैतवादको ग्रहण करनेका अत्यधिक आग्रह होता है।

सेवाकी कथाके आविष्कार द्वारा कर्म और ज्ञान विचारकी अकर्मण्यताका प्रतिपादन

मध्ययुगमें ज्योतिषशास्त्रका जो प्रचार था, उसमें पृथ्वीको मानमन्दिर मानकर सूर्य, नक्षत्र आदि पृथ्वीके चारों ओर परिभ्रमण कर रहे हैं—ऐसा विचार था। आपात-दर्शनमें ऐसा ही देखा जाता है। साधारण लोग कहेंगे—प्रत्येक दिन ही मैं लक्ष्य करता हूँ, प्रत्येक दिन ही मैं प्रत्यक्ष देखता हूँ कि सूर्य घूमता है और पृथ्वी स्थिर रहती है। कालके प्रभावसे पृथ्वीकी आन्विक्षीकी (तर्कसङ्गत) गति निरूपित होनेसे पृथ्वीकी गतिशीलता स्वीकृत हुई है। Heliocentric विचार उपस्थित होनेसे geocentric विचारकी अकर्मण्यता स्थापित हुई थी। प्रत्यक्ष विचारमें भोग ही सत्य प्रतीत होता है, किन्तु पूर्णभगवत्-सेवाकी कथा आविष्कृत होनेपर भोग या त्यागके विचारकी अकर्मण्यता स्थापित होती है।

'स्त्रीपुत्रादिकथा जहुर्विषयिनः शास्त्रप्रवादं
बुधा योगीन्द्रा विजहुर्मरुन्नियमजक्लेशं तपस्तापसाः।
ज्ञानाभ्यासविधिं जहुश्च यतयश्चैतन्यचन्द्रे
परामाविष्कुर्वति भक्तियोगपदवीं नैवास्य आसीद्रः॥'

(श्रीचैतन्यचन्द्रामृतम् ११३)

अर्थात् "श्रीचैतन्यचन्द्र द्वारा पराभक्तियोगकी पदवीका आविष्कार करनेपर प्राकृत-विषयरसमें मग्न व्यक्तियोंने स्त्री-पुत्रादिकी कथाका परित्याग किया था, पण्डितोंने शास्त्र-सम्बन्धीय वाद-विवादका

त्याग किया था, श्रेष्ठ योगियोंने प्राणवायुका निरोध करनेके लिए साधनके क्लेशोंका सब प्रकारसे वर्जन किया था, तपस्वियोंने अपनी तपस्याका त्याग किया था, ज्ञान-सन्यासियोंने निर्भेद-ब्रह्मके अनुसन्धानका परित्याग किया था, तब भक्तिरसके अतिरिक्त अन्य किसी प्रकारका 'रस' इस जगत्में दृष्ट नहीं हुआ था।"

श्रीविष्णु ही सभीके केन्द्रमें अवस्थित

भोगवाद या त्यागवादसे 'हामखोदाई' (मैं भगवान् हूँ) मत प्रवर्त्तित होता है। भोगवादके विपरीत त्यागवादमें बाहरी वस्तुओंको eliminate (परित्याग) करते-करते इसी प्रकारका एक विचार उपस्थित होता है। Personality of Godhead को ignore (सविशेष भगवान्के व्यक्तित्वको अस्वीकार) करनेके लिए अत्यन्त आग्रह उपस्थित होनेपर ऐसा केवलाद्वैत-विचार आता है। Heliocentric विचार मानो Personality of Godhead को स्वीकार करनेके विचार जैसा है। सूर्यके चारों ओर ग्रह-उपग्रह परिक्रमा कर रहे हैं। उन विष्णुवस्तुके चारों ओर अन्यान्य समस्त वस्तुएँ घूम रही हैं। श्रीविष्णुने ही सबको आकर्षण करके रखा हुआ है।

निर्विशेष मतवाद बहु नास्तिक्य-मतवादका जनक

केवलाद्वैतवादकी विचार-प्रणाली ही भारतमें सर्वत्र विशेष रूपसे प्रचलित है। इसी केवलाद्वैतवाद या निर्विशेष मतसे जगत्में ईश्वर-विरोधकी अनेक शाखाएँ-उपशाखाएँ विस्तारित हुई हैं। निर्विशेषवाद—शून्यवादका रूपान्तर अथवा प्रच्छन्न-बौद्धवाद है। इस प्रच्छन्न-बौद्धवादसे तान्त्रिक-मत, बाउल-मत आदि असंख्य भगवत्सेवा-विरोधी-मत जगत्में प्रकाशित हुए हैं। पञ्चोपासना भी इसी मायावादकी ही सन्तान स्वरूप है। Henotheist सम्प्रदाय विष्णुको कर्मफलके बाध्य मानकर निर्विशेषवादका आवाहन करता है। बहुदेवतावाद आदि निर्विशेषवादको अपनी प्राप्य सीमा अर्थात् अपनी साध्य वस्तु मानते हैं।

श्रीमद्भागवतमें ही पूर्ण उपासनाकी कथा प्रचारित

एकमात्र भागवतमें ही भगवदुपासनाकी कथा—स्वराट् पुरुषकी सेवाकी कथा पूर्ण रूपसे वर्णित हुई है। श्रीचैतन्यदेवने अपने निज-चरित्रमें उसी भागवत्-विज्ञानका प्रकाश किया है। श्रीचैतन्यके दास उसी वास्तव सत्यकी कथाका प्रचार करते-करते बीच-बीचमें जगत्के समक्ष विपन्न (सङ्कटग्रस्त) हो जानेका अभिनय करते हैं। सत्य एक ऐसी वस्तु है जिसमें असत्य नहीं रहता—सत्यमें कभी भी कपटता नहीं होती—'धर्म प्रोज्झितकैतवो' श्रीमद्भागवतका (१/१/२) श्लोक आलोच्य है तथा श्रीचैतन्यचरितामृत (चै॰ च॰ आ॰ १/९०, ९२, ९४) में भी कहा गया है—

अज्ञान-तमेर नाम कहिये कैतव।
धर्म-अर्थ-काम वाञ्छा आदि एइ सब॥

धर्म, अर्थ, काम और मोक्षकी वाञ्छाका नाम 'अज्ञानतम' है और अज्ञानतमको कैतव (आत्म-वञ्चना) कहा गया है।

तार मध्ये मोक्ष-वाञ्छा कैतव-प्रधान।
जाहा हैते कृष्णभक्ति हय अन्तर्द्धान॥

उन चारोंमेंसे मुक्तिकी वाञ्छा ही प्रधान कैतव है। हृदयमें इसके उपस्थित होते ही श्रीकृष्णभक्ति अन्तर्धान हो जाती है।

कृष्णभक्तिर बाधक जत शुभाशुभ कर्म।
सेइ एक जीवेर अज्ञानतमोधर्म॥

जीवोंका स्वधर्म कृष्णभक्ति और कृष्णप्रेम है। शुभकर्म (पुण्य) और अशुभकर्म (पाप) एवं मोक्षको प्राप्त करनेकी अभिलाषाने—सभी जीवोंके (विकृत) स्वधर्मके रूपमें प्रविष्ट होकर उन्हें तमोधर्ममय कर दिया है। कर्म और ज्ञान-प्रतिपादक समस्त उपदेश ही कैतव अर्थात् छल हैं, अतएव तमोधर्मके अनुगत हैं या फिर शुभकर्म और अशुभकर्म—दोनों ही श्रीकृष्णप्रेमके

उदय होनेमें बाधा उत्पन्न करते हैं। वे कर्म जीवके अज्ञानरूप अन्धकारका फल हैं।

परिणामवाद

ब्रह्मसूत्रमें श्रीव्यासदेवने शक्ति-परिणामवादका विचार ही कहा है। वस्तु-परिणामवाद श्रीव्यासदेवका अभिमत नहीं है। अतः आचार्य श्रीशङ्करने श्रीव्यासदेवको बादमें 'भ्रान्त' स्थापित करनेकी आशङ्कासे जो वाद उठाया था, उसका कोई अवकाश ही नहीं है। श्रीगौरसुन्दरने कहा है—

"व्यासेर सूत्रेते कहे 'परिणाम-वाद'।
'व्यास भ्रान्त' बलि ताँहा उठाइल विवाद॥

परिणामवादे ईश्वर हयेन विकारी।
एत कहि 'विवर्त-वाद' स्थापना जे करि॥"

(चै॰ च॰ आ॰ ७/१२१-१२२)

श्रीव्याससूत्रमें वस्तुतः (शक्ति)-परिणामवाद स्वीकृत है। परिणामवादमें ईश्वरको विकारी कहना होता है—श्रीशङ्कराचार्यने इस वितर्कको उठाकर, परिणामवाद माननेपर व्यासको 'भ्रान्त' कहकर स्वीकार करना होगा—इस युक्तिसे 'विवर्त्तवाद' की स्थापना की।

"वस्तुतः परिणाम-वाद सेइ त' प्रमाण।
'देहे आत्मबुद्धि'—हय विवर्तेर स्थान॥"

(चै॰ च॰ आ॰ ७/१२३)

वास्तवमें ब्रह्मसूत्रमें परिणामवाद ही प्रमाणित होता है। मनुष्य-देह-विशिष्ट जीव जड़देहमें जो आत्मबुद्धि करता है, वही 'विवर्त्त' का स्थल कहलाता है।

"अविचिन्त्य-शक्तियुक्त श्रीभगवान्।
इच्छाय जगद् रूपे पाय परिणाम॥

तथापि अचिन्त्यशक्त्ये हय अविकारी।
प्राकृत-चिन्तामणि ताहे दृष्टान्त धरि॥
नाना रत्न-राशि हय चिन्तामणि हैते।
तथापिउ मणि रहे स्वरूपे अविकृते॥"
(चै॰ च॰ आ॰ ७/१२४-१२६)

अचिन्त्यशक्तिसे युक्त श्रीभगवान् यद्यपि अपनी स्वतन्त्र इच्छासे ही जगत्के रूपमें परिणत होते हैं, तथापि वे अपनी अचिन्त्यशक्तिके प्रभावसे अविकारी ही रहते हैं। इसमें प्राकृत चिन्तामणि ही दृष्टान्त है। अनेक रत्न प्रसव करनेपर भी चिन्तामणि स्वरूपतः अविकृत ही रहती है।

"प्राकृत-वस्तुते यदि अचिन्त्यशक्ति हय।
ईश्वरेर अचिन्त्यशक्ति—इथे कि विस्मय?"
(चै॰ च॰ आ॰ ७/१२७)

प्राकृत चिन्तामणिमें यदि इस प्रकारकी अचिन्त्यशक्ति रह सकती है, तो फिर ईश्वरमें उसकी अपेक्षा अनन्तगुण-विशिष्ट अचिन्त्यशक्ति होगी, इसमें आश्चर्यकी क्या बात है?

श्रील जीव गोस्वामिपादने एक संक्षिप्त सुयुक्ति द्वारा परिच्छेदवाद और प्रतिबिम्बवादका खण्डन किया है। उपाधिके अविद्या द्वारा कल्पित होनेको स्वीकार न करके यदि उसकी वास्तविकताको स्वीकार किया जाये, तो अविषय ब्रह्मकी परिच्छेद-विषयता सम्भव नहीं हो सकती। जिनका कोई विशेष धर्म नहीं है, उनकी उपाधिकी सम्भावना ही कहाँ है? जब वे सर्वव्यापक हैं, तब उनका बिम्ब-प्रतिबिम्बरूप भेद कैसे हो सकता है? अवयव (अङ्ग) रहित वस्तु जब दृष्टिके विषयीभूत (गोचर) नहीं होती, तब उसका प्रतिबिम्ब ही किस प्रकार सम्भवपर हो सकता है? उपाधिसे आवृत आकाशमें चन्द्र-सूर्यादि जो समस्त ज्योतिर्गण देखे जाते हैं, उनके ही प्रतिबिम्ब सम्भव है।

एकत्वमें बहुत्वकी विचित्रता किस प्रकार सम्भव?

समीकरण-विचारमें (अर्थात् समताके विचारसे) बहुत-सी वस्तुओंको एक सूत्रमें गुम्फित करनेका अधिकार है। यह सत्य है कि 'बहुत्व' प्रेमधर्ममें बाधा देता है, किन्तु 'बहुत्व' यदि एकत्वकी स्वार्थपरताके लिए तत्पर हो, तब वही 'प्रेम' पदवाच्य है। बहुत्वका खण्डन करनेकी चेष्टा जड़जगत्की अभिज्ञताके दृष्टिकोणसे सम्मानित होनेपर भी जहाँ अद्वितीय एकका बहुत्व है, वहाँ बहुत्वका विनाश करनेकी चेष्टा—एकके साथ विरोध करना मात्र है। 'नित्यो नित्यानां'—इस श्रुतिमन्त्रमें एक अद्वयतत्त्वके बहुत्वकी बात ही सुनी जाती है।

जगत्का बहुत्व त्रितापका मूल

बहिर्जगत्के एकत्वमें विविध प्रकारके अभाव होनेके कारण बहुत्वका प्रयोजन है और वह बहुत्व त्रिविध क्लेशकी विचित्रताको लेकर ही प्रकाशित होता है। जहाँ पीड़ा और पीड़ितमें भेद है, वहीं असुविधा है; किन्तु अद्वय-ज्ञानकी सेवामें बाह्य-प्रतीतिमें जो दुःखकी अनुभूति या क्लेश आदि हैं, वह जड़ीय बहुत्वकी तुच्छताके फलस्वरूप त्रिताप नहीं है। देह-देहीके भेदके राज्यमें भाव-धर्मका अभाव आया है।

परमाणुका व्यवधान

Object के आवृत दर्शनमें परमाणु आकर बाधा देते हैं। अन्तर्यामीके दर्शनमें परमाणु आकर चेतनके पूर्ण-विचारको अवरुद्ध कर देते हैं।

बद्धजीवके अद्वयज्ञानके अभावका उदाहरण

जिस प्रकार सूर्य भिन्न-भिन्न दर्पणोंमें प्रतिफलित होकर संख्यागत बहुत सूर्योंकी धारणा कराता है, उसी प्रकार विभिन्न बद्धजीवोंमें एकमात्र भगवत्-सेवा करनेकी एक-तात्पर्यपरता नहीं है—माया ऐसे भेद या भ्रमपूर्ण धारणाको उत्पन्न करती है।

चिन्मात्रवाद और चित्-विलास-सिद्धान्तमें कहाँ तक ऐक्यता है? चिन्मात्रवादकी अनधिकार चर्चा

चिन्मात्रवादी और भगवद्भक्तमें कुछ दूर तक मत-भेद नहीं है, ऐसा देखा जाता है। ज्ञानी और भक्त—ये दोनों ही स्थूल और सूक्ष्म देहकी जड़ता और हेयताको स्वीकार करते हैं। चेतनमें अचित्‌का प्रवेश नहीं है—यह दोनों ही कहते हैं। जड़-विलासमें हेयता है—यह बात भी दोनों ही कहते हैं। किन्तु अचित्-विलासमें हेयता, अनित्यता आदिका दर्शनकर चित्-विलास भगवत्-लीलामें भी अनित्यताका ज्ञान—सिद्धान्तमें प्रवेशके अधिकारसे वर्जित अनुमानके द्वारा शब्द-प्रमाण और वास्तव-सत्यके साथ विरोधमात्र है।

चित्-विलास राज्यमें अनुमानका प्रवेश अधिकार नहीं

तृतीय-मान (third dimension) के ही समस्त प्रकोष्ठोंमें जब अनुमानका पूर्ण रूपसे प्रवेश—अधिकार नहीं है, तब चतुर्थ-मानसे अतीत चित्-विलासके राज्यके विषयमें अनुमानकी किसी भी प्रकारसे सार्थकता नहीं रह सकती है, इस विषयमें फिर कहना ही क्या!

'विलास' और 'विराग' तथा चित्-विलासका वैशिष्ट्य

इन्द्रिय-चालनका नाम—विलास है और उससे विरति अर्थात् अनासक्तिका नाम—विराग है। अचित्-राज्यमें इन्द्रियोंका चालन क्षुद्र जीवोंके त्रितापको लाता है, इसलिए उससे विरतिका ही आदर दिया जाता है। किन्तु जिस स्वराट् लीलापुरुषोत्तमकी इन्द्रियाँ जड़ीय किसी परमाणु द्वारा गठित नहीं हैं—जड़ आकाशमें जो परिचालित नहीं होती हैं—जिनकी समस्त इन्द्रियाँ पूर्ण चेतनमय हैं—जहाँपर इन्द्रियाँ और इन्द्रियाधिपति पृथक् नहीं हैं—उस चेतनराज्यमें चेतनकी इन्द्रियोंका चालन कभी भी जड़-विलासकी भाँति अनित्य आदि धर्मोंका विषय नहीं हो सकता है।

चित्-विलासमें जड़की हेयताका आरोप करना अन्याय

चित्-विलासके साथ हम अचित्की हेयता, अपकृष्टताको मिला न दें—चित्-लीला-मिथुनमें पौत्तलिकता या अपौत्तलिकता, सगुण या तथाकथित निर्गुणके विचारका आरोप न करें। जब हमारे चेतनका द्वार खुल जानेपर उन स्वराट्के स्वरूपको दर्शन करनेका सुयोग प्राप्त होता है, तभी हम इन सब विषयोंकी उपलब्धि कर सकते हैं।

जड़ या जड़-व्यतिरेक चिन्तासे अधोक्षजके राज्यमें प्रवेशाधिकार नहीं

हम जड़-नेत्रोंके द्वारा जड़-वस्तुका ही दर्शन करते हैं, जड़ीय मनके अनुमान आदिके द्वारा जड़-वस्तुके सम्बन्धमें ही विचार कर सकते हैं। जड़ या जड़-व्यतिरेक चिन्ताके द्वारा कभी भी अधोक्षज पूर्ण चेतनवस्तुका कोई ज्ञान नहीं होता। इसीलिए ही शब्दकी आवश्यकता है।

श्रौत शब्दकी आवश्यकता

अप्राकृत-शब्दको वाहन बनाकर इन्द्रियोंसे अतीत वास्तविक-ज्ञानके अवतीर्ण होनेपर भी वहाँ 'शब्दी' 'शब्द' से पृथक् नहीं है। श्रीगुरुपादपद्मके श्रीमुखसे वही शब्द हमारे कानोंमें सञ्चारित होनेपर ही अतीन्द्रिय ज्ञानके भाण्डारका द्वार खुल जाता है। इसीलिए हम इस श्रुति-मन्त्रका पाठ करते हैं—

'यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥'

(श्वेताश्वतर उपनिषद ६/२७)

जिनकी श्रीभगवान्में पराभक्ति है और श्रीभगवान्के समान ही श्रीगुरुदेवके प्रति भी शुद्धभक्ति है, उसी महात्माके हृदयमें श्रुतियोंके सभी मर्मार्थ प्रकाशित होते हैं।

'अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः॥'
(श्रील नरोत्तमदास ठाकुरकृत श्रीप्रेमभक्तिचन्द्रिकासे)

जिन्होंने अज्ञानरूपी अन्धकारसे अन्धे हुए मेरे नेत्रोंको अपनी वाणीरूपी शलाकाके द्वारा ज्ञानाञ्जन लगाकर उन्मीलित किया है, मैं उन श्रीगुरुदेवको प्रणाम करता हूँ।

गौड़ीयगण जड़ाकार या निराकारके पूजक नहीं

वह वस्तु अधोक्षज है। श्रीकृष्ण (इन्द्रिय-गोचर) विचार-परायण व्यक्तियोंके द्वारा नहीं जाने जा सकते हैं। गौड़ीयगण जड़ाकार या निराकारके उपासक नहीं हैं। वे साक्षात् भगवान्की आराधना किया करते हैं।

प्रकट और अप्रकट लीलामें श्रीगुरुपादपद्मकी पूर्णतम कृष्णसेवा

परमेश्वर चित्-अचित्के एकमात्र आश्रय हैं और तटस्थाशक्तिके एकमात्र शक्तिधर हैं। श्रीगुरुदेव इस जगत्में प्रकटलीलाका विस्तार करते समय सर्वापेक्षा अधिक रूपमें और पूर्णतम भावसे श्रीकृष्णकी सेवामें नियुक्त हैं तथा अप्रकटलीलाका विस्तारकर नित्य-कृष्णलीलामें प्रविष्ट होते हैं।

अवैध-लम्पटता और वैध-लम्पटताके निरोधके लिए यथाक्रमसे श्रीराधागोविन्द और श्रीसीताराम लीलाका अवतार

लम्पटताके विनाशके लिए तथा अप्राकृत-रस-चमत्कारिताकी पराकाष्ठाको प्रदर्शित करनेके लिए श्रीकृष्णलीला अवतीर्ण हुई है तथा वैध-स्त्रीकी आसक्तिका निवारण करनेके लिए श्रीसीतारामकी लीला जगत्में प्रकाशित हुई है।

श्रीराधागोविन्दकी सेवाकी सर्वोच्चता

श्रीराधागोविन्दकी सेवाके समान सर्वोच्च विचार और कुछ भी नहीं है। ईश्वरके सम्बन्धमें मानव जातिमें जो धारणा है या होगी, वैसी सीमित मायिक धारणा श्रीकृष्णमें आरोपित नहीं की जा सकती। यद्यपि श्रीकृष्णका कृष्णत्व अचिन्त्य-क्रिया है, तथापि वह अधोक्षज भगवान्‌के सेवकोंके द्वारा ही ज्ञात है। श्रीनारायणका ऐश्वर्यमात्र ही कृष्णत्व नहीं है।

प्राकृत नीति और दुर्नीतिका प्रवेश-अधिकार कहाँ है? नास्तिकता क्या है?

अभेदवादी कह सकते हैं कि भगवत्-वस्तु प्राकृत नीतिके साथ अभिन्न रहेगी। नीति जड़जीवोंकी दुर्बलताकी निषेधक हो सकती है। जिस स्थानपर बहु-भोक्ताका अभिमान है, जिस स्थानपर काम-क्रोध आदिकी हेयता और दुर्बलता है, उसी स्थानपर ही नीतिकी प्रयोजनीयता है। किन्तु जिस स्थानपर जड़जगत्‌की कोई हेयता, दुर्बलता या आवरणताका भाव नहीं है, जिस स्थानपर एकमात्र स्वराट् पुरुषोत्तम निरङ्कुश इच्छामयके रूपमें विराजमान हैं, उस स्थानपर नीतिका बिल्कुल भी प्रवेशाधिकार नहीं है अथवा जागतिक दुर्नीतिकी छाया भी वहाँ प्रवेश नहीं कर सकती। निरङ्कुश लीला-पुरुषोत्तमकी इन्द्रियोंके सञ्चालनमें बाधा प्रदान करनेकी चेष्टा ईश्वरमें अविश्वास या नास्किताका परिचय है।

अपराधोंकी वृद्धिके कारण सविशेषसे निर्विशेषकी ओर गति

श्रीसीता और श्रीरामचन्द्रमें मनुष्य-बुद्धिके उदित होनेपर श्रीलक्ष्मी-नारायणकी उपासना श्रेष्ठता प्राप्त करती है। पुनः श्रीलक्ष्मी-नारायणकी उपासनामें श्रद्धाके किञ्चित् शिथिल होनेपर श्रीवासुदेवकी उपासनाका विचार उपस्थित होता है। फिर उससे क्लीवत्वको abstract करके चिन्मात्र धारणाका ग्राहक बना जाता है।

प्राकृत स्वर्ग और भूतादिके गुणका परिचय

प्रकृतिसे महत्तत्त्वका उदय होता है। भगवान्‌की बहिरङ्गाशक्ति माया ही प्रपञ्चकी सृष्टि-स्थिति-प्रलय करनेवाली है। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—यह माया त्रिवर्णा है अर्थात् लोहिता (लाल), शुक्ला (सफेद) और कृष्णा (काली) है। यह माया लोहित-वर्णसे प्रापञ्चिक सृष्टि, शुक्ल-वर्णसे स्थिति तथा कृष्ण-वर्णसे विलुप्ति अर्थात् प्रलय करती है। इसमें तीन प्रकारके अहङ्कारका अधिष्ठान है। तामस-अहङ्कारसे पाँच महाभूत, राजस-अहङ्कारसे ग्यारह इन्द्रियाँ और बुद्धि तथा सात्त्विक-अहङ्कारसे देवताओंका वैशिष्ट्य उत्पन्न होता है। लयके समय पञ्चमहाभूत तामस-अहङ्कारमें लीन होते हैं, ग्यारह-इन्द्रिय और बुद्धि राजस-अहङ्कारमें मिल जाती हैं तथा देवताओंके साथ सात्त्विक अहङ्कार महत्तत्त्वमें मिलकर प्रकृतिका आश्रय ग्रहण करता है। जब आकाशसे शब्द गुणका अपहरण होता है, तभी आकाशका अधिष्ठान लीन हो जाता है। वायुसे स्पर्शगुणके विदायी लेनेपर वायुका अधिष्ठान लीन हो जाता है। तेजःपुञ्जसे अन्धकारके द्वारा रूपके दूर किये जानेपर वह तेज वायुमें विलीन हो जाता है। जलसे रसके वियुक्त होनेपर तेजःपुञ्ज (अग्नि) में जलका अधिष्ठान देखा नहीं जा सकता। वायु ही स्पर्शके अपहरणका कारण बनकर तेजमें विलीन होती है। वायुके द्वारा गन्धका अपहरण किये जानेपर पृथ्वी गन्धसे रहित जलमें लीन हो जाती है। पृथ्वीमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध विद्यमान है। जलके गन्धसे रहित होनेके कारण उसमें शब्द, स्पर्श, रूप और रस विद्यमान हैं। तेजमें रस और गन्धके रहित होनेके कारण उसमें शब्द, स्पर्श और रूप विद्यमान हैं। वायुमें गन्ध, रस और रूपके नहीं होनेके कारण उसमें शब्द और स्पर्श विद्यमान हैं। आकाशमें गन्ध, रस, रूप और स्पर्शके नहीं होनेके कारण उसमें शब्द विद्यमान है। आकाशमें कालके नहीं रहनेपर आकाशकी आत्मा महत्तत्त्वमें अवस्थान करती है।

आकाश आदिके गुणोंके दृष्टान्त द्वारा रसके उत्तरोत्तर उत्कर्षका प्रदर्शन

आकाश आदिके गुणोंके एक प्राकृत (जड़ीय) उदाहरणके द्वारा गौड़ीय-दार्शनिकोंने रसके तारतम्यके सम्बन्धमें कहा है। आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी—इन पाँचोंको महाभूत कहते हैं। आकाशका शब्द-गुण, वायुके शब्द और स्पर्श नामक दो गुण, अग्निके शब्द, स्पर्श और रूप नामक तीन गुण, जलके शब्द, स्पर्श, रूप और रस नामक चार गुण, मिट्टीके शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध नामक समस्त पाँच गुण हैं। आकाश आदि परवर्त्ती भूतोंमें क्रमशः गुणोंकी संख्या वर्धित हुई है। एक साथ पाँच गुणोंका समावेश पृथ्वीमें ही लक्षित होता है। उसी प्रकार शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुररसोंमें क्रमशः गुणोंकी वृद्धि होनेपर मधुररसमें पाँचों गुण ही परिपूर्ण मात्रामें पाये जाते हैं।

आश्रित-तत्त्वके अन्दर और बाहरमें विषय-तत्त्व

जिस प्रकार प्राणियोंके भीतर और बाहरमें पञ्चभूत विद्यमान रहते हैं, उसी प्रकार आश्रितोंके भीतर और बाहरमें भगवत्-वस्तु स्फूर्ति प्राप्त करती है—

'यथा महान्ति भूतानि भूतेषूच्चावचेष्वनु।
प्रविष्टान्यप्रविष्टानि तथा तेषु न तेष्वहम्॥'

(श्रीमद्भा॰ २/९/३४)

जिस प्रकार पृथ्वी, जल, अग्नि आदि महाभूत देव-तिर्यक् आदि उच्च-नीच भूतों (प्राणियों) में प्रविष्ट होकर भी अप्रविष्ट रूपसे स्वतन्त्र होकर वर्त्तमान हैं, उसी प्रकार मैं भी भूतमय जगत्में सभी प्राणियोंमें (सत्त्वाश्रयरूप परमात्मभावसे) प्रविष्ट होकर भी पृथक् भगवत्-स्वरूपमें सभीके भीतरमें और बाहरमें स्फुरित होता हूँ।

'अहमेवासमेवाग्रे' श्लोकमें तीन बार कहे गये 'अहं' पदके द्वारा नित्य अप्राकृत व्यक्तित्वका स्थापन

चतु:श्लोकीके प्रथम श्लोक (श्रीमद्भा॰ २/९/३२) में अर्थात् 'अहमेवासमेवाग्रे' श्लोकमें तीन बार 'अहं' अर्थात् 'मैं' शब्दका प्रयोग हुआ है। प्रथम चरणके 'अहमेव' पदमें, तीसरे चरणके 'पश्चादहं' पदमें तथा चौथे चरणके 'सोऽस्म्यहं' पदमें 'अहं' शब्द विद्यमान है। इसके द्वारा भगवान्का व्यक्तिगत विग्रह निर्द्धारित हुआ है, अतः वे केवल निर्विशेषमात्र ही नहीं हैं। निर्विशेषवादी भगवान्के अप्राकृत-सविशेष-विग्रहको स्वीकार नहीं करते, इसलिए उनका विचार भ्रमपूर्ण और सब प्रकारसे त्याज्य है। इसे समझानेके लिए ही भगवान्ने 'अहं' शब्दको तीन बार कहकर सम्बन्ध स्थापन किया है।

ज्ञान, विज्ञान, विवेक और अनुभव

ज्ञान—शास्त्रसे उत्पन्न होता है तथा विज्ञान—अनुभवसे। गुरु या शास्त्रके अतिरिक्त अन्य किसीसे प्राप्त 'विवेक' बहुत बार मनोधर्म या निर्विशेष परक होता है। पुनः 'अनुभव' भी अनर्थ या चेतनधर्मकी आवरणमयी वृत्ति नहीं है। अप्राकृत अनुभूतिसे विवेकके उदित होनेपर भगवत्-विग्रहकी उपलब्धि होती है। विज्ञानके उदित नहीं होने तक जीवको यह बोध नहीं होता है कि भगवत्-विग्रह जड़माया और मायिक कार्यसे भिन्न है। जिस प्रकार किरणें सूर्यसे निकलनेपर सूर्यसे भिन्न है, पुनः सूर्यके बिना किरणोंका स्वतः प्रकाशित होना भी सिद्ध नहीं होता, उसी प्रकार भगवान् और माया—ये दो विजातीय विभिन्न-प्रतीति हैं। जब तक जीव मायासे अतीत नहीं होता, तब तक इसका अनुभव नहीं कर सकता है अर्थात् मायाके अन्तर्गत रहनेवाली बुद्धिसे भगवान्के अप्राकृत-विग्रहको नहीं समझा सकता।

धर्मशास्त्रमें धर्म आदि और तत्त्वशास्त्रमें ज्ञान-विज्ञान आदि चार प्रकारके तत्त्वोंका विचार

"'अभिधेय' साधनभक्तिर शुनह विचार।
सर्वजन-देश-काल-दशाते व्याप्ति जार॥

धर्मादि विषये जैछे ए 'चारि' विचार।
साधनभक्ति एइ चारि विचारेर पार॥"

(चै॰ च॰ म॰ २५/१२०-१२१)

जिस प्रकार धर्मशास्त्रमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—यह चार तत्त्व विचारित हुए हैं, उसी प्रकार तत्त्वशास्त्रमें भी ज्ञान, विज्ञान, तदङ्ग अर्थात् उनका अङ्ग और तद्रहस्य अर्थात् उनके रहस्यका विचार है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष आदि सामान्य संसार-नीतिके अनुगत हैं। किन्तु ज्ञान, विज्ञान आदि चार-तत्त्वोंका विचार संसारिक नीतिके अन्तर्गत नहीं है। इन चार तत्त्वोंमेंसे सर्वप्रथम जो साधनभक्ति है, वह भी धर्मादि चार-तत्त्वोंसे सब प्रकारसे श्रेष्ठ है। अभिधेय साधनभक्ति—देश-काल-पात्र-दशासे निरपेक्ष है।

"सर्व देश-काल-दशाय जनेर कर्त्तव्य।
गुरु-पाशे सेई भक्ति प्रष्टव्य श्रोतव्य॥"

(चै॰ च॰ म॰ २५/१२२)

सभी स्थानोंपर, सर्वकालोंमें, सभी अवस्थाओंमें साधनभक्ति करना जीवमात्रका ही कर्त्तव्य है। श्रीगुरुदेवसे उस साधनभक्तिके विषयमें पूछना चाहिये तथा (जो उत्तर प्राप्त हों, उसे ध्यानपूर्वक) श्रवण करना चाहिये।

परात्परतत्त्व पुरुषोत्तम हैं, प्रकृति क्यों नहीं?

कृष्ण—'पुरुष' हैं। 'पुरुष' का अर्थ है—जो 'स्त्री' नहीं हैं अर्थात् किसीके बाध्य नहीं हैं। स्त्री—पुरुषके अनुगत है, स्त्री—अनाथ तथा अबला है और पुरुष ही नाथ और प्रकृतिके बल-स्वरूप हैं। शक्तिमानकी अधीनता स्वीकार करनेमें ही शक्तिका शक्तित्व

है, शक्तिमें स्वतन्त्र-शक्तित्व नहीं है। पुरुष—भोक्ता हैं और स्त्री—भोग्या है।

शुद्ध-शक्ति और विद्ध-शक्ति

सेव्य-वस्तुके 'पुरुष' नहीं होनेपर [अर्थात् उन्हें स्त्री माननेपर] वह न्यूनाधिक भोग्य-विचारमें प्रतिष्ठित हो पड़ती है। प्रकृतिका कभी भी निरपेक्ष रूपमें भोक्तापन नहीं है। गौड़ीयगण जिन श्रीमती वार्षभानवी या गोपियोंकी सेवा करते हैं, वह श्रीकृष्णकी भोग्य होनेके विचारसे है। श्रीमती और गोपियाँ अप्राकृत लीला-पुरुषोत्तम श्रीकृष्णकी नित्य-प्रियतम भोग्य-वस्तुएँ हैं। श्रीकृष्णके साथ श्रीराधाके सम्भोगके लिए ही अर्थात् परमभोक्ता श्रीकृष्ण और श्रीकृष्णकी परमभोग्यके परस्पर सुख-तात्पर्यके उद्देश्यसे ही गौड़ीयगणोंके आत्म-विचारमें स्वयंको 'प्रकृति' जानकर मूल-प्रकृति-वर्गके अनुगत होकर ही लीला-पुरुषोत्तमकी सेवा करनी है, इसलिए गौड़ीयगणको 'शुद्ध-शाक्त' कहा जाता है। किन्तु जो परमेश्वरमें स्त्रीत्व, मातृत्व आदिका आरोपकर स्वयंको पुरुष या 'शिव' ('शिवोऽहं') बनना चाहते हैं तथा जो कल्पित ईश्वरके निरपेक्ष-भोक्तापनका मौखिक परिचय प्रदानकर कार्यतः स्वयं भवानीभर्त्ता अर्थात् भोक्ता बन बैठते हैं, वे 'विद्ध-शाक्त' हैं।

'प्रकृति' को परमेश्वर वस्तु माननेसे क्या असुविधा है?

सेव्य-वस्तुके पुरुष नहीं होनेसे वे सेवककी सर्वाङ्गीन (सभी अङ्गोंसे की जा सकनेवाली) पूर्ण-सेवाको प्राप्त नहीं कर सकते। यदि सेव्य वस्तु 'स्त्री' हो, तब जीव-प्रकृति सभी अङ्गोंके द्वारा सेव्यकी सेवा नहीं कर सकती है। जीव और परमेश्वर—दोनों ही यदि प्रकृति हों, तब एक प्रकृति अन्य एक प्रकृतिकी सभी कामनाओंको पूर्ण रूपमें तृप्त नहीं कर सकती। जीव यदि अपनेको 'पुरुष' मानें और परमेश्वरको प्रकृतिके रूपमें स्वीकार करें, तब भी पुरुषाभिमानी जीव सेव्या प्रकृतिकी कामनाको

परितृप्त करने जाकर प्रकृतिको किसी-न-किसी रूपमें भोग कर बैठेगा। शास्त्रमें जीवको 'प्रकृति' कहकर ही अभिहित किया गया है—

'अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥'
(गीता ७/५)

अर्थात् किन्तु, आठ भेदोंवाली यह जड़ा प्रकृति निकृष्टा है। इससे उत्कृष्ट जीवस्वरूपा मेरी एक और प्रकृति जानो, जिसके द्वारा यह जगत् अपने कर्म द्वारा भोगनेके लिए गृहीत होता है।

पुरुषोत्तम ही परमेश्वर-शब्द-वाच्य हैं और उनका ही निरपेक्ष और स्वतन्त्र भोक्तृत्व है। गौड़ीय-दर्शनमें यही विचार सुस्पष्ट रूपमें विद्यमान है।

'पुरुष' ही समस्त रसोंके भोक्ता हो सकते हैं, प्रकृतिमें ऐसा होना असम्भव

तटस्थ विचारसे मधुररति सर्वश्रेष्ठ है। जागतिक उदाहरणमें भी देख जाता है कि आदिरस (मधुररस) को आधार बनाकर जिस प्रकारकी व्याकुलता, आकर्षण, प्रीति, ममता, उद्दीपना और सर्वाङ्गीन चेष्टा उदित होती है, अन्य किसी रसमें वैसी चेष्टा नहीं देखी जाती। सेव्य-वस्तुके लीला-पुरुषोत्तम नहीं होनेपर किसी भी प्रकारसे यह मधुररति प्रकाशित नहीं हो सकती। 'प्रकृति' के परमेश्वर होनेपर मधुररतिका अवस्थान नहीं रह सकता। पुत्रका माँके साथ क्रमशः अभिलाषा करने और देनेका सम्बन्ध है। जहाँ जीव स्वयंको सन्तानके रूपमें मानता है, वहाँ उसका मातासे कुछ प्राप्त करनेका अधिकार है और माँका देनेका अधिकार है। अतएव वहाँ जीव द्वारा केवलमात्र दोहन-क्रिया है। विशेषतः माता और सन्तानमें मधुररस अस्वाभाविक है। किन्तु पुरुष मधुररसका विषय हो या फिर वात्सल्यरसका ही विषय हो—दोनों क्षेत्रोंमें पुरुष ही भोक्ता हैं। वात्सल्यरसके विषय बनकर 'पुरुष'

शिशुरूपमें समस्त भोग्य-वस्तुओंको माता-पितारूपी सेवकोंसे स्तनपान करनेवालेके रूपमें दोहन करते हैं। पुनः वही दोहन-क्रिया ही मधुररसमें और भी अधिकतर प्रीति, व्याकुलता और सर्वाङ्गीन होकर प्रकाशित होती है।

अप्राकृत रति-वैचित्र्य और उत्कर्षका क्रम

विरजामें स्नान करनेके बाद तीनों गुणोंकी साम्य-अवस्था या 'शान्तरति' प्रकाशित होती है। शान्तरतिमें ममता संयुक्त होनेपर 'दास्यरति' प्रकाशित होती है। उस ममताके समभाव और विश्रम्भसे मथित होनेपर 'सख्यरति' उदित होती है। सख्यरतिमें पाल्य-विचारके संयुक्त होनेपर 'वात्सल्यरति' उदित होती है। वात्सल्यरतिमें वत्सलभावके आस्पद अर्थात् विषयके निकट जो गुप्त रहता है, उसके भी सर्वाङ्गीन भावसे उन्मुक्त होनेपर अर्थात् सब प्रकारसे समस्त अङ्गोंसे सेवाके उत्कर्षके प्रकाशित होनेपर 'मधुररति' प्रकाशित होती है।

समस्त प्रकारकी रतियोंमें पुरुषोत्तम ही भोक्ता हैं, प्रकृतिका स्वतन्त्र-भोक्तृत्व असम्भव

उपरोक्त सभी प्रकारकी रतियोंमें पुरुष ही परमेश्वर हैं, कहीं भी प्रकृतिका परमेश्वरत्व नहीं है। इसका कारण यह है कि पुरुषके अतिरिक्त और किसीका निरपेक्ष-भोक्तृत्व नहीं हो सकता। शान्तरसमें गो, वेत्र (लाठी), विषाण (शृङ्ग) और वेणु अप्रत्यक्ष रूपमें लीला-पुरुषोत्तम श्रीकृष्णकी ही सेवा करते हैं। रक्तक, पत्रक और चित्रक दास्यरसमें लीला-पुरुषोत्तम श्रीकृष्णकी सेवा करते हैं। सुदाम, श्रीदाम, सुबल आदि सखा भी सख्यरसमें लीला-पुरुषोत्तमके कन्धेपर चढ़कर उनकी सेवाके द्वारा उनके सुखका विधान करते हैं। श्रीनन्द और श्रीयशोदा भी लीला-पुरुषोत्तम श्रीकृष्णको अपना पाल्य मानकर उनकी सेवा करते हैं। व्रजगोपियाँ भी समस्त-अङ्गोंके द्वारा लीला-पुरुषोत्तमकी सेवा करती हैं। अतएव समस्त रसोंमें विषय या सेव्य—पुरुषोत्तम ही हैं।

परमेश्वरको माता-पिता माननेके स्थानपर अपने पुत्रके रूपमें माननेवाले विचारकी उत्कर्षताका साधारण युक्तिके आधारपर प्रदर्शन

भगवान्‌में माता या पिताका आरोप करनेसे हम अपने परिदृश्यमान अस्तित्वके पहलेसे ही माता या पिताकी सेवा नहीं कर सकते हैं। बादमें भी सेवा करेंगे या नहीं—उसमें भी संशय रहता है। यदि बादमें सेवा करें भी, तो भी वह सेवा कृतज्ञतापूर्ण विनिमयके सम्बन्धसे अवस्थित लौकिक व्यवहारसे युक्त पूजामात्र ही है। किन्तु, पुत्रके जन्म लेनेके पहलेसे ही माता-पिता पुत्रकी सेवा किया करते हैं। माता-पिता द्वारा की गयी वह सेवा कृतज्ञता या बाध्यतामूलक नहीं होती है, वह स्वाभाविक अनुरागमूलक होती है।

पुरुषोत्तम परम पालक होनेपर भी प्रेम द्वारा पाल्य

श्रीकृष्ण ही पालक हैं, ओर फिर, पालक होनेपर भी अप्राकृत वात्सल्यसे युक्त प्रेमिकोंके द्वारा पाल्य हैं। उन्हीं (पाल्य) गोपालकी सेवा ही वात्सल्यरतिका विषय है।

गौड़ीय-दर्शनका वैशिष्ट्य और रहस्य

जगत्‌के तीन प्रकारके तापोंसे कष्ट पानेवाले व्यक्ति कष्टोंसे निवृत्ति या शान्ति प्राप्त करनेको ही परम मङ्गल मानते हैं। किन्तु जो क्लेशोंसे स्वभाविक रूपमें ही परिमुक्त हैं अर्थात् जिन्होंने शान्तरसके उद्दीपक और उपदेशक उपनिषदके प्राथमिक पाठोंको बहुत पहले ही पढ़कर समाप्त कर लिया है, वे अप्राकृत-सेवा-रस-वैचित्र्य अखिलरसामृतमूर्त्ति श्रीकृष्णकी सेवाके लिए व्याकुल होते हैं। सेवाकी उन्नति होनेपर देखा जाता है कि शब्दकी विद्वद्‌रूढ़िमें सर्वत्र ही श्रीकृष्णदर्शन है। यही अप्राकृत स्फोटवाद या गौड़ीय-दर्शनका रहस्य है।

गौड़ीय-दर्शनमें स्वरूप-दर्शनका अर्थ केवल विश्वरूप-दर्शन नहीं

'गौड़ीय' आन्तरिक वस्तुका सन्धान देता है। विश्वरूप-दर्शनकी बात जागतिक विभिन्न-दर्शनोंमें पायी जाती है, किन्तु स्वरूप-दर्शनकी बात एकमात्र 'गौड़ीय-दर्शन' ही विशेष रूपसे विकसित करके प्रदर्शित करता है। इसलिए 'प्रकाशानन्द' (-सरस्वतीने) गौड़ीय-दर्शनमें दीक्षित होनेके बाद कहा था—

"ताते छय दर्शन हैते तत्त्व नाहि जानि।
महाजन येई कहे, सेई सत्य मानि॥
श्रीकृष्णचैतन्य-वाणी—अमृतेर धार।
तिँहे जे कहये वस्तु, सेई तत्त्वसार॥"
(चै॰ च॰ म॰ २५/५५, ५७)

[प्रत्येक दर्शनशास्त्र-कर्त्ताने अपने-अपने व्यक्तिगत मतको स्थापित करनेकी चेष्टा की है तथा दूसरोंके मतका खण्डन किया है। अतः अपनी बुद्धिके बलसे मैं] छः दर्शनोंसे यथार्थ मूल तत्त्वको नहीं समझ पाया। अतएव महाजन जो कहते हैं, उसे ही 'सत्य' मानता हूँ। श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुकी वाणी तो अमृतकी धाराके समान है। जिसे उन्होंने 'वस्तु' कहा है, वही तत्त्व-सार है।

गौड़ीय-दर्शनमें ही वास्तविक तत्त्व-दर्शन सम्भवपर

एकमात्र गौड़ीय-दर्शनमें ही तत्त्वदर्शन होता है। 'तत्' अर्थात् वह वस्तु जैसी है, ठीक वैसी ही—As He is, not as He is conceived by man or many का नाम ही 'स्वरूप' है। वैसा स्वरूप-दर्शन एकमात्र गौड़ीय-दर्शनमें ही सम्भव है।

निर्विशेषवाद 'दर्शन' नहीं बल्कि दर्शनका अभावमात्र

परतत्त्व, व्यूह, वैभव, अन्तर्यामी, अर्चा आदि विशिष्टाद्वैत-दर्शनकी तत्त्वालोचनाके अभावमें निर्विशेष दर्शन होता है।

निर्विशेषवादको 'दर्शन' नहीं कहकर 'दर्शनाभाव' या अन्धेके समान अवस्थानमात्र कहा जा सकता है। नेत्रसे युक्त व्यक्तिके दर्शनमें विचित्रताका दर्शन होता है। नेत्रहीन व्यक्ति दर्शनके अभावमें सभी वस्तुओंको निर्विशेष, निराकार, अन्धकारके रूपमें अनुभव करता है।

श्रीकृष्णचैतन्यदेवके द्वारा चारों सात्वत-दर्शनोंकी सम्पूर्णताका सम्पादन

इस निर्विशेषकार रूप दर्शनके अभावको दूर करनेके लिए शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म—श्रीविष्णुके करकमलोंमें स्थित इन चार अस्त्रोंके अवतार-स्वरूप चार सात्वत-सिद्धान्त या सुदर्शन प्रकाशित हुए हैं। सभी आचार्योंके आचार्य और परमेश्वर श्रीकृष्णचैतन्यदेवने अपने गौड़ीय-दर्शनमें इन चार प्रकारके अस्त्रों (सात्वत-सिद्धान्तों) का समन्वय, पूर्णता और परिशिष्ट-विचार प्रकाशित किया है।

ऐश्वर्य, माधुर्य और औदार्य

परमेश्वरमें ऐश्वर्य, माधुर्य और औदार्य प्रकाशित है। माधुर्य ऐश्वर्यका दास्य करनेके लिए प्रस्तुत नहीं है। ऐश्वर्य गन्ध-शून्य माधुर्यका महादान ही औदार्यमें प्रकाशित है।

रूपानुग-गौड़ीयगणोंके सङ्गमें गौड़ीय-दर्शनके लिए दिव्य-नेत्रोंकी प्राप्ति

रूपानुग-गौड़ीयगणोंके सङ्गके बिना गौड़ीय-दर्शनके लिए दिव्यनेत्र प्राप्त नहीं होते। गौड़ीय-दर्शनमें सर्वत्र ही विप्रलम्भमय अप्राकृत श्रीकृष्ण-सेवाका दर्शन होता है।

"पञ्चभूत जैछे भूतेर भितरे-बाहिरे।
भक्तगणे स्फुरि आमि बाहिरे अन्तरे॥"

(चै॰ च॰ म॰ २५/१२७)

जिस प्रकार पञ्चभूत प्राणियोंके भीतर एवं बाहर स्थित है, उसी प्रकार मैं भक्तोंके भीतर और बाहरमें स्फुरित होता हूँ।

'यथा महान्ति भूतानि भूतेषूच्चावचेष्वनु।
प्रविष्टान्यप्रविष्टानि तथा तेषु न तेष्वहम्॥'
(श्रीमद्भा॰ २/९/३४)

जिस प्रकार पृथ्वी, जल, अग्नि आदि सभी महाभूत देवता, तिर्यग् (पशु-पक्षी) आदि उच्च-नीच भूतसमूहमें प्रविष्ट होकर भी अप्रविष्ट रूपसे स्वतन्त्र वर्त्तमान हैं, उसी प्रकार मैं भूतमय जगत्में समस्त भूतोंमें (सत्त्वाश्रयरूप परमात्माके रूपमें) प्रविष्ट रहनेपर भी पृथक् भगवत्-स्वरूपमें सभीके अन्दर और बाहरमें स्फुरित होता हूँ।

"भक्त आमा बाँधियाछे हृदय-कमले।
याँहा नेत्र पड़े, ताँहा देखये आमारे॥"
(चै॰ च॰ म॰ २५/१२५)

[श्रीभगवान् कहते हैं—] भक्तोंने मुझे अपने हृदयरूपी कमलमें बाँध रखा है, अतः जहाँ-जहाँ उनकी दृष्टि पड़ती है, वहाँ-वहाँ वे मुझे ही देखते हैं।

'विसृजति हृदयं न यस्य साक्षाद्धरिरवशाभिहितोऽप्येघोघनाशः।
प्राणयरसनया धृताङ्घ्रिपद्मः स भवति भागवतः प्रधान उक्तः॥'
(श्रीमद्भा॰ ११/२/५५)

विवश होकर भी जिनका नाम उच्चारण करनेपर जो उच्चारणकारीके समस्त पापोंको नष्ट कर देते हैं, ऐसे श्रीहरिके चरणकमलके जिन भक्तोंके हृदयमें परम-प्रेमके बन्धनमें बन्ध जाते हैं, अतः वे उन भक्तोंके हृदयको परित्याग करनेमें समर्थ नहीं होते, वही भक्त उत्तम-भागवत कहलाते हैं।

"गायन्त्य उच्चैरमुमेव संहता विचिक्युरुन्मत्तकवद्वनाद्वनम्।
पप्रच्छुराकाशवदन्तरं बहिर्भूतेषु सन्तं पुरुषं वनस्पतीन्॥"
(श्रीमद्भा॰ १०/३०/४)

गोपियाँ एकत्रित होकर उच्चस्वरसे श्रीकृष्णका गुणगान करते-करते उन्मत्तकी भाँति एक वनसे दूसरे वनमें श्रीकृष्णको ढूँढ़ने लगी तथा आकाशकी भाँति बाहर और अन्तरमें स्थित उन परमपुरुष श्रीकृष्णके विषयमें वनस्पतियों (वृक्ष, पौधों और लताओंसे) पूछने लगीं।

विभिन्न दर्शनोंकी उत्पत्तिकी भूमिका और फल

गौड़ीयजन उपरोक्त प्रकारका दर्शन करते हैं, इसलिए वे 'गौड़ीय' हैं—महाप्रभुके आश्रित हैं। बाहरी आवरणमें बाहरी दृष्टिको केन्द्रित करके जिन विभिन्न दर्शनोंकी उत्पत्ति हई है, वे सब दर्शन जीवोंकी मतिको आवृत कर रहे हैं। उनसे अनावृत रहना ही गौड़ीय-दर्शनका विचार है। कोई बाहरी स्थूल आवरणके, कोई सूक्ष्म आवरणके और कोई अत्यन्त सूक्ष्म आवरणके दार्शनिक हुए हैं। किन्तु इन सभीका ही प्राकृत या प्राकृतसे व्यतिरेक-सम्बन्धमें दर्शन है।

गौड़ीय-दर्शन ही एकमात्र कल्मषरहित निर्मल अप्राकृत दर्शन

यह 'अप्राकृत' शब्द एकमात्र गौड़ीय-दर्शनमें ही पाया जाता है। अपनेको दार्शनिक माननेवाले अन्य-अन्य व्यक्ति इस 'अप्राकृत' शब्दके तात्पर्यको नहीं समझ पानेके कारण मजाक उड़ाकर तमाशा करते हैं।

अज्ञता ही दोषी

इसमें उनका कोई दोष नहीं है, उनकी अज्ञताका ही दोष है। वे जिस प्राकृत झरोखेके माध्यमसे अप्राकृत राज्यकी विकृत छविको देख पाते हैं, उसमें वे अप्राकृत नामकी एक क्रिया—जो समस्त प्राकृत विचित्रताओंका मूल है—उसकी धारणा भी नहीं कर पाते।

पद्मानीति

कंसकी माता पद्मा सोचती थी कि वृन्दावनमें गोप-गोपियाँ श्रीकृष्णको लेकर इतने दुःखी क्यों रहते हैं? लगता है, उन्होंने कृष्णसे कुछ वसूली करनी है। इसलिए पद्माने एक परामर्श देते हुए कहा—"एकबार हिसाब-किताब किया जाये। कृष्णने गोप-गोपियोंकी गायोंको चराकर उन्हें कितना कमाकर दिया है और गोप-गोपियोंने कृष्णके बचपनसे लेकर उसके व्रजमें रहने तक उसके लालन-पालन-खाने-पहननेके लिए कितना खर्च किया है। इस सबका हिसाब-किताब लगानेके बाद यदि कृष्णसे उन गोप-गोपियोंका कुछ लेना बाकी रहता हो, तो फिर उस धनको कृष्ण द्वारा वापिस लौटाकर उसके साथ गोपियोंके सम्बन्धको चिरकालके लिए चुका दिया जाये (अर्थात् समाप्त कर दिया जाये)।" इस वृद्धाने अपस्वार्थपरताके सीमित चश्मेको पहनकर श्रीकृष्ण और गोप-गोपियोंको जिस भावनासे देखा था, उसके द्वारा वह अन्य कुछ देख ही नहीं पायेंगी। श्रीकृष्ण और गोपियोंमें जो नित्य और स्वाभाविक आकर्षण है—वह वृद्धा इस बातको किस प्रकारसे समझेगी? पद्माकी इस दर्शन-नीतिको लेकर यदि 'गौड़ीय-दर्शन' किया जाये, तो फिर 'गौड़ीय-दर्शन' नहीं होगा, बल्कि वह 'अगौड़ीय-दर्शन' हो जायेगा। गौड़ीय—आत्मवित् हैं, उन्हें अनात्म-दर्शन द्वारा देखनेसे काम नहीं चलेगा। आत्मवित् होनेके बाद—स्वरूपमें अवस्थित होनेके बाद जो समस्त चिद्विलास-वैचित्र्यका विचार है, वही 'गौड़ीय-दर्शन' का विचार है। गौड़ीयजन स्वरूपमें अवस्थित हुए बिना अन्याभिलाष, कर्म, ज्ञान अथवा मोक्षकी कामनाके लिए वस्तुका दर्शन नहीं करते हैं।

गौड़ीय-दर्शनका विचार मुक्त होनेके बादका विचार है। जो मुक्त नहीं हुए—जो अनर्थ-युक्त हैं, उनका इन समस्त-क्रियाओंमें तात्कालिक प्रयोजन रह सकता है, किन्तु गौड़ीय-दर्शनका विचार मुक्त होनेके बादका विचार है।

सभी विभक्तियोंमें गौड़ीय-दर्शनका समन्वय

प्रथमसे सप्तमी तक जितनी भी विभक्तियाँ है, उन सबमें ही गौड़ीय-दर्शनका समन्वय होता है।

"गौड़ीय-दर्शन (प्रथमा विभक्ति), गौड़ीयको दर्शन (द्वितीया विभक्ति), गौड़ीयके द्वारा दर्शन (तृतीया विभक्ति), गौड़ीयके लिए दर्शन (चतुर्थी विभक्ति), गौड़ीयसे दर्शन (पञ्चमी विभक्ति), गौड़ीयका दर्शन (षष्ठी विभक्ति), गौड़ीयमें दर्शन (सप्तमी विभक्ति)"—इन समस्त पदोंमें ही गौड़ीय-दर्शनने अपने अप्राकृतत्वका प्रचार किया है।

गौड़ीय-दर्शनका विषय

गौड़ीय-दर्शनका विषय—'गौड़ीय-नाथ' हैं। 'श्रीगौरसुन्दर' ही गौड़ीय-नाथ हैं। श्रीगौरसुन्दर ही 'श्रीकृष्ण' हैं। श्रीकृष्ण ही सर्वकारण-कारण, सच्चिदानन्द-विग्रह, अनादि, आदि और गोविन्द हैं। गौड़ीय-दर्शनमें जो 'दर्शन' शब्द है, उसका अर्थ सम्भोग नहीं, बल्कि वह सेवाका द्योतक है। सेवाकी अत्यन्त प्रगाढ़-अवस्थामें जो चेतन-वृत्तियाँ सर्वाङ्गीनभावसे दृष्टिगोचर हुआ करती है, उन सब वृत्तियोंके द्वारा ही गौड़ीय-दर्शन सम्भव होता है।

सेवोन्मुखकर्ण और जिह्वाके द्वारा गौड़ीय-दर्शन

जिस प्रकार 'राजा पश्यति कर्णाभ्याम् अर्थात् राजा कानके द्वारा देखता है' नामक एक लोकोक्ति है, उसी प्रकार गौड़ीय कर्णके द्वारा ही 'गौड़ीय', 'गौड़ीयको', 'गौड़ीयके द्वारा', 'गौड़ीयके लिए', 'गौड़ीयसे', 'गौड़ीयका', 'गौड़ीयमें' गौड़ीय-नाथका दर्शन करते हैं तथा गौड़ीय सेवोन्मुख अप्राकृत-जिह्वासे ही 'गौड़ीय-दर्शन', 'गौड़ीयको दर्शन', 'गौड़ीयके द्वारा दर्शन', 'गौड़ीयके लिए दर्शन', 'गौड़ीयसे दर्शन', 'गौड़ीयका दर्शन' और 'गौड़ीयमें' गौड़ीय-दर्शन किया करते हैं।

गौड़ीय और गौड़ीय-ब्रुव

'गौड़ीय' और 'गौड़ीय-ब्रुव', 'विद्ध गौड़ीय' और 'अगौड़ीय'—एक नहीं है। अकृत्रिम (वास्तविक) गौड़ीय और कृत्रिम (कपट) वेशधारी गौड़ीय कभी भी एक नहीं है। भीतर-बाहरमें, श्वास लेने और छोड़नेमें, शयन-स्वप्नमें, आहार-विहारमें, इहलोक-परलोकमें, अर्थ-परमार्थमें, सभी अङ्गोंमें, सब प्रकारसे, सभी स्थानोंपर, सब समय, सभी पात्रोंमें गौड़ीय नहीं हो पानेसे गौड़ीय-दर्शनमें प्रवेश नहीं होगा।

दर्शन ही सम्बन्ध, दर्शन ही अभिधेय और दर्शन ही प्रयोजन

दर्शनके बाद क्रिया और क्रियाके बाद इष्टसिद्धि होती है। दर्शनको सम्बन्धके रूपमें विचार करनेपर दर्शनमय अभिधेय एवं दर्शनमय प्रेम-प्रयोजन उदित होता है। जो दर्शन-रहित भजनकी छलना प्रदर्शित करते हैं, उनकी चेष्टा अन्धेरेमें तीर छोड़नामात्र है। दर्शन—वस्तुकी वास्तविकताका भलीभाँति निर्णय कर देता है। उसके बाद वास्तव-वस्तुके लिए भजन हुआ करता है। दर्शन किये बिना भजन करना 'अन्दाज़ेसे तीर मारना' मात्र है। इस रक्त और माँससे बने नेत्रों द्वारा गौड़ीय-दर्शन नहीं होता। इसलिए श्रीबिल्वमङ्गल ठाकुरने अपने रक्त और माँससे बने दोनों नेत्रोंको निकाल करके अप्राकृत वस्तुका दर्शन करके भजन करना आरम्भ किया था। और फिर 'दर्शन' ही भजन है। जहाँ भजन और दर्शनमें व्यवधान (विच्छेद) नहीं है, वहाँ भजन और प्रयोजनमें व्यवधान नहीं है। जहाँ दर्शन और प्रयोजनमें कोई अन्तर नहीं है, वहींपर ही गौड़ीय-दर्शनका आसन है।

गौड़ीय-गौरवमें—'सम्बन्ध', गौड़ीय-साहित्यमें—'अभिधेय' और गौड़ीय-दर्शनमें—'प्रयोजन' का कीर्त्तन

फलकी आकांक्षा करनेवालोंको सम्बन्धज्ञानमें प्रतिष्ठित करनेके लिए गौड़ीयके गौरवकी बात कही गयी है। गौड़ीयके अभिधेयकी बात बतलानेके लिए गौड़ीय-साहित्यकी बात कही गयी है। श्रील जीव गोस्वामी प्रभुने अपनी टीकामें 'साहित्य' शब्दका अर्थ भगवद्भक्ति कहा है। तथा प्रयोजनका इङ्गित देनेके लिए 'गौड़ीय-दर्शन' की बात कही गयी है। इन सबको मिलाकर ही 'गौड़ीय-दर्शन' है। गौडीय-दर्शनमें गौड़ीय-गौरव है, गौड़ीय-साहित्य है और गौड़ीय-प्रयोजन है।

श्रीकृष्ण-प्रीति ही गौड़ीय-दर्शनकी मूलकथा

जहाँ भगवत्-प्रीति और अपनी प्रीति एक वस्तु या एक तात्पर्यमय है, वहाँ कोई भी असुविधा नहीं है। उस अखण्ड प्रवाहमें ही गौड़ीय-दर्शन प्रतिष्ठित है। किन्तु जहाँ औपाधिक-प्रीतिने भगवत्-प्रीतिको ढक दिया है या मोक्षादिके प्रति प्रीतिने भगवत्-प्रीतिको आवृत कर दिया है, वहाँ श्रीकृष्ण प्रीतिका सन्धान नहीं है। इस प्रकार त्रिताप आदि क्लेशोंसे निवृत्तिरूप-प्रीतिकी आकांक्षा ही धर्म-प्रीति, अर्थ-प्रीति, अनर्थ-प्रीति, काम-प्रीति या मोक्ष-प्रीति है। यह सब अगौड़ीय-दर्शनकी बातें हैं। गौड़ीय-दर्शनमें श्रीकृष्णकी प्रीतिके अतिरिक्त अन्य प्रीतिकी गन्ध भी नहीं है।

गौड़ीय द्वारा प्रदत्त नेत्रोंसे ही गौड़ीय-दर्शन करना आवश्यक

गौड़ीय जिस प्रकार दर्शन करते हैं, उसी प्रकार दर्शन करनेसे ही अभीष्टको प्राप्त किया जा सकता है अर्थात् नाम, विग्रह और स्वरूपको अभिन्नके रूपमें देखा जा सकता है। यदि हम गौड़ीय-दर्शनको आत्मसात् नहीं करेंगे, तो मनुष्य जीवनकी सार्थकता नहीं रहेगी, दिनमें अन्धे रहनेवाले उल्लू बनकर ही रहना

पड़ेगा। इसीलिए गौड़ीय-दार्शनिक ग्रन्थराज श्रीमद्भागवमें कहा गया है—

'लब्ध्वा सुदुर्लभमिदं बहुसम्भवान्ते
मानुष्यमर्थदमनित्यमपीह धीरः।
तूर्णं यतेत न पतेदनुमृत्यु यावत्
निःश्रेयसाय विषयः खलु सर्वतः स्यात्॥'

(श्रीमद्भा॰ ११/९/२९)

अर्थात् अनेक जन्मोंके बाद यह मानव जन्म प्राप्त हुआ है, इसलिए यह अत्यन्त दुर्लभ है। यह जन्म अनित्य होनेपर भी परमार्थप्रद है। अतः बुद्धिमान व्यक्ति मृत्युसे पूर्व ही क्षणमात्रका विलम्ब किये बिना चरम कल्याणके लिए चेष्टा करें।

गौड़ीय-दार्शनिक मांसदृक् नहीं, बल्कि वेददृक्-श्रेष्ठ

यह बात पुनः-पुनः कहनेकी आवश्यकता है कि चर्म-नेत्रों या भोग-नेत्रोंके द्वारा 'गौड़ीय' दर्शन नहीं होता है। गौड़ीय-दार्शनिकगण मांसदृक् अर्थात् माँसका दर्शन करनेवाले नहीं हैं, बल्कि वे वेददृक अर्थात् वेदका दर्शन करनेवालोंमें सर्वोत्तम हैं। इसलिए गौड़ीय-दर्शनके आदि आचार्य श्रीब्रह्माजीने बतलाया है—

'प्रेमाञ्जनच्छुरित भक्तिविलोचनेन
सन्तः सदैव हृदयेषु विलोकयन्ति।
यं श्यामसुन्दरमचिन्त्यगुणस्वरूपं
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥'

(श्रीब्रह्मसंहिता ३८)

अर्थात् भक्तगण प्रेमरूपी अञ्जन (काजल) से रञ्जित भक्तिनेत्रोंके द्वारा जिन अचिन्त्य-गुणोंसे युक्त श्यामसुन्दर कृष्णका अपने हृदयमें दर्शन करते हैं, उन आदि पुरुष गोविन्दका मैं भजन करता हूँ।

भक्तिचक्षु-अप्राकृत

प्रेमरूपी अञ्जन द्वारा रञ्जित भक्तिमय नेत्रोंसे युक्त साधु ही अचिन्त्य-गुणस्वरूप श्रीश्यामसुन्दरका हृदयमें दर्शन करते हैं। जिन भक्तिमय नेत्रोंसे गौड़ीय-दर्शन होता है, वह काल्पनिक या मिथ्या भक्तिमय नेत्र नहीं है। बहुत-से लोग भावुक व्यक्तिके निसर्ग अर्थात् प्राकृतिक स्वभावसे युक्त पिच्छिल नेत्रोंको 'भक्तिमय नेत्र' मानते हैं। इसलिए गौड़ीय-दर्शनका अचिन्त्यत्व उनके दर्शनका विषय नहीं होता है।

अचिन्त्यभेदाभेद-सिद्धान्त और वास्तविक महावाक्य

अचिन्त्यभेदाभेद-सिद्धान्त ही गौड़ीय-दर्शन है। जीव भूतशुद्धि नामक दशाको प्राप्त करनेके बाद अर्थात् अनर्थ मुक्त होनेके बाद अपने स्वरूपकी उपलब्धि कर—'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि', 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' और 'प्रज्ञानं ब्रह्म' इत्यादि वेदमन्त्रोंके स्वरूपको 'तृणादपि सुनीच' श्लोकमें ही समझ सकते हैं तथा 'कीर्त्तनीय सदा हरिः' इस श्रीचैतन्य-वाणीको वास्तविक महावाक्य जानकर वेदके सार्वदेशिक महावाक्यके विग्रह, प्रणवकी सम्पूर्ण रूपसे प्रसारित मूर्त्ति—श्रीकृष्ण नाममें गौड़ीय-दर्शनके सम्पुटका आविष्कार करते हैं। अर्थात् 'श्रीकृष्ण' नामके अनुशीलन द्वारा ही गौड़ीय-दर्शनकी सम्पद-पेटिकाको उद्घाटित करते हैं। तब ऋग्वेदका मन्त्र पाठ करते-करते कहते हैं—

"ॐ आस्य जानन्तो नाम चिद्विवक्तन् महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे ॐ तत् सत्।" (ऋग्वेद १ मण्डल, १५६ सूक्त, ३ ऋक्)

अर्थात् "हे विष्णु! आपका नाम चित्स्वरूप होनेके कारण स्वप्रकाश-रूप है, अतः इस नामका उपयुक्त उच्चारणादि अथवा माहात्म्य न जानते हुए भी यदि कोई नामोच्चारण करे अर्थात् उस नामाक्षर आदिका मात्र अभ्यास करे, तो भी भगवत्-विषयक

ज्ञान प्राप्त होगा। इसका कारण है कि प्रणव द्वारा प्रकाशित पदार्थ 'सत्' अर्थात् स्वतः सिद्ध है, अतएव भय और द्वेषादि होनेपर भी श्रीमूर्त्तिकी स्फूर्ति होती है। अतः वैसी अवस्थामें भी नामोच्चारण करनेपर मुक्ति प्राप्त होगी, क्योंकि 'साङ्केत्य' आदि रूप नामोच्चारणके फलसे (नामाभाससे) मुक्ति प्राप्त होती है—ऐसा सुना जाता है।"

श्रुति और ब्रह्मसूत्रमें श्रीनाम भजनका विचार

पारमार्थिकताका यह पहला पाठ श्रुतिमन्त्रोंमें भी निहित है। उपनिषदमें भगवद्भक्तिके विषयमें बहुत-से विचार हैं। वेदान्तके प्रत्येक सूत्रके आदि और अन्तमें श्रीनाम प्रभुके असम्प्रसारितरूप (अस्फुट/अस्पष्टरूप) प्रणवकी मूर्त्ति प्रतिष्ठित है। ब्रह्म-जिज्ञासाका चरम फल—गौड़ीय-दर्शनके विषयविग्रह श्रीनाम या शब्दब्रह्मकी सेवा है तथा इसीका ही वेदान्तके अन्तिम सूत्र ('अनावृत्तिः शब्दात् अनावृत्तिः शब्दात्' (ब्र॰ सू॰ ४/४/२२)) ने कीर्त्तन किया है।

'श्रीकृष्ण' नामका वैशिष्ट्य

विभिन्न-देशोंमें विभिन्न नाम प्रचलित हैं। जिस प्रकार जिहोवा, जियुस, जुपिटर, अहूर मलद्, अल्ला, God, ईश्वर, परमात्मा, ब्रह्म इत्यादि। किन्तु गौड़ीय-दर्शनके विषय अर्थात् प्रणवकी सम्पूर्ण रूपसे परिस्फुटित अखिल-रसामृत मूर्त्ति—श्रीकृष्ण, श्रीश्याम-सुन्दर, श्रीनन्दनन्दन, श्रीवृन्दावनेन्द्र आदि श्रीभगवान्के मुख्यनामोंमें जो परिपूर्णतम रस-माधुर्य है, वह अन्य किसी भी नाममें नहीं देखा जाता है।

श्रुति अचिन्त्यभेदाभेद और शक्ति-परिणाम-सिद्धान्तसे परिपूर्ण

गौड़ीयजनोंका अचिन्त्यभेदाभेद दर्शन तथा गौड़ीय-दर्शनका शक्तिपरिणामवाद श्रुतियोंके अनेकानेक मन्त्रोंमें अनुस्यूत है।

"सर्वं खल्विदं ब्रह्म।" (छा॰ उ॰ ३/१४/१)[१], "आत्मैवेदं सर्वमिति।" (छा॰ उ॰ ७/२५/२)[२], "सदेव सौम्येदमग्र आसीद् एकमेवाद्वितीयम्।" (छा॰ उ॰ ६/२/१)[३], "एवं स देवो भगवान् वरेण्यो योनिस्वभावानधितिष्ठत्येकः।" (श्वे॰ उ॰ ५/४)[४] इत्यादि बहुत-सी अभेद-पक्षीय श्रुतियाँ प्राप्त होती है। पुनः "ॐ ब्रह्मविद्याप्नोति परम्।" (तै॰ ब्र॰ २/१)[५], "महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति।" (कठ॰ उ॰ १/२/२२)[६], "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। यो वेद निहितंगुहायां परमे व्योमन्। सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता॥" (तै॰ ब्र॰ २/१ अनु॰)[७], "यस्मात् परं नापरमस्ति किञ्चिद्", "यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्।" "तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्।" (श्वे॰ उ॰ ३/९)[८], "प्रधान-क्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः।" (श्वे॰ उ॰ ६/१६)[९], "तस्यैष आत्मा

---

[१] यह समस्त जगत् निश्चय ही ब्रह्म है।

[२] यह दीखनेवाला सभी कुछ आत्मा है।

[३] हे सौम्य! पहले यह जगत् एक अद्वितीय सत्-स्वरूपमें वर्त्तमान था तथा यह विश्व सृष्टिके पूर्व एक, अद्वितीय, सत्-वस्तुमात्र था।

[४] जिस प्रकार यह सूर्य एक जगह स्थित होकर भी समस्त दिशाओंको प्रकाशित करते हैं, उसी प्रकार समस्त देवताओंके भी परमदेव स्वयं भगवान् समस्त कारणोंके कारण-स्वरूप होकर भी निर्विकार स्वभावमें अधिष्ठित हैं एवं वे ही एकमात्र वरणीय और उपास्य हैं।

[५] ब्रह्मविद पुरुष परब्रह्मको प्राप्त होते हैं।

[६] धीर और विद्वान पुरुष आत्माको शरीरके आवरणमें स्थित देखकर भी उस आत्माको महान् और सर्वव्यापी जानकर तनिक भी शोक नहीं करते।

[७] ब्रह्म—सत्य, ज्ञान और अनन्त-स्वरूप हैं। जो उन परव्योम स्थित ब्रह्मको प्राणियोंके हृदयरूप गुफामें विराजमान जानता है, वह उस अन्तर्यामी सर्वज्ञ ब्रह्मके साथ समस्त कामनाओंकी सिद्धि प्राप्त कर लेता है।

[८] जिनसे श्रेष्ठ दूसरा कुछ भी नहीं है, जिनसे बढ़कर कोई भी न हो। जो न तो अधिक सूक्ष्म हैं और न अधिक बृहत् है, जो अकेले ही वृक्षकी भाँति निश्चल होकर ज्योतिर्मय मण्डलमें स्थित हैं, उन्हीं एक परमपुरुषमें यह सम्पूर्ण जगत् परिपूर्ण है।

[९] प्रधानके अधीश्वर, क्षेत्रज्ञके पति और समस्त गुणोंके ईश्वर त्रिगुणोंसे अतीत हैं।

विवृणुते तनुं स्वाम्।" (कठ॰ उ॰ २/२३)[१], "तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्।" (श्वे॰ उ॰ ३/१९)[२], "यथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात्।" (ईश॰ ८ म॰)[३], "नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद् यक्षमिति।" (के॰ उ॰ ३/६)[४], "असद्वा इदमग्र-आसीत्। ततो वै सदजायत। तदात्मानं स्वयं अकुरुत। तस्मात् तत् सुकृतमुच्यत इति।" (तै॰ २/७)[५], "नित्यो नित्यानाम्।" (कठ॰ उ॰ २/१३, श्वे॰ उ॰ ६/१३)[६], "सर्वं ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात्।" (मा॰ उ॰ २)[७], "अयं आत्मा सर्वेषां भूतानां मधु।" (बृ॰ उ॰ २/५/१४)[८] इत्यादि असंख्य वेद-वचनोंके द्वारा नित्यभेद सिद्ध होता है। नित्यभेद—सत्य है, नित्य अभेद भी—सत्य है। युगपत् (एकसाथ) दोनों तत्त्वोंके सत्य होनेके कारण भेद और अभेद—दोनोंमें निष्ठासम्पन्न बहुत-सी श्रुतियाँ विद्यमान हैं। यह युगपत् भेदाभेद अचिन्त्य अर्थात् मानव-चिन्तासे अतीत है। अतएव इसपर वितर्क करनेसे प्रमाद उपस्थित होता है।

---

[१] उनके निकट ही वे परमात्मा अपनी तनुको विशेष प्रकारसे प्रकाश करते हैं।

[२] ब्रह्मविद् पण्डित पुरुष उन्हें ही आदि अर्थात् समस्त कारणोंका मूलकारण-स्वरूप महान पुरुष जानकर उनका कीर्त्तन करते हैं।

[३] उन्होंने स्वयं अचिन्त्यशक्ति द्वारा दूसरे-दूसरे नित्य पदार्थोंको उनके विशेष-विशेष गुणोंके साथ अलग-अलग रखा है।

[४] अग्निदेव देवताओंसे बोले—मैं तो भलीभाँति नहीं जान सका कि यह यक्ष कौन है?

[५] पहले यह जगत् एकमात्र ब्रह्म-स्वरूपमें अव्यक्त था, वही (अव्यक्त) ब्रह्मसे व्यक्त हुआ है। ब्रह्मने अपनेको पुरुष रूपमें प्रकाशित किया, इसीलिए उस पुरुष रूपको 'सुकृति' कहा गया है।

[६] जो समस्त नित्य-वस्तुओंमें परम नित्य अर्थात् श्रेष्ठ नित्य वस्तु हैं।

[७] यह सब कुछ अवर-ब्रह्म अर्थात् ब्रह्मशक्तिसे उत्पन्न तत्त्व विशेष है। आत्म-स्वरूप कृष्ण ही परमब्रह्म हैं। वे ही चारपदवाले अर्थात् एक होकर भी अपनी अचिन्त्यशक्ति द्वारा नित्य चार स्वरूपोंमें महा-रसमय हैं।

[८] श्रीकृष्णको लक्ष्य करके उनके गुणोंके वर्णन द्वारा वेद गौण रूपमें कहते हैं कि श्रीकृष्ण ही सम्पूर्ण जीवों/प्राणियोंके लिए मधु हैं।

अचिन्त्य-विषयमें तर्कके प्रयोग करनेके अवसरका अभाव

हमारी बुद्धिका परिमाण बहुत कम है अर्थात् यह बहुत सीमित है, इसलिए [असीमित] वेदोंके अर्थोंका असम्मान करना उचित नहीं है।

"नैषा तर्केण मतिरापनेया।" (कठ॰ उ॰ १/२/९)[१], "नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च।" (के॰ उ॰ २/२)[२]।

वेदसंहिताकी स्तव-स्तुतियाँ भी विष्णुतत्त्वमें ही पर्यवसित

'यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति॥'
(मुण्डक ३/३)

अर्थात् जिस समय जीव ईश्वरका दर्शन करता है, उस समय वह विद्वान पराविद्या प्राप्तकर पुण्य और पापोंका त्यागकर प्रकृतिसे निर्मित इस देह और प्रकृतिके सम्बन्धसे रहित होकर परम समताको प्राप्त होता है। उस परमात्माका वर्ण सुवर्णके समान मनोहर है, वे सर्वान्तर्यामी प्रभु जगत्के कर्त्ता और ब्रह्माजीके भी जनक हैं।

इस श्रुतिमन्त्रने गौड़ीय-दर्शनके विचारको ही बतलाया है। उपनिषद उच्चस्वरसे भगवद्भक्तिकी बात ही कहते हैं। वेदके संहिता-भागमें स्तव-स्तुति आदिमें देवताओंके अधिकारके विषयमें जो समस्त बातें उल्लिखित हैं, वह भी मूल रूपमें विष्णुतत्त्वमें ही पर्यवसित होती है।

---

[१] अर्थात् नचिकेता! तुमने आत्मतत्त्व-सम्बन्धी जो बुद्धि प्राप्त की है, उसे तर्क द्वारा नष्ट करना उचित नहीं है।

[२] अर्थात् मैं ऐसा नहीं समझता कि मैं ब्रह्मको भलीभाँति जान गया हूँ। (मैं उन्हें जानता नहीं—ऐसी बात नहीं और उन्हें मैं जानता हूँ—ऐसी बात भी नहीं है। अर्थात् हममें जो उन्हें जानते हैं, वे ही उन्हें जानते हैं।)

'येऽप्यन्यदेवताभक्त यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥'
(गीता ९/२३)

[अर्थात् श्रीविष्णुके अतिरिक्त अन्य देवताओंकी पूजा कर्मका ही अङ्ग विशेष है। यही स्वयं-भगवान् श्रीकृष्ण अपने भक्त और सखा अर्जुनको लक्ष्यकर सब जीवोंको उपदेश दे रहे हैं]— हे कौन्तेय! जो सकाम भक्त स्वतन्त्र भावसे अन्य देवताओंकी उपासना करते हैं, वे अविधिपूर्वक मेरी ही उपासना करते हैं। 'अविधि' का तात्पर्य यही है कि ऐसी उपासनाके द्वारा भगवत्प्राप्तिरूप नित्य फल नहीं मिलता, इसलिए वह उपासना अनित्य कर्मकाण्डके अन्तर्गत तुच्छ फलको देनेवाली है।

वेदान्तका अकृत्रिम–भाष्य श्रीमद्भागवत ही गौड़ीय–दर्शनका मूल और सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ

पञ्चरात्र और श्रीमद्भागवतमें गौड़ीय–दर्शनके अनेक विषय विवेचित हुए हैं। श्रीमद्भागवत कितना श्रेष्ठ दार्शनिक महाग्रन्थ हैं, मानवजाति उसे अभी तक भी हृदयङ्गम नहीं कर पायीं। श्रीमन् महाप्रभु और उनके पार्षद गोस्वामिपादगण यदि श्रीमद्भागवतको गौड़ीय–दर्शनका मूलग्रन्थ कहकर नहीं बतलाते, तब शायद आज श्रीमद्भागवतके नाम तकको भी बहुत कम लोग ही जानते। दुःखका विषय है कि गौड़ीय–दर्शनका यह मूल ग्रन्थ वर्त्तमान समयमें जीविका–अर्जन करनेका यन्त्र बन गया है। कोई–कोई तो इस गौड़ीय–दार्शनिक महाग्रन्थमें निर्विशेषवादके विचारको भी खींचा–तानी करके स्थापित करनेके लिए चेष्टा कर रहे हैं—ऐसे लोग वैष्णवाचार्य श्रीधरस्वामिपादको मायावादी बतला रहे हैं। इसीलिए श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

'गिरयो मुमुचूस्तोयं क्वचिन्न मुमुचूः शिवम्।
यथा ज्ञानामृतं काले ज्ञानिनो ददते न वा।'
(श्रीमद्भा॰ १०/२०/३६)

ज्ञानीगण जिस प्रकार योग्य शिष्यको भगवत्-तत्त्वोपदेशरूपी ज्ञानामृत दान करते हैं, अयोग्य शिष्यको उसका दान नहीं करते। उसी प्रकार पर्वतगण भी किसी स्थानपर मङ्गलजनक जलराशि वर्षण करते हैं और किसी स्थानपर बिल्कुल भी वर्षण नहीं करते।

तथा श्रीचैतन्यभागवतमें कहा गया है—

'शरतेर मेघ जेन परभाग्ये वर्षे।
सर्वत्र ना करे वृष्टि, कोथाउ वरिषे॥'

(चै॰ भा॰ म॰ १०/१४१)

शरत्-कालमें एक ही समय सर्वत्र वर्षा नहीं होती। कहाँ वर्षा होती हैं और कहाँ वर्षा नहीं होती, वह सबकुछ उन सभी स्थानोंके अपने-अपने भाग्यपर निर्भर करता है।

दिग्दर्शन-मात्र

एक दिनमें कुछेक घण्टोंकी वक्तृतामें गौड़ीय-दर्शनकी सब बातोंका दिग्दर्शन भी नहीं होता है। कुछ बातें कही गयी है और बहुत-सी रह गयी हैं। आज बहुत रात हो गयी है। मैंने आप लोगोंका बहुत समय लिया है; आपलोग दयामय हैं, इसलिए ही आपने मेरे प्रति इतनी सौजन्यता (उदारता) दिखालायी है। मुझे क्षमा कीजियेगा।

'वाञ्छाकल्पतरुभ्यश्च कृपासिन्धुभ्य एव च।
पतितानां पावनेभ्यो वैष्णवेभ्यो नमो नमः॥'

॥गौड़ीय-दर्शनपर ॐ विष्णुपाद श्रीश्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी 'प्रभुपाद' की वक्तृता समाप्त॥